द्वैमासिक • (संयुक्तांक) जुलाई–दिसम्बर 1998 • बीस रुपये

दायित्वबोध

उन बुद्धिजीवियों की पत्रिका जिन्होंने जनता का पक्ष चुना है

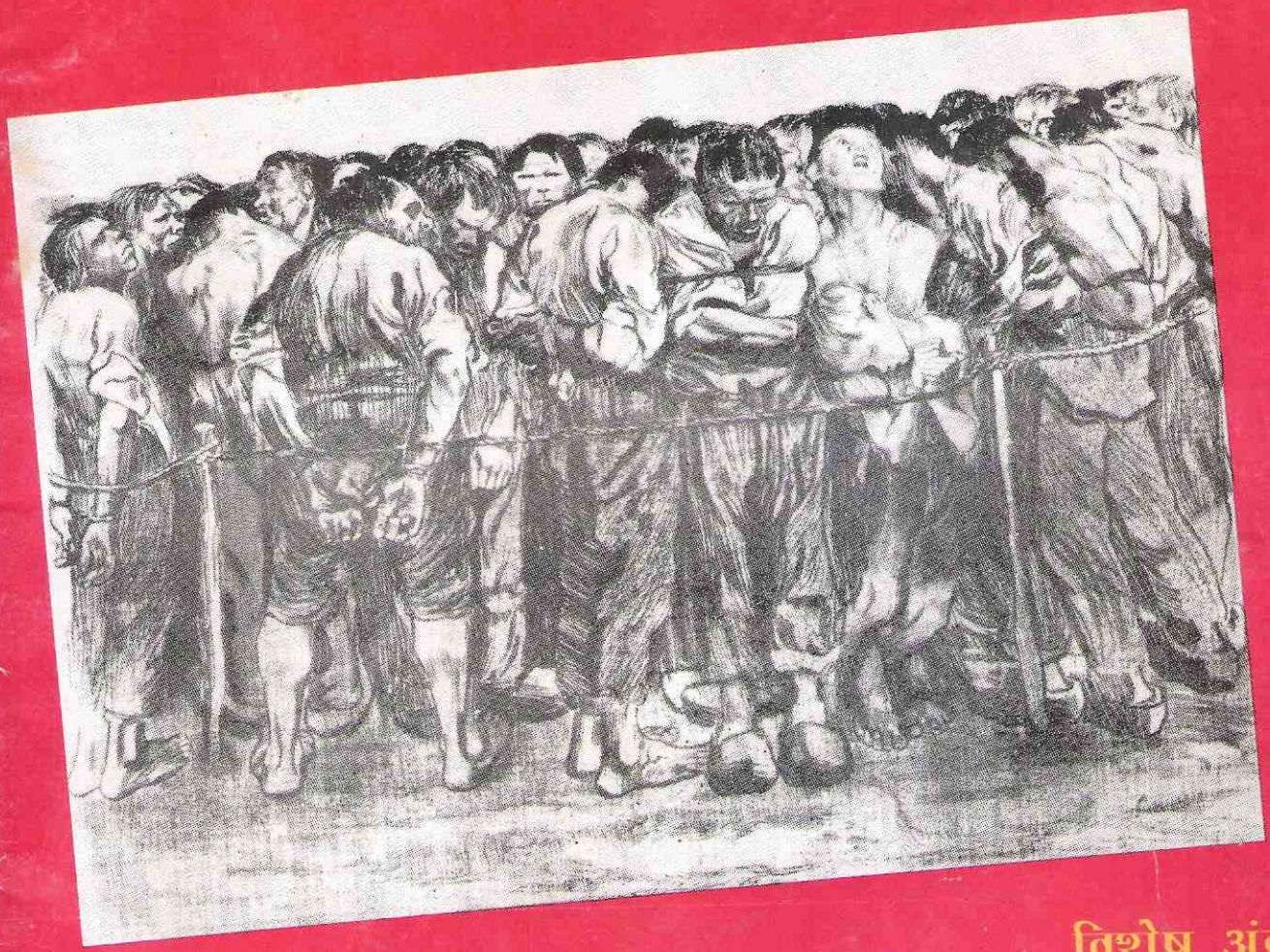

विशेष अंक

•

फासीवादी उभार और उसकी चुनौतियां
उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त पर एजाज़ अहमद का लेख
माओकालीन चीन में मार्क्सवाद
'राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त'
भूमण्डलीकरण और सामाजिक विज्ञान
गैरसरकारी संगठनों का असली मिशन
हेनरिक हाइने, फ्रेलिग्राथ, वेयेर्थ और पाब्लो नेरूदा की कविताएं

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, लोर्का और पॉल रॉबसन की जन्मशताब्दी पर
विशेष सामग्री

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट और उनका थिएटर
पीकस्किल में पॉल रॉबसन
लोर्का की कविताएं
लोर्का पर नेरूदा की कविता
रॉबसन पर नाज़िम हिकमत की कविता

वयोवृद्ध लेकिन
चिरयुवा कवि
बाबा नागार्जुन
नहीं रहे।
लम्बी बीमारी के बाद
गत 5 नवम्बर को
उनका देहान्त हो गया।
बाबा नागार्जुन ने
कभी पुस्तकों से अंटी
पड़ी, तमगों से
सजी-धजी दीवारों
वाले शीशमहलों के
अन्त:पुरों में
कविता-कामिनी के
साथ विहार नहीं
किया। उनकी कविता
हमेशा जनसंघर्षों की
और आम जिन्दगी के
सुखों-दुखों की
साक्षी रही।
सच्चे जनकवि को
हमारा
शतश: प्रणाम!

'आह्वान कैम्पस टाइम्स' के खिलाफ फासिस्ट कार्रवाई का व्यापक विरोध

हिन्दूवादी साम्प्रदायिक फासिस्ट भाजपा सरकार अब अपने असली रंग में आ रही है। खासकर उन सभी राज्यों में, जहां भाजपा सत्ता में है, और सर्वोपरि तौर पर उत्तर प्रदेश में, पूरी तरह से पुलिस राज चल रहा है। और अब अघोषित आपातकाल जैसी स्थिति बनाई जा रही है। 'आधी रात की दस्तकों' का दौर शुरू हो चुका है। विरोध में उठने वाली हर आवाज को कुचल डालने की कोशिशें शुरू हो चुकी हैं।

इसी सिलसिले की एक कड़ी है **गत 24 नवम्बर की रात में, छात्रों-युवाओं के पाक्षिक अखबार 'आह्वान कैम्पस टाइम्स' के गोरखपुर स्थित सम्पादकीय कार्यालय पर पुलिस दल के छापे और तलाशी की घटना!**

उस दिन करीब डेढ़ बजे रात में, बिना नाम-पट्टिका और बिना वर्दी के एक कथित सी.ओ. के नेतृत्व में आधा दर्जन पुलिस के सिपाही **'आह्वान' कार्यालय** पहुंचे और बलपूर्वक गेट खुलवाकर उन्होंने कार्यालय की, और उसी भवन में स्थित **'नारी सभा'** की स्थानीय संयोजिका **सुश्री मीनाक्षी** के आवास की तलाशी ली। गौरतलब है कि उनके साथ न तो महिला पुलिस की कोई कांस्टेबिल थी, न ही उन्होंने 'सर्च वारण्ट' ही दिखाये। उन्होंने कार्यालय में मौजूद आह्वान के स्थानीय प्रतिनिधि **राकेश** से और **सुश्री मीनाक्षी** से अभद्रतापूर्वक उनके परिवारों और उनकी गतिविधियों के बारे में पूछताछ की। उन्होंने राकेश और मीनाक्षी के बार-बार आग्रह के बावजूद यह इजाजत नहीं दी कि वे अपने वकील या किसी मित्र को बुला सकें। **पुलिस दल की यह कार्रवाई न केवल नागरिक अधिकार पर खुला डाका है, बल्कि उच्चतम न्यायालय के निर्देशों की भी खुली अवहेलना है। यह पुलिस का आतंक राज्य कायम करने और विरोधियों की जुबान पर ताला लगा देने की फासिस्ट कुचेष्टा है।**

जो भी फासिस्टों की सोच और कार्य-प्रणाली से परिचित हैं उनके लिए न तो अली मियां के घर पर आधी रात का छापा आश्चर्य की बात है न ही आह्वान कार्यालय पर। साम्प्रदायिक जुनून पैदा करने तथा अल्पसंख्यकों को और मेहनतकश अवाम की राजनीति और संस्कृति की बात करने वालों को आतंकित करने के लिए अपनाये जाने वाले हथकण्डों में से ही यह एक है। उल्लेखनीय है कि **करीब दो वर्ष पहले भी साम्प्रदायिक फासिस्टों की शह पर कुछ अराजक तत्वों ने आह्वान कार्यालय पर हमला करके तोड़फोड़ की थी और फिर प्रशासन ने तीन महिला साथियों सहित 'आह्वान' से सम्बद्ध कार्यकर्ताओं पर ही डकैती आदि के कई फर्जी मुकदमे कायम कर दिये थे। बाबरी मस्जिद प्रकरण से ही जुड़े एक मुकदमे में जस्टिस तिलहरी के निर्णय पर टिप्पणी करने के आरोप में 'आह्वान' पर न्यायालय की अवमानना का जो मुकदमा अभी भी चल रहा है, वह विहिप से जुड़े कुछ वकीलों द्वारा दायर किया गया था।**

यहां यह उल्लेख भी जरूरी है कि 'आह्वान' के नवम्बर '98 के संयुक्तांक के विशेष अग्रलेख में उ.प्र. में भाजपा शासन के पुलिसिया आतंक राज्य पर विस्तृत तथ्य देने के साथ ही शिक्षा के फासिस्टीकरण और आर्थिक नीतियों के मामले में वाजपेयी सरकार के दुरंगेपन पर टिप्पणियां प्रकाशित हुई थीं। **यह अंक जिस रात छपकर कार्यालय पर पहुंचा, उसी रात पुलिस दल ने वहां छापा मारा। स्पष्ट है कि भाजपाई जहां तमाम बड़े अखबारों एवं समाचार एजेंसियों का दबाव एवं संघी घुसपैठ के द्वारा फासिस्टीकरण कर रही है, वहीं वह जनता के वैकल्पिक मीडिया को कुचल देना चाहती है।**

इस फासिस्ट कार्रवाई का तत्काल देशभर में व्यापक विरोध हुआ। गोरखपुर, लखनऊ, पटना व दिल्ली में बड़े पैमाने पर हस्ताक्षर अभियान चलाकर केन्द्रीय गृहमंत्री, मुख्यमंत्री व राज्यपाल को ज्ञापन भेजे गये। अनेक लेखकों, संस्कृतिकर्मियों, पत्रकारों, लोकअधिकार कर्मियों व सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ताओं ने बैठकें करके इस घटना की भर्त्सना की। दिल्ली में विभिन्न जनसंगठनों, लेखकों-संस्कृतिकर्मियों ने जन्तर-मन्तर पर इसके विरुद्ध साझा प्रदर्शन किया। देश के विभिन्न हिस्सों से केन्द्रीय गृहमंत्री व उ.प्र. के राज्यपाल तथा मुख्यमंत्री को विरोध पत्र व ज्ञापन भेजने का सिलसिला जारी है।

आह्वान कार्यालय पर पुलिस छापा एक छोटी घटना हो सकती है **पर यह एक महत्वपूर्ण पूर्व-संकेत है। हमें सजग हो जाना चाहिए।** हमें एकजुट प्रतिरोध की तैयारी तत्काल शुरू कर देना चाहिए। क्रान्तिकारी वामपंथी, प्रगतिशील और जनवादी धारा को एकजुट होकर फासिस्ट आक्रमणों-षड्यंत्रों का मुकाबला करना होगा। बुनियादी सामाजिक बदलाव की लम्बी लड़ाई के दौरान उसूली मतभेदों को उस मुश्तरका दुश्मन के खिलाफ संघर्ष में आड़े नहीं आने देना चाहिए, जो प्रगतिशील-जनवादी-वामपंथी धारा पर हमलों की शुरुआत कर चुका है। इन हमलों का साझा प्रतिकार किया जाना चाहिए और फौरी कार्रवाइयों से आगे एक सिलसिले की शुरुआत के बारे में सोचा जाना चाहिए। नागरिक अधिकार आन्दोलन को व्यापक, सशक्त जनाधार पर पुनर्संगठित करना और दमन-उत्पीड़न विरोधी साझा मोर्चे का निर्माण आज समय का तकाजा है।

बर्टोल्ट ब्रेष्ट, लोर्का और पॉल रॉबसन की जन्मशताब्दी के अवसर पर

विशेष सामग्री

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट और उनका थियेटर

•

लोर्का की चार कविताएं

•

फेदेरिको गार्सिया लोर्का की शान में गीत—*पाब्लो नेरूदा*

•

लोगों की ताकत लोर्का के शब्दों को जिन्दा रखेगी

•

पीकस्किल में पॉल रॉबसन

•

पॉल रॉबसन पर *नाज़िम हिकमत* की कविता

उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त की
एक मार्क्सवादी विवेचना

उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त और ''उत्तर''-अवस्था

• ***एजाज़ अहमद*** **15**

बूढ़े पूंजीवाद के शरीर के दाग-धब्बों को छोटे-मोटे परिवर्तनों के मेकअप से ढंककर जनता का ध्यान भटकाने वाली रणनीति के सबसे बड़े क्रियान्वयक अंग के रूप में एन.जी.ओ. की बड़ी भूमिका है। ...अकादमिक और राजनीतिक घेरों में भी ऐसे कई संगठन रैडिकल संगठन समझे जाते हैं। ...सचेतन इतिहास निर्माण की प्रक्रिया में इतनी बड़ी भूमिका रखने वाली एन.जी.ओ. लहर के उद्भव, विकास और प्रभावों को जानना-समझना किसी भी सामाजिक सरोकार वाले व्यक्ति अथवा संस्था के लिए जरूरी है।

गैरसरकारी संगठनों का असली मिशन **71**

भूमण्डलीकरण के दौर में भारतीय अकादमीशियनों-बुद्धिजीवियों के बड़े हिस्से ने पश्चिमी साम्राज्यवाद के वर्चस्व को स्वीकार कर लिया है तथा इसमें विदेशी फण्डिंग एजेंसियों ने अहम भूमिका निभाई है।

सी.पी. भाम्बरी का लेख

भूमण्डलीकरण और सामाजिक विज्ञान **29**

माओ त्से-तुङ के जन्मदिवस (26 दिसम्बर) के अवसर पर

जार्ज थामसन का लेख

माओकालीन चीन में मार्क्सवाद **33**

इस अंक में

आपकी बात.....4

अपनी बात

भारत में फासीवादी उभार और उसकी चुनौतियां.....7

विशेष लेख

उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त और ''उत्तर''-अवस्था—*एजाज़ अहमद*...15

भूमण्डलीकरण और सामाजिक विज्ञान—*सी.पी. भाम्बरी*.....29

कम्युनिस्ट घोषणापत्र के प्रकाशन की 150वीं वर्षगांठ के अवसर पर

हेनरिख हाइने, फर्डिनांड फ्रेलिग्राथ और जार्ज वेयेर्थ की कविताएं.....26

अक्टूबर क्रान्ति की वर्षगांठ के अवसर पर

7 नवम्बर : जीतों के दिन की शान में गीत—*पाब्लो नेरूदा*.....28

माओ त्से-तुङ के जन्मदिवस (26 दिसम्बर) के अवसर पर

माओकालीन चीन में मार्क्सवाद—*जार्ज थामसन*.....33

बर्टोल्ट ब्रेष्ट, लोर्का और पॉल रॉबसन की जन्मशताब्दी के अवसर पर विशेष खण्ड

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट और उनका थियेटर—*राजीव शाह*.....38

लोर्का की चार कविताएं.....43

लोगों की ताकत लोर्का के शब्दों को जिन्दा रखेगी—*ओडिसिस इलाइटिस*.....44

फेदेरिको गार्सिया लोर्का की शान में गीत—*पाब्लो नेरूदा*.....45

पीकस्किल में पॉल रॉबसन—*चार्ल्स एच. राइट*.....47

पॉल रॉबसन से—*नाजिम हिकमत*.....52

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (पंद्रहवीं-सोलहवीं किस्त)

ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा किफायती परिणामों के साथ समाजवादी उत्पादन का विकास करो.....53

समाजवादी अर्थव्यवस्था नियोजित अर्थव्यवस्था होती है.....62

पुस्तक चर्चा

गैरसरकारी संगठनों का असली मिशन—*भूपेश कुमार सिंह*.....71

कविता / **बहस** —*सुधांशु कुमार मालवीय*.....85

''प्रत्येक कलाकार, प्रत्येक वैज्ञानिक, प्रत्येक लेखक को अब यह तय करना होगा कि वह कहां खड़ा है। संघर्ष से ऊपर, ओलम्पियन ऊंचाइयों को खड़ा होने की कोई जगह नहीं होती। कोई तटस्थ प्रेक्षक नहीं होता... युद्ध का मोर्चा हर जगह है। सुरक्षित आश्रय के रूप में कोई पृष्ठ भाग नहीं है... कलाकार को पक्ष चुनना ही होगा। स्वतंत्रता के लिए संघर्ष या फिर गुलामी— उसे किसी एक को चुनना ही होगा। मैंने अपना चुनाव कर लिया है। मेरे पास और कोई विकल्प नहीं है।''

पॉल रॉबसन

24 जुलाई 1937

(स्पेन में फासिस्ट ताकतों के विरुद्ध जारी संघर्ष के दौरान आह्वान)

दायित्वबोध

वर्ष-5 अंक 5-6 वर्ष-6 अंक 1; जुलाई-दिसम्बर 1998

प्रधान सम्पादक : **विश्वनाथ मिश्र**
सहायक सम्पादक : **अरविन्द सिंह**
संयुक्त सम्पादक : **ओमप्रकाश सिन्हा**
सत्यम वर्मा
आवरण : **रामबाबू**

सम्पादकीय कार्यालय :
3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010 फोन : 393896

एक प्रति : 15 रुपये
वार्षिक : 90 रुपये
आजीवन : 1000 रुपये

●

सम्पादन एवं संचालन
पूर्णत: अवैतनिक एवं अव्यावसायिक

कम्पोजिंग : **कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010**

स्वत्वाधिकारी विश्वनाथ मिश्र द्वारा एम. डब्ल्यू, 6/221, बेनीगंज, गोरखपुर से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा आफसेट प्रेस, नखास, गोरखपुर से मुद्रित

आपकी बात

दायित्वबोध की नूतनतम प्रति मिली—और यह पत्र मैं शशिप्रकाश की इस भविष्यवाणी से शुरू करना चाहता हूं : हमारा सबसे कमउम्र कामरेड/... अपनी पीढ़ी के प्रति/ नया भरोसा पैदा कर रहा है।... वे ही जीतेंगे/हारी हुई लड़ाइयां/ वे ही चुकाएंगे/पूर्वजों की हार का बदला।

इतना ही कह सकता हूं—आमीन, तथास्तु, 73 वर्ष की आयु में इसके अलावा कहने/करने को रह ही क्या गया है! समय-चक्र तो घूमता ही रहता है।

इधर आपकी सुसम्पादित पत्रिका पढ़ते रहते समय कुछ ''अपराध-बोध'' अनुभव करता आया हूं। मोबिलिटी सीमित होने के कारण सम्पर्क -संसर्ग का लोक सिकुड़ता जा रहा है।...

इसी नूतन प्रति में दो-तीन प्रसंगों ने मुझे रोमांचित कर दिया। एक तो भगतसिंह का लाला फीरोजचंद को कुछ पुस्तकें भिजवाने का संदेश (पृष्ठ 15)। लालाजी ने 1966 में बहुभाषी समाचार एजेंसी 'समाचार भारती' लांच की थी, जिसमें उनके पहले सिपहसालारों में मैं भी था। उन्हीं दिनों व्यवसायगत कारणों से हुई भेंट के समय वी.के. कृष्णमेनन ने उनके वामपंथी होने का इशारा किया था।... पर भगतसिंह-प्रसंग की तो कल्पना भी नहीं की थी तब मैंने। वरना उनके संस्मरण उस जमाने में अंकित करा लिये होते। इसी अंक में लेव मित्रोखिन की पुस्तक की चर्चा की है आपने। यहां भारत में, और मास्को में भी वह मेरे अंतरंग मित्रों में से रहे हैं। पिछले दिनों पता चला कि उन्होंने 'हनुमान चालीसा' का रूसी में अनुवाद किया है। देखते-देखते परिस्थितियों ने लोगों को क्या से क्या बना दिया है, इसकी चर्चा करना अप्रासंगिक होगा।

भगतसिंह के अनन्य मित्र और क्रान्तिकारी विजय कुमार सिन्हा की पत्रिका में चर्चा (पृ. 14) ने मुझे काफी उद्वेलित-प्रेरित किया। मास्को में मेरे घर सपत्नीक ठहरे थे, जब उन्हें और निकट से जानने का सुयोग मिला था। उससे पूर्व हुई भेंट की चर्चा मैं 'पहल' में कर चुका हूं।

आप लोगों का साहित्य मिलता रहता है।... मेरी वह मायूसी मिट गई है जिससे मैंने अपने को 1989 के अन्त में स्वदेश लौटने पर खुद को घिरे पाया था। क्यों नहीं आप कुछ प्रतिभाशाली युवा कथाकारों को पकड़ते। 'पहल' के गतांक में ''उसके चावल'' पर नजर डाल लें तो आपको मेरा आशय स्पष्ट हो जायेगा। कितना जोश, आशावादिता, संघर्षशीलता की छवि देखने को मिलती है, उस कहानी में। यह केवल परामर्श मात्र है, अन्यथा न लें।

कामना करता हूं, आप लोग वहां सफल हो पायेंगे, जहां मेरी पीढ़ी अपने दोमुंहेपन के कारण विफल रही और ''न घर के न घाट के'' वाली स्थिति में पाती है अपने को।

यह तेवर बनाये रखें परन्तु अधिक से अधिक को साथ ले चलने का प्रयास करें। ज्यादा से ज्यादा को लामबन्द करें, यह परामर्श मैं मार्क्स, एंगेल्स तथा लेनिन की प्राय: समस्त कृतियों के हिन्दी अनुवाद से प्राप्त अपने थोड़े-बहुत ज्ञान के आधार पर कह रहा हूं।

—**सुरेन्द्र कुमार**, 208, समाचार अपार्टमेण्ट्स, मयूर विहार, फेज-I एक्स., दिल्ली-92

'दायित्वबोध' का मार्च-जून '98 अंक मिल गया कुछ देर से। लेकिन इस अंक में बड़ी महत्वपूर्ण सामग्री आपने दी है। भगतसिंह की जेल नोटबुक सम्बन्धी मित्रोखिन का लेख अंक की उपलब्धि है—लेकिन आलोक रंजन के जेल नोटबुक सम्बन्धी लेख में भावना उचित होते हुए भी तथ्यात्मक भूलें हैं व भगतसिंह के परिवार सम्बन्धी अनावश्यक आक्रोश भी इसमें प्रकट हुआ है। यद्यपि देशभक्तों या देश के महान लेखकों/विचारकों के परिवारों से उस देश की जनता को काफी अपेक्षाएं रहती हैं क्योंकि जनता उन परिवारों का सम्मान उन महान व्यक्तियों से जोड़ कर करती है लेकिन यह जरूरी नहीं कि किसी महान व्यक्ति के परिवार जन उतने ही बलिदानी या उच्च आदर्शों से प्रेरित हो, जितना कि हो चुका कोई महापुरुष।

भगतसिंह की जेल नोटबुक को मैंने पहली बार संभवत: तीन मूर्ति भवन, नई दिल्ली में 1984 में देखा, तभी इसके विस्तृत नोट्स भी लिये व इस नोटबुक पर आधारित लेख 'जतन' (रोहतक) व दैनिक ट्रिब्यून (चंडीगढ़) आदि में 23 मार्च के अंकों पर छपते भी रहे।

जगमोहन सिंह को न केवल इस नोटबुक के होने का ही पता था, उनके पास इस नोटबुक की अपने हाथ से की हुई प्रतिलिपि भी थी जो उन्होंने अपने मामा कुलबीर सिंह के पास उपलब्ध नोटबुक से की थी। राजकमल प्रकाशन से इस नोटबुक के प्रकाशन की बात भी हो गई थी, जो किन्हीं कारणों से व्यवहार रूप में न आ सकी। कुलबीर सिंह परिवार ने ही इस नोटबुक की फोटोप्रति तीन मूर्ति को सौंपी थी, इस शर्त के साथ कि वे इसे प्रकाशित नहीं कर सकेंगे। यही वजह थी कि तीन मूर्ति से इस नोटबुक की फोटोप्रति करवाने

की अनुमति नहीं थी सिर्फ वहीं बैठकर इसे देखा जा सकता था।

वैसे जगमोहन सिंह व उनकी मां बीवी अमरकौर ने भगतसिंह के विचारों के प्रसार में व जनतांत्रिक आन्दोलन में अपनी भागीदारी से भगतसिंह के आदर्शों से जुड़े रहने की कोशिश की है। भगतसिंह के परिवार के बाकी सदस्य उस हद तक जनतांत्रिक आंदोलन से नहीं जुड़े। भगतसिंह का अधिकांश परिवार उत्तर प्रदेश में ही बसा था। दो भाई तराई क्षेत्र में बसे थे, जिनमें से एक का देहांत हो गया है। कुलतार सिंह सहारनपुर में बसे हैं।

कुलबीर सिंह संभवत: यह चाहते रहे होंगे कि सरकार भगतसिंह की जेल नोटबुक उनसे लेकर छापे। लेकिन सरकार को इसमें क्या दिलचस्पी हो सकती थी? 1989 में 'भगतसिंह और उनके साथियों के दस्तावेज' के दूसरे संस्करण की हमारी भूमिका में भी इसी विडम्बना की ओर ही संकेत था।

खैर, 'भगतसिंह की जेल नोटबुक हिन्दी में छप कर यदि क्रान्तिकारियों/देशभक्तों/सामाजिक कार्यकर्ताओं/इतिहासकारों में एक विचारोत्तेजक चर्चा का आगाज़ कर सके तो बहुत बड़ी बात होगी। यह भूमिका अंग्रेजी में छपी नोटबुक नहीं निभा पायी इसके लिए आलोक रंजन किसके ऊपर नाराज होंगे?

—**चमनलाल**, पटियाला

'दायित्वबोध' मार्च-जून '98 मिला। इस अंक में शहीद भगतसिंह की जेल नोटबुक के हिन्दी में प्रकाशन की घोषणा उन सभी के लिए स्वागतयोग्य कदम है जिन्हें भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास में दिलचस्पी है। आश्चर्य है कि शहीद के भांजे प्रो. जगमोहन सिंह के दस्तावेजी संकलन में इसका अभाव रहा। यह हैरत की बात है कि भगतसिंह की इस जेल नोटबुक पर पहला शोध निबन्ध रूसी इतिहासकार मित्रोखिन द्वारा लिखा गया। यह हमारे भीतर इतिहास चेतना की अनुपस्थिति का एक बड़ा उदाहरण है। हम इतिहास नहीं, पुराण लिखते हैं। मन्मथनाथ, रहबर, शिव वर्मा और कुछ दूसरे लोगों के प्रयासों के बाद भी लगता है कि अभी भगतसिंह की फुल लेन्थ की जीवनी लिखी नहीं जा सकी है। क्रान्तिकारी विजय कुमार सिन्हा इस काम को कर सकते थे पर कर नहीं पाये। यह मेरे लिए भी खोज का विषय है कि जेल जीवन में भगतसिंह ने ''गदर पार्टी'' के बहुत से सदस्यों के साथ सम्पर्क स्थापित किया था जो प्रथम विश्व युद्ध के दिनों से जेल में बन्द थे। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की समस्याओं पर उन्होंने ''गदर पार्टी'' वालों से क्या लम्बी बातचीत की, यह कौतूहल का विषय है। ''गदर पार्टी'' के सदस्यों के साथ उनके सम्बन्धों के बार में आप जी. देवल के लेख को 'दायित्वबोध' में छापिए। लगता है कि श्री मित्रोखिन अपने शोध-निबन्ध में भगतसिंह की जद्दोजहद और क्रान्तिकारी चेतना को ठीक से देख सके हैं। अब जबकि भगतसिंह की लगभग सभी दस्तावेजी चीजें प्रकाश में आ चुकी हैं तो यह भी सवाल बचा रहता है कि कम्युनिस्ट पार्टियां भगतसिंह को अपना नायक क्यों नहीं मान रहीं। 1931 में अपनी फांसी के वक्त समाजवाद की लड़ाई को वे जिस मुकाम पर छोड़ गये, वहां से उसे आगे बढ़ाने की ऐतिहासिक जिम्मेदारी वाम खेमे की थी। क्या आप कह सकते हैं कि वह दायित्व पूरा हुआ है। आज भगतसिंह को पगड़ी पहनाने का क्रम चालू है। दक्षिणपंथी ताकतें योजनाबद्ध तरीके से क्रान्तिकारियों की ऐतिहासिक विरासत पर कब्जा कर रही हैं और बायें बाजू के लोग चुप हैं। शहीद रामप्रसाद बिस्मिल पर प्रवीण प्रकाशन से चार खण्डों में रज्जू भैया की भूमिका के साथ जो अनर्गल पुस्तक आई है, उसका जवाब अभी तक प्रगतिशील खेमा नहीं दे पाया है।

मैं चाहता हूं कि आप गदर पार्टी की ऐतिहासिक भूमिका पर भी कभी कुछ छापें। एक अर्द्धसरकारी अमरीकन रिपोर्ट में यह माना गया कि गदर पार्टी का मन्तव्य भारत में जनवादी राज्य स्थापित करना था लेकिन गदर पार्टी से सम्बन्धित सभी मुकदमों के फैसले में इसके पंचायती राज्य के उद्देश्य तथा गैर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को छिपाने का प्रयत्न किया गया है।

भगतसिंह के भाइयों-भतीजों की बातें जाने दीजिए। उनकी बहन बीबी अमरकौर जरूर अन्त समय तक क्रान्तिकारी चेतना से लैस रहीं। उन्होंने 8 अप्रैल 1983 के दिन लोकसभा में पर्चे फेंके और मरने से पूर्व अपनी वसीयत भी क्रान्तिकारी की तरह लिखी जो पढ़ने योग्य है।

यह भी खबर है कि अमरीका में गदर पार्टी का भवन अब स्मारक के रूप में तब्दील हो गया है और वहां प्रतिवर्ष भगतसिंह व शहीद करतार सिंह सराबा को याद किया जाता है।

—**सुधीर विद्यार्थी**, पीलीभीत

विपर्यय के वर्तमान ऐतिहासिक अंधेरे दौर में जनचेतना के प्रकाश स्तम्भ की तरह अकेले दृढ़तापूर्वक खड़ा पा रहा हूं 'दायित्वबोध' को। नयी क्रान्ति-पूर्व सांस्कृतिक क्रान्ति के ऐतिहासिक दायित्व के निर्वहन की दिशा में आप सभी की भूमिका प्रशंसनीय है।

—**विद्यानन्द सिंह**, वार्ड नं. 4, सुपौल, बिहार

पहली बार स्थानीय बुक स्टाल पर आपकी लोकप्रिय व जनपक्षीय पत्रिका 'दायित्वबोध' पर नजर पड़ी। मात्र शीर्षक देखकर ही मैंने नवम्बर '97-फरवरी 98 अंक खरीद लिया।

पत्रिका में सामग्रियों का चयन वाकई बेहतर, सामयिक और जनपक्षीय लगा। वस्तुत: 'दायित्वबोध' अपने नाम की सार्थकता के अनुरूप वर्तमान ऐतिहासिक कार्यभार का बोध सचेतन मजदूर वर्ग व जनपक्षधर क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों को कराने के महत्तर प्रयास में जुटा है, ऐसा प्रतीत होता है।

सम्पादकीय लेख में उठाये गये प्रश्न और परजीवी पूंजीवाद का विकल्प ढूंढ़ने का प्रयास वास्तव में काफी महत्वपूर्ण और सार्थक कदम है। वर्तमान संक्रमणकालीन दौर में, जबकि आर्थिक-तकनीकी साझा साम्राज्यवाद नये सिरे से विश्व के श्रमजीवी जनगण को गुलाम बनाये रखने और आर्थिक पुनर्विभाजन करने के लिए षडयंत्रकारी चाल चल रहा है—विश्व व्यापार संगठन, विश्वबैंक व मुद्राकोष की घृणित साजिश व सक्रियता इस दिशा में उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है, आर्थिक उदारीकरण, निजीकरण और अनियंत्रित अबाध मुक्त बाजार व्यवस्था के माध्यम से छद्मवेशी आधुनिक पूंजीवादी लुटेरे षडयंत्रकारी योजना को विश्व की जनता पर थोपने के लिए आमादा हैं, तो दूसरी ओर विश्व की सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति दरवाजे पर दस्तक दे रही है।

आज नयी समाजवादी क्रान्ति ही एकमात्र विकल्प है और विश्व की सभ्यता व संस्कृति के विकास व समृद्धि के लिए वर्तमान युग की अनिवार्य आवश्यकता भी। श्रमजीवी जनगण और क्रान्तिकारी आन्दोलनों से जुड़े बुद्धिजीवियों एवं संगठनों को समग्र विश्व दर्शन के आलोक में अपनी सोच को केन्द्रित करने तथा उन्हें अपने दायित्व का बोध कराने में यह पत्रिका मददगार सिद्ध होगी, ऐसा विश्वास है।

आशा है यह पत्रिका वैचारिक-सैद्धान्तिक संघर्ष की अनिवार्यता को प्रमुखता देगी तथा जनपक्ष के मजबूत मंच के रूप में दर्शन की दरिद्रता के शिकार बुद्धिजीवियों व नेतृत्व को नयी दिशा व वैज्ञानिक आयाम प्रस्तुत करने में कामयाब होगी। इसी कामना के साथ नवीनतम अंक की प्रतियों की प्रतीक्षा में।

—**बालगोविन्द सिंह**
1-ई, राजेन्द्रनगर, पटना-800016

आपकी वामपक्षी पत्रिका 'दायित्वबोध' पढ़ने के लिए गुरारू चीनी मिल के साथियों की मार्फत मिली। आज के इस घटाटोप वातावरण में तथा मार्क्सवाद एवं समाजवाद के ऊपर उछाले जा रहे

कीचड़ के समय इस तरह की धारदार पत्रिका पढ़ने के बाद हौसला बुलन्द हो जाता है। एक सबल हथियार के रूप में यह पत्रिका है, खासकर समाजवाद के खिलाफ विषवमन करने वालों के खिलाफ।

—रामचन्द्र चौधरी
ग्रा. नावाडीह, पो. आमझोर, रोहतास

दिल्ली में पुस्तक मेले के दौरान 'दायित्वबोध' की एक प्रति हासिल की। पत्रिका प्रगतिशील विचारों के लोगों को इकट्ठा करने और आशा व शक्ति का संचार करने का काम बखूबी कर रही है।

—डा. शशिकुमार
कम्प्यूटर साइंस विभाग, आई.आई.टी., दिल्ली

'दायित्वबोध' के मार्च-जून '98 अंक में प्रकाशित सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामग्री भगतसिंह पर है जिसे आपने पर्याप्त महत्व देकर प्रकाशित किया है। हिन्दी में प्रकाशित 'भगतसिंह तथा उनके साथियों के दस्तावेज' की अपर्याप्तता अब सामने आ जाएगी भगतसिंह की जेल नोटबुक के प्रकाशित हो जाने पर। आश्चर्य तो इस बात का है कि इतना महत्वपूर्ण ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित पड़ा हुआ है। आपने आलोक रंजन की टिप्पणी के साथ एल. वी. मित्रोखिन का लेख प्रकाशित कर काफी महत्व का काम किया है। मित्रोखिन के लेख से भगतसिंह के बारे में जो सूचनाएं मिलीं वे काफी महत्व की हैं। अब तो जेल नोटबुक उपयोग भगतसिंह का नये सिरे से मूल्यांकन करने में किया जा सकेगा। आपने इसी इंक में ग्राम्शी के लेख 'बुद्धिजीवी का निर्माण' का अनुवाद प्रकाशित किया है। आपको शायद पता हो ग्राम्शी के 'प्रिजन नोटबुक' से हिन्दी में पहली बार कुछ लेखों का मेरे द्वारा अनुवाद किया गया था, जो 'साहित्य, संस्कृति और विचारधारा' (1993) नामक पुस्तक में संकलित है। उसका अब दूसरा संस्करण भी आने वाला है। ग्राम्शी एक मार्क्सी चिन्तक के साथ-साथ एक क्रान्तिकारी लेखक और संघर्षशील पत्रकार भी थे। उनका मूल्यांकन इस रूप में आज अनिवार्य हो गया है। शशिप्रकाश की पच्चीस कविताएं छापकर भी आपने एक जरूरी काम किया है। उनकी कविताओं का अलग से संकलन भी प्रकाशित किया जाना चाहिए।

—रामनिहाल गुंजन, नया शीतल टोला, आरा

'दायित्वबोध' मार्च-जून'98 का अंक आद्योपांत पढ़ गया। सम्पादकीय में पूंजीवाद की पूंजीवादी समालोचना के निहितार्थ को समझने का मौका मिला। विश्व स्तर पर समाजवाद की धारा की पराजय के बाद तमाम बुर्जुआ-विचारक और समाज वैज्ञानिक लगातार इस तरह के दावे करते रहे हैं कि पूंजीवाद ही मानवता की यात्रा की अन्तिम मंजिल है और जनतंत्र ही समाज-व्यवस्था का एक आदर्श और व्यावहारिक माडल है। पर दावा खोखला और अव्यावहारिक ही साबित हुआ है। जार्ज सोरेस, जॉक अत्ताली, लेस्टर थरो और मार्क सामर जैसे अर्थशास्त्री पूंजीवादी असफलता को स्पष्ट करते हैं। विश्व पूंजीवाद के आगे घोर अंधेरा है।

वहीं, आलोक रंजन का लेख 'शहीदे-आज़म की जेल नोटबुक जो शहादत के तिरषठ वर्षों बाद छप सकी' भगतसिंह और मार्क्स चिंतन की संघर्षशीलता का उद्बोधक है। एल.वी. मित्रोखिन का भगतसिंह की जेल नोटबुक पर लेख एक दस्तावेज है। शशिप्रकाश की पच्चीस कविताएं हिन्दी कविता के रंगढंग, मिजाज़ और मुहावरों से अलग हटकर घनीभूत चिंताओं, उत्प्रेरणाओं और सरोकारों की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करती हैं। अन्तोनियो ग्राम्शी का लेख काफी प्रभावोत्पादक है। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं राष्ट्रीय कांग्रेस में प्रस्तुत रिपोर्ट ने सोवियत-संशोधनवाद और अमरीकी साम्राज्यवाद के विरुद्ध सावधान किया था परन्तु वर्तमान चीनी नीति किधर और कहां है? चिंतनीय है।

—कलाधर
सं. 'कला' नया टोला, लाइनबाजार, पूर्णियां

20वीं शताब्दी के आखिरी दौर तथा 21वीं शताब्दी के शुरुआती दौर के लिए प्रमुख वैचारिक, सांस्कृतिक और सृजनात्मक चैलेंजेज़ को आप अपना विषय बना रहे हैं, पत्रकारिता से जुड़े लोगों के लिए जाहिरन यह खुशी की बात है।

मैं इतना जरूर कहूंगा कि 'दायित्वबोध' को सामयिक मौलिक लेख, टिप्पणी, फीचर, रिपोर्ट प्रधान पत्रिका बनाने की कोशिश करें। 'दायित्वबोध' हमेशा से चंद खास लोगों की पसन्द रहा है, इसे आम आदमी से नाता जोड़ कर उसका अपना मार्गदर्शक बनना चाहिए।

—डा. राधामोहन श्रीवास्तव,
बड़हलगंज, गोरखपुर

'दायित्वबोध' पढ़कर लगा कि समाज में रहने वाले हर व्यक्ति को यह पत्रिका पढ़नी ही नहीं चाहिए बल्कि समाज में जो मूलभूत कमियां दिख रही हैं उसको दूर करने का प्रयास करना चाहिए। आज लोग तिरस्कारपूर्वक कहते हैं कि ''सब लेनिनवाद से प्रेरित वामपंथी विचार है।'' लेकिन एक बार जो लेनिन या वामपंथी विचारकों का गहराई से अध्ययन कर ले तो उसे इस बात का एहसास हो ही जायेगा कि समाज क्या है और समाज में रहने वाले के क्या कर्तव्य हैं।

संपादकीय पूंजीवाद के यथार्थ को समझने में मदद करता है। आज पूंजीवादी समस्या जितनी प्रबल होती जा रही है आम जन उससे अछूता नहीं है। लेकिन कई ऐसी बातें है जो जनता को मालूम ही नहीं है। वह तो बस प्रबुद्ध वर्ग की बातों को ही ध्यान में रखती है। उससे अपने से बड़ों पर विश्वास है लेकिन स्वयं अपने पर नहीं। यदि स्वयं अध्ययन कर ले तो कई बातों को समझ सकती है। सच तो यह है कि इन्सान को पढ़ने के बाद ही कुछ हाथ लगने वाला है। बिना पढ़े नहीं।

—कुमार पंकज
189, फतेहपुर बिहुवा,
इलाहाबाद-211002

लेखक प्रकाशक ध्यान दें

पुस्तक की संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए संकल्पित संस्था **अक्षरधाम** हरियाणा, पंजाब, राजस्थान तथा हिमाचल प्रदेश में नियमित रूप से पुस्तक मेलों का आयोजन कर रही है। एक मेले में 45 से 70 हजार की संख्या में पुस्तकें होती हैं। **अक्षरधाम** संस्था की पूरी कोशिश रहती है कि जन-जन तक पुस्तकें पहुंचाई जाएं। संस्था देश भर के प्रकाशकों/लेखकों की पुस्तकें जो जनहित उद्देश्य को लेकर प्रकाशित की गई हैं, उनकी नियमित खरीद कर रही है। वे सभी प्रकाशक/लेखक जो अपनी पुस्तकें जन-जन तक पहुंचाना चाहते हों, वे अपनी पुस्तकों के बारे में विस्तृत जानकारी तथा पुस्तक की नमूना प्रति भी साथ भेजें। स्वीकृत होने पर उन पुस्तकों की 50 प्रतियों की खरीद की जाएगी।

अध्यक्ष
अक्षरधाम
डी.सी. निवास के सामने, करनाल रोड, कैथल-136027 (हरियाणा)

अपनी बात

भारत में फासीवादी उभार और उसकी चुनौतियां

संघ परिवार और उसके चुनावी राजनीतिक दस्ते—भाजपा के फासीवाद पर आज एक बार फिर चर्चा जरूरी है। जरूरी इसलिए भी है कि नवम्बर 1998 के विधानसभा चुनावों में दिल्ली, राजस्थान और मध्य प्रदेश में भाजपा की करारी हार के बाद राजनीतिक पण्डितगण मध्यावधि चुनाव और केन्द्र में भाजपा की गठबंधन सरकार के पतन के आसार देख रहे हैं और वामपंथी-जनवादी धारा के बुद्धिजीवियों का बड़ा हिस्सा ''चुनावों में जनतंत्र और धर्मनिरपेक्षता की जीत और फासीवाद को जनता द्वारा खारिज कर देने'' की बातें कर रहा है। भाकपा और माकपा जैसी चुनावी वामपंथी पार्टियां भी ऐसा ही कह रही हैं। विडम्बना तो यह है कि ''तीसरी ताकत का'' खेल बिगड़ने के बाद अब भाकपा ही नहीं, माकपा भी भाजपा से निपटने के लिए कांग्रेस को सरकार बनाने के लिए समर्थन देने को तैयार है। **फासीवाद-विरोधी संयुक्त मोर्चे की जो नई ''थीसिस'' प्रतिपादित हुई है, उसमें जनता और वर्ग-संघर्ष के उपादान सिरे से गायब हैं, कार्यनीति सिद्धान्त के आसन पर विराजमान है,चुनावी समीकरण बुनियादी निर्धारक तत्व हैं और बुर्जुआ संसदीय जनवाद ही वास्तविक जनवाद है।** चलिए, भाजपाई फासीवाद ने अंतत: संशोधनवादी माकपा को भी कांग्रेस के पीछे गोलबंद होने की उसी नीति तक पहुंचा दिया जहां डांगे की रहनुमाई में भाकपा दशकों पहले ही पहुंची हुई थी।

वामपंथी बुद्धिजीवी-अकादमीशियन भी राहत की सांस ले रहे हैं। सरकारी संस्थानों-अकादमियों तथा पूरे शिक्षा-तंत्र के साम्प्रदायिकीकरण की प्रक्रिया भी रुकने की संभावनाएं उन्हें दीखने लगी हैं और इस बात की भी उम्मीदें जाग उठी हैं कि अकादमिक जगत की सुविधाएं, शोधवृत्तियां, प्रोजेक्ट्स आदि फिर से उन्हें नसीब होने लगेंगे। कुछ लोग यह भी सोचने लगे हैं कि भारत में ''जनवादी परम्पराएं'' इतनी मजबूत है कि यहां साम्प्रदायिक फासीवाद टिक ही नहीं सकता। उनका मानना है कि भाजपा पूंजीवादी संसदीय चुनाव के खेल के नियमों को स्वीकार कर मुख्य धारा की दक्षिणपंथी पार्टी (फासीवादी नहीं) बनती जा रही है तथा उग्र हिन्दुत्व के कार्ड की सीमाओं को वह जान चुकी है। कुछ यह मान रहे हैं कि ''नरमपंथी'' वाजपेयी की रहनुमाई में भाजपा संघ परिवार और उसके घोर हिन्दुत्ववादी विहिप, बजरंग दल जैसे घटकों से दूरी ले रही है तथा आडवाणी का भी हृदय-परिवर्तन हो रहा है!

हमारे खयाल से ये सारी धारणाएं सिरे से गलत हैं जो जटिल राजनीतिक (और सामाजिक-आर्थिक) स्थितियों तथा उनके साथ सामाजिक शक्तियों की बहुसंस्तरीय अन्तर्क्रियाओं को न समझ पाने के कारण बनी हैं। यदि एक वैज्ञानिक दृष्टि व पद्धति न अपनाई जाये तो प्रतीतिगत यथार्थ को भेदकर सारभूत यथार्थ तक पहुंचना संभव नहीं हो पाता। कोई भी राजनीतिक प्रवृत्ति या धारा हर देशकाल में ठोस परिस्थितियों से अन्तर्क्रिया करती हुई अपने बाह्य गुणधर्मों या अभिलाक्षणिकताओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाती है। फासीवाद के साथ भी यही चीज लागू होती है और इसी नाते आज का भारतीय फासीवाद—संघ परिवार और उसकी संसदीय राजनीतिक शाखा भाजपा का फासीवाद अपने मूल तत्व की समानता के बावजूद बहुतेरी अभिलाक्षणिकताओं में इटली या जर्मनी के फासीवाद से भिन्न है (हालांकि बहुतेरी अभिलाक्षणिकताओं में आश्चर्यजनक और स्पष्ट समानता भी है)।

इतिहास की मूलत: समान चरित्र वाली परिघटनाओं के बीच सादृश्य-निरूपण या समान्तरता स्थापित करने की कोशिशें विमर्श को प्राय: एक विडम्बनापूर्ण दुश्चक्र में उलझा देती हैं। आज के फासीवाद की चर्चा करते हुए जब नात्सी या इतावली फासीवादी अनुभवों को निरपेक्ष मानक बनाया जाने लगता है, तो **उदय प्रकाश** की कविता '**तानाशाह**' की ये पंक्तियां याद आने लगती हैं :

वह अभी तक सोचता है
कि तानाशाह बिल्कुल वैसा ही या
फिर उससे मिलता-जुलता ही होगा

यानी मूंछ तितलीकट, नाक के नीचे
बिल्ले-तमगे और
भीड़ को सम्मोहित करने की वाक्पटुता

जबकि अब होगा यह
कि वह पहले जैसा तो होगा नहीं
अगर उसने दुबारा पुरानी शक्ल और पुराने कपड़े में
आने की कोशिश की तो
वह मसखरा ही साबित होगा

भरी हो उसके दिल में कितनी ही घृणा
दिमाग में कितने ही खतरनाक इरादे

कोई भी तानाशाह ऐसा तो होता नहीं
कि वह तुरंत पहचान लिया जाये
कि लोग फजीहत कर डालें उसकी
चिढ़ाएं, छुछुआएं
यहां तक कि मौके-बेमौके बच्चे तक पीट डालें
अब तो वह आयेगा तो उसे पहचानना भी मुश्किल होगा
... ...

यहां हम विस्तार से इस चर्चा में जाने की कोई आवश्यकता नहीं समझते कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का जन्म किस प्रकार दो विश्वयुद्धों के बीच के विश्वव्यापी आर्थिक संकट के दौर में हुआ था जब न सिर्फ यूरोप में, बल्कि लातिन अमेरिका से लेकर मध्यपूर्व और जापान तक में फासीवादी आन्दोलन विभिन्न रूपों में पैदा हो रहे थे। तबसे लेकर आजतक के इसके क्रियाकलापों और कार्यप्रणाली पर आज प्रचुर साहित्य मौजूद है। उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष में इसकी कभी कोई भूमिका नहीं रही। ''हिन्दू राष्ट्र'' के गौरव की स्थापना के नाम पर इसके द्वारा मध्यकालीन मुसलमान शासक आक्रान्ताओं के अत्याचारों को हिन्दू गौरव के पराभव और सांस्कृतिक पतन का मूल कारण बताना तथा पूरी मुसलमान आबादी और अन्य अल्पसंख्यक धार्मिक समूहों के विरुद्ध नफरत पैदा करना, मिथक को इतिहास बनाना और इतिहास का मिथकीकरण करना, राष्ट्रवाद को एक प्राचीन और धार्मिक आधार वाली परिघटना के रूप में प्रस्तुत करना, राष्ट्रवाद के ऐतिहासिक प्रवर्ग को महज एक सांस्कृतिक परिघटना बताना और सांस्कृतिक अधिरचना का मुख्य अवयव धर्म को मानना, एक गैरजनतांत्रिक चालकानुवर्ती सांगठनिक ढांचे के अन्तर्गत काम करना—यह सब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के फासिस्ट चरित्र का ही द्योतक रहा है।

फासीवाद-विरोधी संयुक्त मोर्चे की जो नई ''थीसिस'' प्रतिपादित हुई है, उसमें जनता और वर्ग-संघर्ष के उपादान सिरे से गायब हैं, कार्यनीति सिद्धान्त के आसन पर विराजमान है,चुनावी समीकरण बुनियादी निर्धारक तत्व हैं और बुर्जुआ संसदीय जनवाद ही वास्तविक जनवाद है।

संघ के पूरे ढांचे और कार्यप्रणाली पर निगाह डालने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि पूरा संघ परिवार महज एक साम्प्रदायिक कट्टरपंथी आंदोलन का वाहक नहीं, बल्कि क्लासिकी अर्थों मे एक फासिस्ट शक्ति है।

यहां हमारी चर्चा के केन्द्रबिन्दु यह हैं कि भारतीय फासीवाद की यह धारा '70 के दशक में जनसंघ और फिर भाजपा के जरिए भारतीय पूंजीवादी संसदीय राजनीति के नेपथ्य से निकलकर मुख्यमंच पर सक्रिय होने में क्यों सफल हुई, विगत दो दशकों के दौरान संघ परिवार के घटक संगठनों की संख्या 50 से भी अधिक क्यों हो गई और बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद ऐसी स्थितियां किस प्रकार उत्पन्न हुईं कि आज सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी भाजपा की गठबंधन सरकार केन्द्र में भी सत्तासीन है? इस चर्चा का लक्ष्य यह है कि **हम भारतीय फासीवाद की प्रतिक्रान्तिकारी संभावनाओं की पड़ताल करके क्रान्तिकारी वामपंथी, प्रगतिशील और जनवादी ताकतों के कार्यभारों पर विचार-विमर्श कर सकें।**

लेकिन जाहिरा तौर पर, इस चर्चा के पहले और इसके दौरान हम अपनी कुछ बुनियादी प्रस्थापनाओं की चर्चा करेंगे।

सबसे पहले, मार्क्सवादी अकादमीशियन **एजाज़ अहमद** के तमाम सामाजिक-जनवादी विभ्रमों-मतिभ्रमों के बावजूद, उनकी इस स्थापना से सहमति जाहिर करनी होगी कि किसी एक देश विशेष की ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, और यहां तक कि धार्मिक और नस्ली संरचना तक के हिसाब से फासीवाद

के ऐतिहासिक रूप में हमेशा ही बदलाव आ जाते हैं, यानी **हर देश को वैसा ही फासीवाद मिलता है जिसका वह हकदार होता है।**

यूरोप में जब फासीवाद का उदय और विस्तार हुआ था, उस समय उसके दो आधारभूत कारण थे और वे दोनों भी अन्तर्सम्बन्धित थे।

इनमें से पहला कारण था विश्व पूंजीवादी तंत्र का चौतरफा आर्थिक संकट और अंतरसाम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता का उग्र से उग्रतर होते जाना। उस समय पूंजी का अंतरराष्ट्रीय प्रवाह लगभग समाप्त हो गया था, स्वर्ण मापदण्ड लुप्त हो गया था और यूरोप अमेरिका और जापान के पूंजीपति वर्ग अपने संकट के ''राष्ट्रवादी'' समाधान की जरूरत शिद्दत के साथ महसूस कर रहे थे। इसके लिए संगठित मजदूर आंदोलन की कमर तोड़ना भी जरूरी था। इन परिस्थितियों में फासीवाद सर्वत्र पूंजी की एक जरूरत बन रहा था। अर्द्धऔद्योगीकृत, सापेक्षत: पिछड़े पूंजीवादी देश इटली और प्रथम विश्वयुद्ध के पराजित साम्राज्यवादी जर्मनी की विशेष स्थितियों में वहां पली-बढ़ी फासीवाद और नात्सीवाद की धाराएं सत्तासीन हो गईं, पर यूरोप के अन्य पूंजीवादी देशों और जापान से लेकर कतिपय उपनिवेशों तक में पनपे (जहां एक हद तक पूंजीवादी विकास हुआ था) फासीवादी आंदोलनों से गांठ जोड़कर बड़ी पूंजीवादी ताकतों ने उनका इस्तेमाल किया।

दूसरे-तीसरे दशक में फासीवादी उभार का एक दूसरा कारण सोवियत समाजवादी क्रान्ति के बाद पूरे विश्व स्तर पर मजदूर आंदोलन के भीतर आया क्रान्तिकारी उभार भी था, जिसके विरुद्ध प्रतिक्रिया की सभी शक्तियों को नग्नतम रूप में, घनीभूत और केन्द्रित करने की जरूरत विश्व पूंजीवाद की शीर्षस्थ ताकतें महसूस कर रही थीं।

इन दो कारणों या फासीवाद के दो पूर्वाधारों में से पहला आज एक बार फिर उपस्थित है, और अपने नये, अधिक उन्नत, अधिक सर्वग्रासी तथा अधिक संश्लिष्ट रूप में उपस्थित है। हमारा तात्पर्य विश्व पूंजीवादी तंत्र के असाध्य प्रतीत हो रहे आर्थिक संकट से है। 1970 के बाद से ही शुरू हुई मन्दी बीच-बीच के कुछ राहतों के बावजूद आज तक लगातार जारी है। आवर्ती चक्रीय क्रम में आने वाला पूंजीवादी संकट आज लगातार दबते उभड़ते मौजूद रहने वाले ढांचागत संकट में तबदील हो चुका है। वित्तीय पूंजी के भूमण्डलीकरण के नये साम्राज्यवादी दौर में पूंजी पहले हमेशा से अधिक एकीकृत विश्व बाजार में अतिलाभ निचोड़ने की प्रक्रिया में मेहनतकश आबादी को कंगाली और बेरोजगारी का शिकार बना रही है और इस प्रक्रिया में पुन: अपने पहले से ही मौजूद संकट को और अधिक गहरा बनाती जा रही है। ऐसी स्थिति में, परिस्थितियां अलग-अलग रूपों में पश्चिमी यूरोप से लेकर पूर्वी यूरोप के देशों तथा रूस और एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका के बहुतेरे देशों तक में फासीवादी ताकतों को खाद-पानी दे रही हैं और बड़े पूंजीपति वर्ग के ऊपर यह विवशतामूलक दबाव डाल रही हैं कि **वे या तो फासीवाद के इस्तेमाल के बारे में सोचें या फिर मुख्यधारा की पूंजीवादी पार्टियों को सीमित पैमाने पर फासीवादी तौर-तरीके अपनाने के लिए तैयार करें।** कहा जा सकता है कि **विश्व स्तर पर आर्थिक कट्टरपंथ या मूलतत्ववाद की वापसी ने राजनीतिक-सामाजिक स्तर पर भी कट्टरपंथ के लिए जमीन तैयार की है जिसकी तार्किक परिणति फासीवादी धाराओं के नये सिरे से फलने-फूलने के रूप में सामने आ रही है।**

''फासीवादी ताकतें सत्ता में रहें न रहें, राजनीतिक और सामाजिक तानेबाने में उनकी उपस्थिति कष्टदायक हृदय-कैंसर के रूप में बनी रहेगी क्योंकि जहां फासीवाद के सत्ता में बने रहने की आवश्यकता साम्राज्यवाद या बड़ी पूंजी की नजर से फिलवक्त अधिक नहीं है, वहीं ये लोग फासीवाद को सिर पर तलवार की तरह लटकाये रखना भी आवश्यक मानते हैं।''

फासीवाद के उद्भव और विस्तार का दूसरा कारक तत्व—सर्वहारा वर्ग का क्रान्तिकारी आंदोलन हालांकि आज लगभग अनुपस्थित है और इसकी मनोगत शक्तियां बिखरी हुई हैं, लेकिन भूमण्डलीकरण की नीतियां मेहनतकश वर्गों के विस्फोटों-विद्रोहों की जो जमीन तैयार कर रही हैं और जिसका सिलसिला यहां-वहां से शुरू भी हो रहा है, **उसके प्रति पूंजीपति वर्ग लगातार सचेत है और जंजीर से बंधे शिकारी कुत्ते की तरह वह फासीवाद को लगातार मजदूर वर्ग और व्यापक जनता के खिलाफ तैनात रखना चाहता है। शीतनिद्रा से जागकर जो फासीवाद अभी पत्थरों घासों के बीच रेंग रहा है और यदा-कदा सामने आ रहा है वह सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी आंदोलनों के पुनरुत्थान के साथ ही फन काढ़कर सामने खड़ा हो जाने के लिए तैयार है।**

यहां पर **कलेशी** और **प्रभात पटनायक** की इस स्थापना से हमारी भी सहमति है कि *''फासीवादी ताकतें सत्ता में रहें न रहें, राजनीतिक और सामाजिक तानेबाने में उनकी उपस्थिति कष्टदायक हृदय-कैंसर के रूप में बनी रहेगी क्योंकि जहां फासीवाद के सत्ता में बने रहने की आवश्यकता साम्राज्यवाद या बड़ी पूंजी की नजर से फिलवक्त अधिक नहीं है, वहीं ये लोग फासीवाद को सिर पर तलवार की तरह लटकाये रखना भी आवश्यक मानते हैं।''* दरअसल नई आर्थिक नीतियों के स्वाभाविक परिणाम के रूप में संभावित मेहनतकश अवाम की प्रतिरोधात्मक एकता को तोड़ने के लिए बड़े पूंजीपतियों के कुछ हिस्से **लगातार नियंत्रित फासीवाद की मौजूदगी के पक्षधर हैं।** भाजपा को आज हासिल बड़े पूंजीपति वर्ग के एक हिस्से के समर्थन को और साथ ही उसकी दुविधा को तथा पूंजीपति वर्ग की अन्य पार्टियों द्वारा अपना ली जाने वाली फासीवादी नीतियों को और अतीत में कांग्रेस द्वारा अपनाई गई **''हल्की केसरिया लाइन''** को भी इस संदर्भ में आसानी से समझा

जा सकता है।

यहां यह भी ध्यान रखना होगा कि साम्राज्यवाद और बड़े पूंजीपति वर्ग ने सचेतन तौर पर आज के फासीवाद को जन्म नहीं दिया है, बल्कि विश्व पूंजीवादी तंत्र और भारतीय पूंजीवाद के वर्तमान ठहराव और संकट की जमीन पर यह प्रवृत्ति स्वत:स्फूर्त ढंग से पैदा हुई है और अपनी गति से पली-बढ़ी है। पूंजीपति वर्ग ने अपने हितों के लिए सचेतन तौर पर, इसे बढ़ावा देने और इस्तेमाल करने का काम जरूर किया है और साथ ही इस प्रक्रिया से पैदा होने वाली उन प्रतिकूल स्थितियों का भी उसे सामना करना पड़ रहा है जो उसकी इच्छा से स्वतंत्र हैं। भारतीय पूंजीपति वर्ग द्वारा भाजपा को समर्थन देने और फिर दुविधाग्रस्त होकर कांग्रेस के पुनरुत्थान को आस भरी निगाहों से देखने के पीछे यह बुनियादी कारण है।

विश्व-ऐतिहासिक तौर पर फासीवाद की धारा के पुनरुत्थान को समझने के लिए विश्व पूंजीवाद के उस वर्तमान स्वरूप को और संकट को समझना जरूरी है, जिसकी चर्चा हमने **'दायित्वबोध'** के नवंबर' 95-फरवरी'96 के सम्पादकीय **'साम्राज्यवाद आज भी कागजी बाघ है'** में की है।

इस सदी की शुरुआत में वित्तीय पूंजी के वर्चस्व के साथ साम्राज्यवाद के दौर की शुरुआत हुई और एक महायुद्ध के बाद दस वर्ष का समय बीतते ही जब महामंदी का कहर बरपा हुआ, उसी दौरान फासीवाद ''वित्तीय पूंजी के सबसे ज्यादा प्रतिक्रियावादी तत्वों '' की ''खुली आतंकवादी तानाशाही'' के रूप में सामने आया। आज कहा जा सकता है कि भूमण्डलीकरण के दौर में आकर विश्व पूंजीवाद का अनुत्पादक, परभक्षी और मानवद्रोही चरित्र जितना नंगा हुआ है उतना पहले कभी नहीं हुआ था। आज पूंजी का जो विस्तार हो रहा है, वह वास्तविक उत्पादन से नहीं, बल्कि मुख्यत: सट्टेबाजी, ऋण देने, बीमा, मीडिया, सेवा आदि अनुत्पादक गतिविधियों के विस्तार से हो रहा है। 1980 के बाद के दस वर्षों में पहले की अपेक्षा प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में तीन गुने की वृद्धि हुई, पर यह निवेश वास्तविक उत्पादन के बजाय मुख्यत: सट्टेबाजी तथा अन्य अनुत्पादक गतिविधियों में हुआ। औद्योगिक पूंजीवाद ने जिस बुर्जुआ जनवाद के आधार को तैयार किया था, साम्राज्यवाद के दौर में परजीवी वित्तीय पूंजीवाद ने उसे लगातार क्षरित किया और बुर्जुवा अधिनायकत्व ज्यादा से ज्यादा प्रतिक्रियावादी नग्न निरंकुश रूपों में सामने आता गया, जिसका उग्रतम-प्रखरतम रूप फासीवाद था। आज पूरे विश्व पूंजीवादी तंत्र के परभक्षी, अनुत्पादक ढांचे के भीतर से बुर्जुआ जनवाद के रहे-सहे मूल्य भी अभूतपूर्व तेज गति से क्षरित हो रहे हैं और फासीवादी उभार की जमीन विविध रूपों में अलग-अलग देशों के भीतर तैयार हुई है। कुल मिलाकर, **आज पूरे विश्वतंत्र पर सट्टेबाजी पूंजी का आधिपत्य** (जिसे पॉल स्वीज़ी ''वित्तीय पूंजी की अंतिम विजय'' की संज्ञा देते हैं) **फासीवाद के वैश्विक स्तर पर नये उभार का वस्तुगत आधार तैयार कर रहा है।** यह फासीवाद अतीत के अनुभवों के चलते पूंजीपति वर्ग को दुविधा और संशय में भी डाले हुए है पर वह उसकी जरूरत भी महसूस कर रहा है, इस्तेमाल भी कर रहा है और इस इस्तेमाल से पैदा हुई समस्याओं और अन्तरविरोधों से भी जूझ रहा है।

पूंजीपति वर्ग जंजीर से बंधे शिकारी कुत्ते की तरह फासीवाद को लगातार मजदूर वर्ग और व्यापक जनता के खिलाफ तैनात रखना चाहता है। शीतनिद्रा से जागकर जो फासीवाद अभी पत्थरों घासों के बीच रेंग रहा है और यदा-कदा सामने आ रहा है वह सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी आंदोलनों के पुनरुत्थान के साथ ही फन काढ़कर सामने खड़ा हो जाने के लिए तैयार है।

भारत में एक फासिस्ट प्रवृत्ति के रूप में आर.एस.एस. की मौजूदगी इस सदी के तीसरे दशक से ही रही है और 1952 से ही पूंजीवादी संसदीय राजनीति के परिधि पर आर.एस.एस. की चुनावी राजनीतिक शाखा—**भारतीय जनसंघ** एक धुर-दक्षिणपंथी पार्टी के रूप में मौजूद रही। कांग्रेस के मुख्य विपक्षी की भूमिका कमोबेश आपातकाल तक, सामाजिक जनवादियों के रंग-बिरंगे भारतीय संस्करणों (समाजवादियों) और संसदीय वामपंथी दलों की ही रही।

साठ के दशक में लोहिया के गैरकांग्रेसवाद का नारा जब संविद सरकारों के रूप में फलीभूत हुआ तो जनसंघ की अस्पृश्यता भी बुर्जुआ हलकों में एक हद तक दूर हुई। 1977 में जनता पार्टी में शामिल होकर केन्द्र में सरकार में भागीदारी करने और भारतीय जनता पार्टी के रूप में फिर से जन्म लेने के बाद इसकी ताकत तेजी से बढ़ी। अस्सी के दशक में स्वयं कांग्रेस द्वारा पंजाब में ''हिन्दू कार्ड'' खेले जाने और फिर रामजन्मभूमि का ताला खुलवाने के बाद हिन्दुत्व के कार्ड के सुनियोजित, खुले और उग्र इस्तेमाल के लिए पूरा संघ परिवार सक्रिय हो उठा। आडवाणी की रथयात्रा से बाबरी मस्जिद के विध्वंस और फिर वहां से आज तक की यात्रा—ये इतिहास के जाने-माने पन्ने हैं।

इस पूरे इतिहास को सामने रखते हुए कुछ जरूरी बिन्दुओं को रेखांकित करना जरूरी है।

सबसे पहली बात यह कि **भारत में हिन्दुत्ववादी साम्प्रदायिक फासीवाद के प्रभाव-विस्तार का इतिहास भारतीय पूंजीवाद के पराभव और पतन के इतिहास का ही एक अध्याय है। भारत जैसे उत्तर-औपनिवेशिक, अर्द्ध-औद्योगिक, रुग्ण विकलांग पूंजीवादी समाज में बुर्जुआ जनवाद और धर्मनिरपेक्षता का आधार शुरू से ही कमजोर रहा है तथा सांस्कृतिक पुरातनपंथ,अतीतोन्मुखता, क्लासिकीवाद और सर्वसत्तावादी धार्मिक विचारों की एक सशक्त परम्परा समाज में मजबूत रूप में**

मौजूद रही है। ''सापेक्षिक आर्थिक विकास'' के ''सापेक्षिक शांतिपूर्ण'' दौर को पार करते ही फासीवादी ताकतों ने तेजी से पैर पसारने में इस वस्तुगत आधार से पूरी मदद पाई।

भारतीय पूंजीवाद पुनर्जागरण-प्रबोधन-जनवादी क्रान्ति की स्वाभाविक प्रक्रिया से गुजरकर, मध्यकालीन सामाजिक-आर्थिक संरचना के गर्भ से, अपनी नैसर्गिक आंतरिक गति से पैदा नहीं हुआ था। यह (और अन्य आधुनिक भारतीय वर्ग भी) पुराने समाज के पूर्ण ध्वंस के बाद ब्रिटिश उपनिवेशवादियों द्वारा आरोपित औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के गर्भ में पला-बढ़ा। इस नाते पूंजीवादी जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को क्रान्तिकारी ढंग से पूरा कर पाने में असमर्थ भारतीय पूंजीपति वर्ग ने 'समझौता-दबाव-समझौता' की रणनीति अपनाकर तथा अनुकूल विश्व-परिस्थितियों का लाभ उठाकर राजनीतिक सत्ता हासिल की। भारतीय जीवन में क्रान्तिकारी जनवादी संस्कृति की धारा जिस किसी हद तक भी प्रभावी हो सकी, उसमें मध्यवर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलनों की धारा और सर्वोपरि तौर पर सर्वहारा वर्ग के संघर्षों की ही भूमिका थी, चाहें उनकी वैचारिक-राजनीतिक कमजोरियां जो भी रही हों। राष्ट्रीय जागरण और आंदोलन की मुख्य धारा की अगुवाई कर रहे बुर्जुआ नेतृत्व ने अत्यंत सीमित पैमाने पर ही राष्ट्रीय जनवाद के मूल्यों का प्रचार-प्रसार किया। उसके विचारकों-सिद्धान्तकारों ने यूरोपीय नवजागरण के नायकों की तरह जुझारू भौतिकवादी दृष्टि नहीं अपनाई तथा तर्कपरकता और जनवादी मूल्यों के बजाय काफी हद तक अतीतोन्मुखी-पुनरुत्थानवादी दृष्टि से प्रेरणा ली। उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष के दौरान ''स्वर्णिम अतीत के गौरव की पुनर्स्थापना'' की भले ही सकारात्मक भूमिका रही हो, कालांतर में यह अपने विपरीत में बदल गया और अपना ''राष्ट्रीय इतिहास'' गढ़ते हुए फासीवादी ताकतों ने न केवल तिलक, दयानन्द, विवेकानन्द, बंकिमचन्द्र आदि को अपनी विचार-सरणि में अपना लिया, बल्कि आगे चलकर नेहरू के शुरुआती हवाई ''फेबियन समाजवादी आदर्शों'' और उनके 'पब्लिक सेक्टर' के राजकीय इजारेदार पूंजीवाद के ''समाजवादी'' चेहरे को ध्वस्त करने के लिए गांधी के धार्मिक प्रत्ययवाद, अतीतोन्मुखता और 'स्वदेशी' का भी भरपूर इस्तेमाल किया।

औपनिवेशिक काल में साम्प्रदायिकता की राजनीति उपनिवेशवादी कुचक्रों के तहत शुरू हुई थी और इसके लिए अंग्रेजों ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बुर्जुआ नेतृत्व का भरपूर इस्तेमाल करने के साथ ही भारतीय समाज में मौजूद धार्मिक मूल्यों-पूर्वाग्रहों का भी लाभ उठाया। धार्मिक कट्टरपंथी शक्तियां 1947 तक लगातार किसी न किसी रूप में साम्राज्यवाद का हितपोषक बनी रहीं और साम्प्रदायिक दंगों में इनकी भूमिका विनाशकारी रही।

राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद हमारे देश में जिस पूंजीवादी राज्य की स्थापना हुई, उसने न तो सामंती ढांचे व मूल्यों पर क्रान्तिकारी प्रहार किया, न ही साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद किया। मध्ययुगीन मूल्यों मान्यताओं को भारतीय पूंजीवाद ने अपना लिया। यही वह पृष्ठभूमि है जिसपर आधुनिक उपभोक्तावाद के साथ पिछड़ी संस्कृति, मुद्रा की शक्ति के साथ धर्म के उन्माद और बढ़ते आर्थिक ध्रुवीकरण के साथ हिन्दुत्ववादी फासीवाद के प्रभावी होने का वर्तमान भारतीय सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य निर्मित हुआ है।

राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्ति के तत्काल बाद, भारतीय पूंजीपति वर्ग की अपनी जरूरतों से नेहरू काल में जब पूंजी-संचय की समस्या दूर करने के लिए समाजवाद के नाम पर सार्वजनिक क्षेत्र का ढांचा खड़ा किया जा रहा था, उस समय अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद भारतीय पूंजीवाद गतिशील था और जनता भी अभी तमाम उम्मीदें लगाये हुए थी। आयात-प्रतिस्थापन की नीति अपनाकर भारतीय पूंजीवाद साम्राज्यवाद को लूट का बाजार उपलब्ध कराते हुए भी उसके आर्थिक दबावों का एक हद तक सामना कर रहा था। नेहरू की राजनीति भी इसी दौर के अनुरूप थी। हालांकि उनका ''समाजवादी'' तेवर एक दशक के भीतर खांटी बुर्जुआ तेवर में तबदील हो चुका था, फिर भी यह सच है कि वह अपनी जेहनियत से हिन्दूवादी नहीं बल्कि एक सामाजिक-जनवादी रंग-ढंग वाले तर्कवादी बुर्जुआ राजनीतिज्ञ थे। लेकिन नेहरू भी पूंजीवादी शासन व्यवस्था, दलीय ढांचे और चुनावी राजनीति के तर्क से स्वतंत्र नहीं हो सकते थे। इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि दिसम्बर 1949 में कांग्रेसी शासन के दौरान ही बाबरी मस्जिद में मूर्तियां रखी गईं थीं। तेलंगाना किसान संघर्ष का सैनिक दमन करने वाले नेहरू की सरकार ने ही प्रतिबंधित आर.एस.एस. को फिर से वैधता प्रदान की थी और उन्हीं के गृहमंत्री सरदार पटेल तथा कई अन्य कांग्रेसी क्षत्रप उस समय भी हिन्दूवादियों की भाषा बोल रहे थे जब नेहरू यहां तक कह रहे थे कि खतरा कम्युनिज्म से नहीं बल्कि राष्ट्रवाद के आवरण में प्रस्तुत बहुसंख्यक समुदाय की साम्प्रदायिकता से है। नेहरू का यह राजनीतिक स्वर उस दौर में भारतीय पूंजीवाद की जरूरत था। और यह भी भारतीय पूंजीवाद की जरूरतों के हिसाब से ही था कि भारतीय जनसंघ चुनावी राजनीति में भी लगभग अस्पृश्य सा रहा।

संसदीय वामपंथी दल वस्तुतः फासीवाद का मुकाबला करने के नाम पर टीन की तलवारें और गत्ते की ढालें लेकर चुनावी युद्ध का खेल ही खेल रहे हैं। संसदीय चुनावों में पराजित करके फासीवाद को फैसलाकुन शिकस्त कदापि नहीं दी जा सकती।...

गौरतलब बात है कि भारतीय पूंजीवाद के संकट के पहले दौर ने और मंहगाई-बेरोजगारी के दबाव ने जब एक ओर संशोधनवादी वामपंथ से विद्रोह करने वाली क्रान्तिकारी धारा के नये प्रस्थान-बिन्दु नक्सलबाड़ी को जन्म दिया, उसी समय गैरकांग्रेसवाद का नारा बुलन्द करते हुए सामाजिक जनवाद के प्रमुख भारतीय संस्करण

लोहियावादी समाजवाद ने सभी विपक्ष पार्टियों के साझा मोर्चे की नीति के तहत जनसंघ को स्वीकार्यता हासिल करने और जनाधार बढ़ाने में महत्वपूर्ण मदद पहुंचाई। इतिहास में बार-बार सामाजिक जनवाद ने फासीवाद को मदद पहुंचाई है और उसकी कतारों के पतित तत्व फासिस्ट जमातों में भी शामिल होते रहे हैं। व्यापक जनता को साथ लेने में अक्षम सामाजिक जनवाद ने यहां भी कांग्रेसी बुर्जुआ नेतृत्व को परास्त करने के लिए फासीवादी तत्वों को साथ लिया और उन्हें आगे बढ़ने में मदद पहुंचाई। पुन: 1974 में इंदिरा गांधी की निरंकुशशाही का विरोध करने के लिए अमेरिकी साम्राज्यवाद से अधिक नजदीकी रखने वाले दूसरे प्रमुख सामाजिक जनवादी जयप्रकाश नारायण ने भारतीय जनसंघ को भी साथ लिया। आपातकाल की तात्कालिक फासिस्ट निरंकुशता के विरोध के नाम पर बने जनता दल में शामिल होकर हिन्दूवादी फासिस्ट 1977 में केन्द्र की सत्ता में भागीदार बने और इससे बाहर निकलकर जब उन्होंने खुद को भारतीय जनता पार्टी के रूप में संगठित किया, तबतक उनका सामाजिक आधार पहले की अपेक्षा काफी विस्तारित हो चुका था।

1980 में इन्दिरा गांधी के पुन: सत्तासीन होने के बाद कांग्रेसी हुकूमत ने पहली बार ''समाजवादी पैटर्न'' को छोड़कर उदारीकरण की खुली दक्षिणपंथी नीतियां अपनाने की शुरुआत की। इस समय तक हरिजनों-अल्पसंख्यकों का परम्परागत कांग्रेसी वोट-बैंक टूटने लगा था क्योंकि इनका बहुलांश गरीब है और बढ़ती तबाही-बदहाली अब उन्हें कांग्रेस से फैसलाकुन तौर पर दूर ले जा रही थी। अस्सी के दशक में इन्दिरा गांधी और राजीव गांधी के शासनकाल में कांग्रेस ने पहले पंजाब में और फिर पूरे देश में हिन्दू कार्ड का प्रयोग करके नया चुनावी जनाधार तैयार करने की कोशिश की। रामजन्मभूमि का ताला खुलवाना इसी प्रयोग की एक कड़ी थी। जनता दल शासन के दौरान देवीलाल की कुलक राजनीति के किसानी जनाधार का मुकाबला करने के लिए ही मूलत: वी.पी. सिंह ने मि. क्लीन का चोगा उतारकर मण्डल-मसीहा का जोड़ा-जामा पहना था। आस्था के नाम पर भारतीय समाज की एक वास्तविक समस्या का गैरक्रान्तिकारी व्यवस्थाधर्मी समाधान प्रस्तुत करने की कोशिश ने सवर्ण उच्चवर्ग व मध्यवर्ग को दलितों-पिछड़ों के चुनावी गंठजोड़ की प्रतिक्रिया में संगठित किया, जिसके चलते भाजपा के वोट बैंक का तो विस्तार हुआ ही, उसके उग्र फासीवादी खेल का भी आधार तैयार हो गया।

...इन पार्टियों के एजेण्डे से चूंकि वर्ग-संघर्ष ही गायब है, इसलिए ये दिमित्रोफ की संयुक्त मोर्चे की थीसिस का फूहड़ प्रहसन प्रस्तुत करते हुए फासीवाद-विरोधी मोर्चे के नाम पर विभिन्न छिटकी हुई बुर्जुआ, सामाजिक-जनवादी, क्षेत्रीय बुर्जुआ और कुलकों की पार्टियों के साथ ''तीसरी ताकत'' खड़ा करने का खेल खेलती रही हैं और इसमें नाकाम होने के बाद अब यहां तक जा पहुंची हैं कि भाजपा के विरोध के लिए कांग्रेस से सरकार बनाने का आग्रह करने लगी हैं।

कुल मिलाकर, यह कि **विभिन्न दलों ने पूंजीवादी चुनावी राजनीति में वास्तविक मुद्दों के चुकते जाने और मूलभूत प्रश्नों पर पूंजीपति वर्ग की सभी पार्टियों की अवस्थितियों में समानता आते जाने के साथ ही साम्प्रदायिक, जातिगत और क्षेत्रीय मुद्दों काचुनावी राजनीति में खूब इस्तेमाल किया। हमारे समाज में क्षेत्रीयता, जातीयता, साम्प्रदायिकता—इन सभी आधारों पर जनवाद-विरोध के तत्व मौजूद हैं जो एक या दूसरे रूप में एक-दूसरे की हमेशा मदद करते हैं। चूंकि इनमें साम्प्रदायिक फासिस्ट ताकतें सर्वाधिक संगठित, व्यापक और पुराने आधार वाली तथा इजारेदार पूंजीवाद के मिजाज के ज्यादा अनुकूल हैं, अत: उन्होंने वोट बैंक की चुनावी राजनीति में इन मुद्दों का सर्वाधिक लाभ उठाया।**

दूसरी बात जिसे हमने रेखांकित किया है वह यह कि **इतिहास के निर्णायक मोड़ों पर सामाजिक जनवाद ने हमारे देश में भी फासीवाद को मदद पहुंचाई है और पतित सामाजिक जनवादी कतारें फासिस्ट कतारों में शामिल होती रही हैं।** याद रखना होगा कि आज भी पुराने ''मजदूर नेता'' जार्ज फर्नाण्डीज की **समता पार्टी** भाजपा गठबंधन सरकार की एक घटक है और जार्ज खुद उग्र अंधराष्ट्रवादी और क्षेत्रीय विस्तारवादी जहर उगलने में आडवाणी से भी आगे निकल गये हैं।

यहीं पर यह भी जरूरी है कि सामाजिक जनवाद की आधुनिक धारा—भाकपा और माकपा के संशोधनवाद की भूमिका की चर्चा भी कर ली जाये। संसदीय राजनीति करने वाले ये सभी वामपंथी दल वस्तुत: फासीवाद का मुकाबला करने के नाम पर टीन की तलवारें और गत्ते की ढालें लेकर चुनावी युद्ध का खेल ही खेल रहे हैं। **संसदीय चुनावों में पराजित करके फासीवाद को फैसलाकुन शिकस्त कदापि नहीं दी जा सकती। इन पार्टियों के एजेण्डे से चूंकि वर्ग-संघर्ष ही गायब है, इसलिए ये दिमित्रोफ की संयुक्त मोर्चे की थीसिस का फूहड़ प्रहसन प्रस्तुत करते हुए फासीवाद-विरोधी मोर्चे के नाम पर विभिन्न छिटकी हुई बुर्जुआ, सामाजिक-जनवादी, क्षेत्रीय बुर्जुआ और कुलकों की पार्टियों के साथ ''तीसरी ताकत'' खड़ा करने का खेल खेलती रही हैं और इसमें नाकाम होने के बाद अब यहां तक जा पहुंची हैं कि भाजपा के विरोध के लिए कांग्रेस से सरकार बनाने का आग्रह करने लगी हैं। वर्ग संघर्ष को तिलांजलि देकर फासीवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मजदूर वर्ग की संग्रामी गोलबन्दीकरके और जनता के अन्य वर्गों के साथ उनका संयुक्त मोर्चा बनाकर वर्ग संघर्ष में हरावल भूमिका निभा रही क्रान्तिकारी पार्टी ही परिस्थिति विशेष में फासीवाद के विरुद्ध कुछ बुर्जुआ और मध्यवर्गीय राजनीतिक शक्तियों के साथ भी कार्यनीतिगत संयुक्त मोर्चे का निर्माण कर सकती है।** चुनावी वामपंथी चुनावी खेल में जाति और धर्म के कार्डों का इस्तेमाल भले न करें, पर वर्ग संघर्ष को तिलांजलि

देकर ये पूरी तरह सामाजिक जनवाद की राजनीति कर रहे हैं और इनकी धर्मनिरपेक्षता नेहरूवादी धर्मनिरपेक्षता का पर्याय बनकर रह गई है। सामाजिक जनवाद की राजनीति अपने विभ्रमों, समझौतापरस्ती और संसदीय राजनीति तथा बुर्जुआ वैधिक दायरों के आग्रहों के चलते हर निर्णायक मोड़ पर जनता की लड़ाई को कमजोर करके वस्तुगत तौर पर शक्ति संतुलन का पलड़ा फासिस्टों के पक्ष में झुकाती रही हैं। इससे भी आगे बढ़कर ऐसी पार्टियां अपने पीछे चलने वाले मेहनतकशों को और खुद ही अपनी कतारों को फासिस्ट दमन के सामने निहत्था-निश्शस्त्र छोड़ देती रही हैं। इतिहास में यह बार-बार हुआ है और आगे भी होगा।

माकपा, भाकपा और इनकी कतारों में नई-नई शामिल विनोद मिश्र की भाकपा (मा-ले) तथा विभिन्न रंग-बिरंगी चुनावी वामपंथी पार्टियों की यही नियति है। पिछले एक दशक के दौरान इनका फासीवाद विरोध भी उतना ही रस्मी रहा है जितना इनका उदारीकरण-विरोध। महज कुछ औपचारिक रैलियों, प्रर्दशनों, सेमिनारों और सांस्कृतिक आयोजनों के अतिरिक्त इन्होंने कुछ भी नहीं किया। उदारीकरण निजीकरण की नीतियों के विरोध में इनकी रस्म अदायगी और अनुष्ठानिक विरोधों से तंग मजदूर वर्ग की राजनीतिक सक्रियता क्षरित और विघटित हो रही है और उसका एक बड़ा हिस्सा इंटक ही नहीं, बल्कि फासीवादी संघ परिवार के भारतीय मजदूर संघ के पीछे जा खड़ा हो रहा है।

एजाज अहमद और प्रभात पटनायक जैसे तमाम अकादमिक मार्क्सवादी अपने स्वाभाविक ''मध्यवर्गीय मार्क्सवाद'' या सामाजिक जनवादी रुझानों के चलते फासीवाद के तमाम गहन-गंभीर विश्लेषणों के बावजूद समाधान के तौर पर या तो नेहरूवादी धर्मनिरपेक्षता के केन्द्र में बहाल होने का खयाली पुलाव पकाते हैं, या धर्मनिरपेक्ष वामपंथी जनवादी ताकतों के चुनावी मोर्चे के रूप में तीसरी ताकत के खड़े होने का आग्रह प्रस्तुत करते हैं, या फिर अमूर्त भाषा में यह राय जाहिर करते हैं कि ''फासीवाद विरोधी संघर्ष अविभाज्य रूप से विकास के ऐसे वैकल्पिक सामाजिक-आर्थिक रास्तों का संघर्ष होना चाहिए जिससे जनवादी विचारों और ताने-बाने को बल मिलता हो।'' जो मतिभ्रमित बुद्धिजीवी भारतीय राजनीति में नेहरूकालीन कांग्रेसी धर्मनिरपेक्षता की वापसी का ख्वाब पाले हुए हैं, वे वस्तुतः इतिहास के गुजरे दिनों की वापसी की कामना करते हुए यह भूल जाते हैं कि उसी राजनीति का ही तार्किक विकास अस्सी के दौर की और फिर आज के दौर की कांग्रेसी राजनीति में हुआ है और यह कि नेहरू छाप धर्मनिरपेक्षता भी उसी तरह गये जमाने की चीज हो चुकी है जिस प्रकार नेहरू छाप समाजवाद।

वर्ग संघर्ष को तिलांजलि देकर फासीवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मजदूर वर्ग की संग्रामी गोलबन्दी करके और जनता के अन्य वर्गों के साथ उनका संयुक्त मोर्चा बनाकर वर्ग संघर्ष में हरावल भूमिका निभा रही क्रान्तिकारी पार्टी ही परिस्थितिविशेष में फासीवाद के विरुद्ध कुछ बुर्जुआ और मध्यवर्गीय राजनीतिक शक्तियों के साथ भी कार्यनीतिगत संयुक्त मोर्चे का निर्माण कर सकती है।

बुनियादी बात यह है (और इस हद तक प्रभात पटनायक का कहना ठीक है कि) सत्ता में रहने न रहने-दोनों ही स्थितियों में फासीवाद का नासूर भारतीय राजनीति और समाज में बना रहेगा। इसमें हम इतना जोड़ना चाहेंगे कि केवल वर्ग संघर्ष की राजनीति को आगे बढ़कर और जनता के सभी वर्गों का मोर्चा बनाकर क्रान्तिकारी संघर्ष को आगे बढ़ाने की प्रक्रिया में ही फासीवाद को परास्त और नेस्तनाबूद करने की लड़ाई लड़ी जा सकती है। मजदूर वर्ग के जुझारू संघर्ष ही फासीवाद-विरोधी संघर्ष की कुंजीभूत कड़ी है। उसके बिना संयुक्त मोर्चा की सारी बातें महज चुनावी मोर्चा की कसरतें बनकर रह जायेंगी।

जुलाई, 1923 में तीसरे इण्टरनेशनल की कार्यकारिणी की बैठक में फासीवाद पर बैठक में एक रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए क्लारा जेटकिन ने कहा था, ''*... ऐतिहासिक दृष्टि से, फासीवाद रूस में आरम्भ क्रान्ति को पूरा करने में असफलता के लिए पश्चिम और मध्य यूरोप के सर्वहारा को मिला दण्ड है।*'' बदले संदर्भों में किसी हद तक यह बात विश्व सर्वहारा क्रान्ति पर भी लागू होती है और भारतीय सर्वहारा क्रान्ति पर भी!

1956 में सोवियत संघ में पूंजीवादी पुनर्स्थापना के बाद सर्वहारा क्रान्ति का जो परचम चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति तक लहराता रहा, वह सिलसिला 1976 के बाद न तो चीन में जारी रह सका और न ही अन्य किसी देश में आगे डग भर सका। ऐतिहासिक दृष्टि से कहें तो विश्व सर्वहारा वर्ग को इसी असफलता का दण्ड फासीवाद के रूप में मिल रहा है। यह दण्ड इस रूप में भी मिल रहा है कि उन्नत बुर्जुआ जनवादी देशों में और उन देशों में भी जहां फासीवादी ताकतें उभार पर नहीं हैं, वहां भी मजदूर वर्ग को आर्थिक शोषण, मंहगाई और बेरोजगारी की मार के साथ ही राज्यसत्ता के बर्बर दमन-उत्पीड़न का सामना करना पड़ रहा है।

उपरोक्त सूत्रीकरण भारतीय सन्दर्भों में भी एकदम सटीक है। भारतीय सर्वहारा वर्ग द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति से लेकर 1950 तक कि संक्रमणकालीन अस्थिरता का लाभ उठाकर क्रान्ति सम्पन्न करने में विफल रहा और तेलंगाना की पराजय के बाद कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व ने घुटने टेककर संसदीय बुर्जुआ राजनीति की चौहद्दी को अंतिम तौर पर स्वीकार लिया। 1967 के नक्सलबाड़ी सशस्त्र किसान उभार ने जिन नई सम्भावनाओं को जन्म दिया, वे फलीभूत होने के बजाय निम्नपूंजीवादी दुस्साहसवाद का शिकार हो गई, क्रान्तिकारी ताकतें फूट दर फूट का शिकार होती चली गईं।

आज भी यह सच है कि देश भर में बिखरी हुई क्रान्तिकारी वाम की शक्तियां यदि एकजुट हों तो न सिर्फ फासीवादी ताकतों का मुकाबला कर सकती हैं, बल्कि राज्यसत्ता के समक्ष एक संभावनासम्पन्न चुनौती बनकर खड़ी हो सकती हैं। पर यह ''यदि'' एक बड़ा प्रश्नचिह्न है। क्रान्तिकारी

वामपंथी ताकतों को एकजुट होने की प्रक्रिया नये सिरे से शुरू करनी होगी। उन्हें अपने शिविर से उन तत्वों को गहन विचारधारात्मक संघर्ष और वर्ग-संघर्ष विकसित करने की व्यावहारिक कार्रवाइयों के दौरान अलग करना होगा, जो संशोधनवादी विचलन के शिकार हैं और बस मार्क्स से लेकर माओ तक का जाप करते हुए सामाजिक जनवादी आचरण कर रहे हैं। इसके साथ ही एक सच्ची लेनिनवादी पार्टी के निर्माण के, आज के दौर की क्रान्ति के कार्यक्रम पर गहन विचार-विमर्श करना होगा। इस पूरी प्रक्रिया के बारे में अपने विचार हम पहले इन्हीं पन्नों पर रख चुके हैं।

आज हमारा इस सन्दर्भ में जोर देकर यह कहना है **कि क्रान्तिकारी वाम के संगठनों को भारतीय क्रान्ति की रणनीति व आम रणकौशल के प्रशनों को हल करते हुए, उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के विरुद्ध, राज्यसत्ता के दमन-उत्पीड़न के विरुद्ध और फासीवादी ताकतों के विरुद्ध एकजुट प्रतिरोध के लिए तात्कालिक तौर पर साझा मोर्चे अवश्य संगठित करने चाहिए और मेहनतकश जनता को ठोस वर्गीय मांगों—आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई के साथ ही इन व्यापक मुद्दों पर भी गोलबन्द और संगठित करने की निरंतर कोशिशों में लग जाना चाहिए।** ट्रेड यूनियन आंदोलन के क्रान्तिकारी पुनरुत्थान तथा लोक अधिकार आंदोलन, सर्वहारा सांस्कृतिक आंदोलन, नारी आंदोलन और छात्र-युवा आंदोलन को व्यापक आधार पर, क्रान्तिकारी ढंग से मजदूर वर्ग के सहयोगी आंदोलनों के रूप में संगठित करते हुए हम फासीवाद के विरोध में जुझारू जन-एकजुटता की प्रक्रिया को अभी से शुरू कर सकते हैं और हमें ऐसा ही करना होगा। ■

दायित्वबोध यहां से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश • संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, **गोरखपुर** • जनचेतना, जाफरा बाजार, **गोरखपुर** • विजय इन्फार्मेशन सेंटर, कचहरी बस स्टैण्ड, **गोरखपुर** • राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, **लखनऊ** • जनचेतना स्टाल, निकट काफी हाउस, हजरतगंज, **लखनऊ** (शाम पांच से साढ़े सात) • ओ.पी. सिन्हा, 69, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, **लखनऊ** • विमल कुमार, बुक स्टाल, निकट नीलगिरि काम्प्लेक्स, इंदिरानगर, लखनऊ • इण्डियन बुक डिपो, अमीनाबाद, **लखनऊ** • विश्वनाथ मिश्र, चेतना कार्यालय, **बड़हलगंज**, **गोरखपुर** • शहीद पुस्तकालय, द्वारा, डा. दूधनाथ, **मर्यादपुर, मऊ** • मौर्या बुक स्टाल, सआदतपुरा (निकट रोडवेज), **मऊ** • प्रो. प्यारेलाल, 139, फूलबाग कालोनी, पंतनगर कृषि विश्वविद्यालय, **पंतनगर** • देवेन्द्र प्रताप, द्वारा श्री इन्द्र सिंह रावत, अल्मा काटेज नं. 7, मल्लीताल, **नैनीताल** • डी. के. सचान, कृषि विज्ञान केन्द्र, विकास भवन, **गाजियाबाद** • ललित सती, भारतीय जीवन बीमा निगम, आवास विकास, **रुद्रपुर, ऊधमसिंहनगर** • रामधीरज, स्वराज्य स्टेशनर्स, प्रयाग चुंगी, मोतीलाल नेहरू मार्ग, **इलाहाबाद** • करेंट बुक डिपो, 18/53, माल रोड, (फूलबाग के सामने), **कानपुर** • प्रतिभा प्रकाशन, (पेप्सी होटल के नीचे), स्टेशन रोड, **बलिया** • राजेन्द्र प्रसाद, रेणु मेडिकल की गली, मुख्य सड़क, रेणुकूट, **सोनभद्र** • नेशनल न्यूज एजेन्सी, पल्टन बाजार, **देहरादून** • श्री मुचकुंद, प्रोग्रेसिव बुक सेंटर, लंका, **वाराणसी** • सर्वोदय बुक स्टाल, प्लेटफार्म नं. 5, कैण्ट रेलवे स्टेशन, **वाराणसी**

बिहार • एस. के. शर्मा, 282-बी, रेलवे कालोनी, **गड़हरा, बेगूसराय** • समकालीन प्रकाशन, पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, **पटना** • राजकमल प्रकाशन, साइंस कालेज के सामने, अशोक राजपथ, **पटना** • पीपुल्स बुक हाउस, पटना कालेज के सामने, **पटना** • जिज्ञासा प्रकाशन, झेलम अपार्टमेंट, राजेंद्रनगर, **पटना** • मैग्जीन कार्नर, नाला रोड, दिनकर चौक, **पटना** • अविनाश कुमार सिन्हा/रणजीत कुमार श्रीवास्तव, द्वारा, शैलेन्द्र श्रीवास्तव, बरियारी चक, पो. **मेंहसी, पूर्वी चम्पारण** • विजय कुमार आर्य, सचिव -'मजदूर संगठन समिति', गुरारू चीनी मिल्स, गुरारू, पो.-**गुरारू**, जि.-**गया** • वी. प्रशान्त, कन्हौली (बी. एम.पी.-6 से पूरब), **मुजफ्फरपुर** • दीपशिखा पत्रिका मण्डप, द्वारा श्री शिवदास पाण्डेय, पानी टंकी चौकी, क्लब रोड, **मुजफ्फरपुर** • रामपुकार सिंह, ग्रा.पो.भदई, जि. **मुजफ्फरपुर** • विद्यानन्द सिंह, वार्ड न. 4, **सुपौल** • श्री भुवन वेणु, 'प्रतीक्षा', मधुबनी, चूनापुर रोड, **पूर्णिया** • लक्ष्मीकांत मुकुल, द्वारा श्री सिंहासन मिश्र, टीचर्स कालोनी, चरित्रवन, **बक्सर** • कौशल कुमार सिंह, पूर्व सचिव, जिला विधिज्ञ संघ, **गोपालगंज**

दिल्ली • सत्यम वर्मा, यूनीवार्ता, 9, रफी मार्ग • बुक कार्नर, श्रीराम सेंटर, मण्डी हाउस • गीता बुक सेण्टर, शापिंग काम्प्लेक्स, जे.एन.यू. • जवाहर बुक सेण्टर, न्यू कैम्पस, जे.एन.यू. • पी.पी.एच. बुक स्टाल, न्यू कैम्पस, जे.एन.यू. • हेम बुक सेंटर, न्यू कैम्पस, जे. एन.यू. • बी.पी. मौर्य बुक स्टाल, निकट पूर्वांचल हास्टल, जे.एन.यू. • पत्रिका मण्डप, दिल्ली विश्वविद्यालय कोआपरेटिव स्टोर्स लि. • पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, मरीना होटल बिल्डिंग, कनाट प्लेस • पीपुल ट्री, 8, रीगल बिल्डिंग, कनाट प्लेस • एतकाद अहमद, डिपार्टमेण्ट ऑफ फाउण्डेशन आफ एजुकेशन, जामिया मिल्लिया इस्लामिया • अखिल भारतीय नेपाली एकता समाज, आर. के. पुरम

महाराष्ट्र • परिदृश्य प्रकाशन, 6, दादी संतुक लेन, धोबी तालाब, मरीन लाइन्स, **मुम्बई** • सतीश कालसेकर, पीपुल्स बुक हाउस, मेहर हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट, फोर्ट, **मुम्बई** • शैलेश वाकड़े, विजयालक्ष्मी नगर, टीचर्स कालोनी, बल्लारपुर, **चन्द्रपुर** • सूर्यदेव उपाध्याय, लेनिन लाइब्रेरी, उल्हास नगर, जि.-**ठाणे**

हिमाचल प्रदेश • एस.आर. हरनोट, हिमाचल पर्यटन विकास निगम, रिट्ज एनेक्सी, **शिमला**

हरियाणा • नरभिंदर सिंह, शहीद भगतसिंह विचार मंच, हरियाणा, ग्रा.पो.-संतनगर, जि.-**सिरसा** • राजीव रंजन, द्वारा पाश पुस्तकालय, पुलिस लाइन, **करनाल** • सुरेश जांगिड़, अक्षर धाम, सुकीर्ति प्रिंटर्स, डी.सी. निवास के सामने, करनाल रोड, **कैथल**

राजस्थान • संजय श्रीवास्तव, 221, उत्तरी सुन्दरवास, गंगा फ्लोर मिल, **उदयपुर**

असम • शर्मा बुक स्टाल, थाना रोड, चराली, **तिनसुकिया** • दिनकर कुमार, चाणक्य पथ, जी एस रोड, दिसपुर, **गुवाहाटी**

पं. बंगाल • श्याम अविनाश, पी. एन. घोष स्ट्रीट, **पुरुलिया** • राकेश गोरखा, सरस्वती पुस्तक मन्दिर प्रधान नगर, **सिलीगुड़ी, दार्जीलिंग** • बुक मार्क, 6, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, **कलकत्ता** • न्यू होराइज़न बुक ट्रस्ट, 57/1, पटुआटोला लेन, **कलकत्ता** • जनार्दन थापा, लुकसान बाजार, पो.आ.-केरन, जि.-**जलपाईगुड़ी** • ओमप्रकाश पाण्डेय, प्राध्यापक, 180/ए, सेंट्रल कालोनी, पो. भक्तिनगर, **न्यू जलपाईगुड़ी**

आन्ध्र प्रदेश • गोविन्द अक्षय, 'सारस्वत सदन', 13/6/411/2, रामसिंहपुरा, कारवान, **हैदराबाद**

मध्यप्रदेश • जयप्रकाश जायसवाल, 'पितृछाया,' अमृत सागर कालोनी, एम.आई.जी. 96-97 **रतलाम** • चिंचोलकर बुक हाउस, बस स्टैण्ड, **जगदलपुर**, **बस्तर** • 'विकल्प' सांस्कृतिक मोर्चा, 1835, सिलवर ओक कम्पाउंड, नेपियर टाउन, **जबलपुर**

नेपाल • पुस्तक पत्र-पत्रिका बिक्री वितरण केन्द्र, डिल्ली बाजार, उकालो, **काठमाण्डू** • विशाल पुस्तक पसल, अस्पताल लाइन, **बुटवल, लुम्बिनी** • विशाल पुस्तक सदन, विजुवार बाजार, प्यूठान, **राप्ती अंचल** • गुनप्रसाद, विश्व नेपाली पुस्तक सदन, श्रवन पथ, बुटवल-8, **रूपनदेई** • संगम पुस्तक पसल, वीरेन्द्रनगर, भेरी अंकल, जिल्ला **सुर्खेत, मध्य पश्मिांचल क्षेत्र** • क्रान्ति पुस्तक सदन, त्रिभुवन नगरपालिका, **डाङगोराई**

उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त और ''उत्तर''-अवस्था

❐ एजाज़ अहमद

'उत्तर औपनिवेशिक सिद्धान्त' के प्रश्न पर अभी हम कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे, इसलिए मुझे इजाजत दें कि मैं आज के विषय के दूसरे पद: '''उत्तर'-अवस्था'[1] पर अपने विचार व्यक्त करने से शुरू करूं। यह पद, जाहिरा तौर पर, लुत्ज़ नीथामर से लिया गया है। नीथामर की किताब **उत्तरइतिहास : क्या इतिहास का अन्त हो गया है?** (Posthistoire : Has History Come to an end?) के बर्लिन में प्रकाशन के कुछ ही महीने बाद, रैण्ड कारपोरेशन के दार्शनिक फ्रांसिस फुकुयामा ने अपना प्रसिद्ध निबन्ध प्रकाशित किया जिसे बाद में संशोधित और विस्तृत रूप देकर उन्होंने अपनी किताब **इतिहास का अन्त और अन्तिम मनुष्य** (The End of History and the Last Man) प्रस्तुत की। राजनीतिक निष्ठा, दार्शनिक अवस्थिति और तर्क संरचना की दृष्टि से दोनों लेखकों में शायद ही कोई समानता है, हालांकि वे अलग-अलग, यूरोपीय बौद्धिक इतिहास में एक निश्चित सूत्र को आगे बढ़ाते हैं जो हेगेल से लेकर नीत्शे, गेहलेन, कोजेव, स्त्रास और अन्य को जोड़ता है; इन अन्य में एलन ब्लूम की अहम जगह है जो लिओ स्त्रास के शिष्य, कोजेव के सम्पादक और फुकुयामा के शिक्षक भी रहे।

लेकिन फुकुयामा के निबन्ध में एक आन्तरिक अन्तरविरोध की अजीब सी गांठ है; क्योंकि, वह दो परस्पर विपरीत प्रवृत्तियों को इस जटिल परम्परा के भीतर मिलाने की कोशिश करते हैं, जो कि उनकी पुस्तक के शीर्षक में लिखे गये दो पदों, 'इतिहास का अन्त', और 'अन्तिम मनुष्य' से भी पता चलता है। पहली नजर में ऐसा लग सकता है कि 'अन्तिम मनुष्य' की आकृति उस क्षण का प्रतिनिधित्व करती है जब स्वयं **इतिहास** का **अन्त** हो जायेगा। लेकिन फुकुयामा की वास्तविक तर्क संरचना में काफी झोल है। वह 'इतिहास के अन्त' का रिटॅरिक हेगेल से लेते हैं, इस बात पर बल देने के लिए कि आज, 1990 के दशक में हम जो कुछ देख रहे हैं, यह स्वातंत्र्य का वही बहु-प्रतीक्षित प्रस्फोट है जिसे हेगेल ने सबसे पहले 'जेना में घुड़सवार मनुष्य' की आकृति के रूप में देखा था और जिसने अब, फुकुयामा के अनुसार, नव-उदारवादी पूंजीवाद की विश्वव्यापी विजय तथा इसके विरोधियों की अन्तिम पराजय के रूप में अपना पूर्ण आकार ग्रहण किया है। इसके विपरीत 'अन्तिम मनुष्य' का रिटॅरिक मानववाद और प्रबोधन की बौद्धिक परम्पराओं के नीत्शेवादी खण्डन से उद्भूत है; ऐसा खण्डन जो विवेक (Reason) को स्वतंत्रता के नहीं बल्कि दासता के कारक के रूप में देखता है, जिससे कि **आधुनिकता** का आख्यान अपनेआप में **मनुष्य के पतन** का लौकिक, क्रुद्ध, अज्ञेयवादी आख्यान, और इसलिए, आने वाले सार्वभौमिक औसतपन (universal mediocrity) का आख्यान बन जाता है, और इस सबके ठण्डे फीकेपन को एक आध्यात्मिक अभिजात्य का दुराग्रह शायद ही दूर कर पाता है, जिसमें खुद नीत्शे जैसे कुछ लोग शामिल हैं।

फुकुयामा की विचारधारा में मौजूद हेगेलियाई प्रस्थान-बिन्दु अन्ततः नीत्शेवादी निष्कर्षों तक पहुंचाते हैं—यह एक ऐसा विरोधाभास है जो कुछ ज्यादा ही लज़ीज़ लगता है। हालांकि, दुबारा सोचने पर, यह निष्कर्ष कम आश्चर्यजनक लगने लगता है क्योंकि फुकुयामा की सोच में, हेगेल और यहां तक कि कोजेव भी, लिओ स्त्रास के जरिए छनकर आते हैं जिनका अपना विश्व-दृष्टिकोण 1930 के दशक के बौद्धिक दहनपात्र से अविभाज्य था जब 'राष्ट्रीय समाजवाद' (नात्सीवाद-अनु.) के दबाव में यूरोपीय बुद्धिजीवियों के कई हिस्सों में न केवल कम्युनिज्म के प्रति नफरत बल्कि उदारवादी जनतंत्र के लिए भी गहरा अविश्वास बहुत हद तक अप्रतिरोध्य बन गया था। इसलिए, फुकुयामा के विन्यास में, 'अन्तिम मनुष्य' की आकृति कुछ-कुछ दोमुंही है। यह तो कहने की भी जरूरत नहीं कि यह आकृति एक पुरुष की है, और वह पाश्चात्य है। उदारवादी जनतंत्र के आगमन के चलते, पश्चिमी दुनिया में स्थित 'अन्तिम मनुष्य', राज्य द्वारा प्रदान की गयी सार्वभौमिक मान्यता के रूप में, वास्तविक स्वतंत्रता को जान चुका है, और सामाजिक-राजनीतिक मान्यता की सन्तुष्टियों को और बढ़ाते हुए, वह उपभोक्तावादी प्रचुरता से मिलने वाली सन्तुष्टियों का भी अनुभव कर चुका है। अब वह विवेक के **जरिए** नहीं बल्कि विवेक **से,** इतिहास के **जरिए** नहीं बल्कि इतिहास **से** मुक्ति चाहता है, उस डायनीशियन* और निजीकृत स्वतंत्रता के रूप में, जिसे फूको ने ''आमोद-प्रमोद की सत्ताएं'' कहा है। लेकिन, पश्चिम की चरम आत्मसिद्धि के भीतर भी, सार्वभौमिक मान्यता और उपभोक्तावादी प्रचुरता की इन सन्तुष्टियों में एक खटका निहित है। फुकुयामा के अनुसार, उदारवादी जनतंत्र की दुविधा, और अन्ततः इसके आत्मविनाश का रहस्य यह है कि सार्वभौमिक समानता का कोई भी चलन केवल सार्वभौमिक औसतपने की स्थिति ही पैदा कर सकता है, क्योंकि सभी के द्वारा हरेक को परस्पर 'मान्यता' का सार्वभौमीकरण केवल समान मान्यता की पात्रता तय करने के लिए लघुत्तम सम्भव समापवर्तक को स्वीकार करके ही किया जा सकता है। इस प्रकार फुकुयामा के लिए उदारवादी जनतंत्र की विजय दो एकदम भिन्न अर्थों में इतिहास का अन्त है।

निश्चित रूप से, एक अत्यन्त प्रबल अर्थ तो यह है कि पाश्चात्य राज्य और उन्नत पूंजीवादी समाज अपनी समृद्धि और उदारवादी तंत्र के साथ बड़े मजे में हैं; कि उनके विरोधियों की पराजय से वे भयमुक्त हो गये हैं और अब अपने लिए किसी अन्य भविष्य की कल्पना नहीं करते; कि अभी जहां तक दृष्टि जाती है, उदारवादी पूंजीवाद की यह विजय अन्तिम है। लेकिन दूसरा

*डायनीसियस—यूनानी सुरा देवता –अनु.

अर्थ तत्काल ही पीछे-पीछे चला आता है : यह **इतिहास का अन्त** खुद ही अनन्त भविष्यविहीनता, औसतपने, उपभोक्तावाद, सभी भिन्नताओं के समतलन, सार्वभौमिक मताधिकार के रूप में सभी राजनीतिक इच्छाओं के समरूपीकरण, और सम्पूर्ण एकरूपता से भरे मरुस्थल जैसे भविष्य के सिवा कुछ नहीं पैदा करता। वह लिओ स्त्रास द्वारा कोजेव पर उठाये गये प्रभावी प्रश्न का उदाहरण देते हैं : क्या यह वाकई सम्भव है कि हेगेल के 'स्वामी-दास' द्वन्द्व को निरी समानता और एकरूपता पैदा किये बिना समाप्त किया जा सके? स्त्रास की अवस्थिति के प्रति फुकुयामा अपना समर्थन तीन महत्वपूर्ण अभिकथनों के द्वारा व्यक्त करते हैं। पहला, चूंकि समानता केवल सार्वभौमिक औसतपने पर ही आधारित हो सकती है, इसलिए मानवीय इच्छा वास्तव में सार्वभौमिक समानता का नहीं, बल्कि अपने एक विशिष्ट समुदाय का होना चाहती है, जो ऐसे ही अनगिनत समुदायों की एक जटिल व्यवस्था के भीतर स्थित हो। वह सार्वभौमिक नागरिकता का उदारवादी जनतंत्र नहीं, बल्कि परस्पर विशिष्ट समुदायों की एक विषमांग व्यवस्था चाहती है जिसमें व्यक्ति केवल उन्हीं से मान्यता की सन्तुष्टि पाता है जिन्हें वह अपने समकक्ष के रूप में मान्यता देता है। दूसरा, नीत्शे द्वारा ''सभी निर्दयी राक्षसों में निर्दयतम'' के रूप में राज्य के वर्णन को उद्धृत करते हुए फुकुयामा कहते हैं कि एक प्रत्यक्षत: अनुभव किये जाने वाले सीधे उपस्थित समुदाय की सदस्यता में, राज्य के भीतर समान नागरिकता के मुकाबले कहीं ज्यादा मानवीय सन्तुष्टि है; इस प्रकार 'राजनीति' का 'समाज' में विलय हो जाता है और 'समाज' खुद अपनी संघटक इकाइयों में विघटित हो जाता है और इस प्रकार विषमताओं की अन्तहीन गतिविधि चलती रहती है। फुकुयामा इस दिशा में इतनी दूर तक चले जाते हैं कि उनके तर्क के अनुसार पूर्वी एशिया की जिन निरंकुश सत्ताओं के अधीन विस्मयकारी ढंग से पूंजीवादी विकास हुआ है, वे इस दृष्टि से अधिक मानवीय सन्तुष्टि देने वाली हैं कि वे राजनीतिक दायरे में सार्वभौमिक समानता पर नहीं टिकी हैं बल्कि वृहत्तर पूंजीवादी समाज के भीतर ही अपने में सम्पूर्ण और परस्पर विच्छिन्न समुदायों पर आधारित हैं।

इस प्रकार, फुकुयामा का निबन्ध शुद्ध रूप से विजय-वर्णन होना तो दूर, उल्टे यह खुद ही उदारवादी पूंजीवाद के प्रति गहरी निष्ठा और तानाशाह सत्ताओं के पक्ष में इसे नकारने की उतनी ही प्रबल लालसा के बीच बंटा हुआ है। निबन्ध दो और ध्रुवों के बीच आत्म-विभाजित है। एक ओर इतिहास की यात्रा को **स्वतंत्रता के विचार** के अमल के रूप में देखने का हेगेलियाई आशावाद है तो दूसरी ओर मुक्तिकारी सामूहिक परियोजनाओं के रूप में इतिहास और स्वतंत्रता की अवधारणा के ही प्रति नीत्शेवादी सन्देहवाद है। इन अन्तरविरोधी **दार्शनिक** अवस्थितियों को एक साथ सही ठहराने की कोशिश वह अपने केन्द्रीय प्रतिपादनों की दृष्टि से करते हैं, जो खुद ही एक-दूसरे को खारिज करने की दिशा में प्रवृत्त हैं। विचारधारात्मक रूप से, पहले प्रसंग में, वह मुक्त व्यापार और इसकी विश्वव्यापी विजय के उन्मुक्त यशोगान के प्रति पूर्ण प्रतिबद्ध हैं; **इस** रिटॅरिक में ''मुक्त व्यापार'' स्वयं स्वतंत्रता का सार है। लेकिन, इसी के साथ, वह यह भी घोषणा करते हैं कि आज के जन-पूंजीवादी (mass-capitalist) समाज में, चाहे वह पश्चिम में हो या पूर्वी एशिया में, आजादी के प्रयोग की बुनियादी जमीन के रूप में **उपभोग** का आविर्भाव खुद स्वतंत्रता के विचार का अनादृत करता है। इस प्रकार, नवउदारवादी पूंजीवाद की विश्वव्यापी विजय के परिणामस्वरूप 'इतिहास के अन्त' पर जन्मा 'अन्तिम मनुष्य', खुद फुकुयामा के अनुसार, औसतपने, निरंकुश शासन और निरे उपभोग की अंधी भूख से घिरे मनुष्यों का समूह है। इसीलिए उनके गद्य की बुनावट और स्वर-विन्यास भी नवउदारवादी विजयोल्लास और उत्तर-ऐतिहासिक अवसाद के बीच दोलन करते रहते हैं। यह भी तर्कसंगत ही है क्योंकि अमेरिकी साम्राज्य का यह नौकरशाह-दार्शनिक पहले अपने को हेगेलवादी मानकर चलता है, लेकिन 'इतिहास के अन्त' पर उसकी मुलाकात हेगेल नहीं बल्कि नीत्शे से हो जाती है।

फुकुयामा खुद को न तो उत्तरआधुनिक और न ही उत्तरऔपनिवेशिक मानते हैं। देरिदा से लेकर स्पिवाक की तरह के अनेक उत्तरआधुनिकों और उत्तरऔपनिवेशिकों के विपरीत वह आज की राजनीति में किसी तरह के रैडिकल या वामपक्षीय झुकावों का दावा नहीं करते। ल्योतार, क्रिस्तेवा, ग्लुक्समान और फ्रांसीसी उत्तरआधुनिकता के कई अन्य 'नव अनुदारवादियों' के विपरीत फुकुयामा का त्रात्स्कीपंथी या माओवादी के रूप में कोई अतीत नहीं है। इस तथ्य को लेकर उन्हें कोई परेशानी नहीं है कि वह दक्षिणपंथी तथा नवउदारवादी पूंजीवाद के हिमायती हैं, और हमेशा से रहे हैं; आखिरकार, उनके जीवन का बड़ा भाग अमेरिकी विदेश विभाग तथा रैण्ड कारपोरेशन के बीच बीता है। पर मैं आज कुछ भिन्न कारणों से फुकुयामा से शुरू कर रहा हूं।

इन कारणों में पहला यह है, जिसे आज के बौद्धिक माहौल में कहना सबसे मुश्किल है, कि मुझे ल्योतार और बौड्रिलार्ड जैसे उन चिन्तकों के मुकाबले फुकुयामा ज्यादा सारगर्भित और ध्यानाकर्षक लगते हैं जिन्होंने उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त की इतनी सारी शब्दावली उपलब्ध करायी है। मैं ऐसा इस तथ्य के बावजूद कह रहा हूं कि, अन्तिम विश्लेषण में, मुझे फुकुयामा हर अहम मुद्दे पर गलत नजर आते हैं। उदाहरण के लिए, उनका यह कहना सही है, हालांकि मौलिक कतई नहीं है, कि आज पूंजीवाद इस शताब्दी में किसी भी समय के मुकाबले ज्यादा सार्वभौमिक रूप से वर्चस्वशाली और ज्यादा मजबूती से जमा हुआ है, लेकिन इस पूंजीवादी विजय की तुलना 'समानता' और 'सार्वभौमिक मान्यता' के प्रस्फोट के साथ करना एकदम गलत है। जिस चीज का सार्वभौमीकरण हुआ है, वह न तो आम अच्छाई की सार्वभौमिक अवस्था है, और न ही वस्तुओं और सेवाओं तक समान पहुंच, बल्कि वास्तव में पूंजी के प्रसार और श्रम के स्वत्वहरण के लिए एकीकृत बाजार और सांस्कृतिक क्षेत्र में माल अंधभक्ति की विचारधारा का सार्वभौमीकरण हुआ है। वास्तव में, यदि आप माल अंधभक्ति को निकाल दें, तो मौजूदा पूंजीवाद की संस्कृति में शायद ही कोई चीज ऐसी बचेगी जो मूलत: सार्वभौमवादी हो। **इस** पूंजीवाद का इतिहास दिखाता है कि पूंजीवादी दबावों के तहत पारम्परिक समुदायों का विघटन और आबादी की गतिशीलता साझा मानवीय मूल्यों तथा मूलभूत समानताओं की सार्वभौमिक संस्कृति को नहीं बल्कि अपघटन की अत्यन्त भंगुर प्रक्रियाओं को जन्म देते हैं जो लगातार राष्ट्र, नस्ल, जातीयता, और धार्मिक समूह की अस्मिताओं को नये सिरे से संघटित करती रहती हैं, परम्परा और आदिमता के प्रति नये गढ़े गये दावों की तो बात ही क्या। यह भी कयास किया जा सकता है कि अस्मिता की राजनीति और बहु-संस्कृतिवादी विचारधारा एवं नीति का यह तीव्रीकरण, कुछ महत्वपूर्ण अर्थों में, इस जीवन्त सच्चाई को दिखाता है कि वर्तमान पूंजीवाद किस हद तक, अपने उन्नत क्षेत्रों में भी सार्वभौमिक समानता के विचार को छोड़ने की प्रक्रिया में है, ताकि इन क्षेत्रों में भी आधुनिक राज्य अपने को पुनर्संगठित कर सके — जातीय अस्मिता के अनेक टापुओं के रूप में, जो एक ऐसी जातीयता की हितकारी, पर सदा सतर्क निगाह की देखरेख में रहें जो इतनी वर्चस्वशाली है कि उसे खुद को जातीयता के रूप में परिभाषित करने की आवश्यकता ही नहीं है। फुकुयामा इस मुद्दे पर भी गलत हैं : औद्योगिक पूंजीवाद के पूरक के रूप में समुदायवादी (communitarian) विचारधारा कतई सिर्फ पूर्वी एशिया की विशेषता नहीं है; यह खुद उत्तरी अमेरिका के भीतर उभार पर है; समुदायवाद के ज्यादा तीक्ष्ण संस्करण अल्जीरिया, मिस्र और भारत जैसे एक-दूसरे से इतने भिन्न देशों में सेकुलर नागरिक सरकारों की विरासत को छिन्न-भिन्न किये दे रहे हैं। और

फिर भी आधुनिक राष्ट्र-राज्य में सेकुलर नागरिकता के विकल्प के रूप में स्वयंशासित धार्मिक समुदायों का विचार उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त की उस शाखा के भीतर जोर पकड़ रहा है, जो खुद को 'सबाल्टर्न स्टडीज़' कहती है, जैसाकि पार्थ चटर्जी और दीपेश चक्रवर्ती के हाल के लेखों से स्पष्ट है। दरअसल, यह ऐतिहासिक पैमाने का विपर्यय है। सार्वभौमिक समानता का विचार अभी हाल तक यूरोपीय साम्राज्यवाद और इसके आवश्यक अनुपूरक रहे यूरोकेन्द्रित नस्लवाद के विरुद्ध संघर्ष में प्रबलतम विचारधारात्मक शक्ति थी। अब फुकुयामा हमें मशविरा देते हैं कि सार्वभौमिक समानता की यह आकांक्षा ही है जो सार्वभौमिक औसतपने की संस्कृति को जन्म दे रही है, जबकि ल्योतार और प्रिंस्टन (युनिवर्सिटी-अनु.) के इतिहासकार ज्ञान प्रकाश जैसे उनके अनुयायी हमें यह समझाने में लगे हैं कि सार्वभौमिकता का विचार अपनेआप में यूरोकेन्द्रित है और यह महज 'मुक्ति' के उन महाख्यानों में से एक है जो विश्व के उत्तरआधुनिकता में प्रवेश के साथ पुराने पड़ गये हैं, और यूरोकेन्द्रीयता तथा नस्लवाद से बचाव का एकमात्र रास्ता दार्शनिक एवं सांस्कृतिक सापेक्षवाद में मिल सकता है। अपने तमाम हेगेलवादी प्रस्थान-बिन्दुओं के बावजूद, फुकुयामा का यह विचार कि अपने विशिष्ट समुदाय से मान्यता ही एकमात्र पाने योग्य मान्यता है, पूरी तरह उस उत्तरआधुनिक विश्व की चीज है, जिसमें अन्तहीन सापेक्षिकता है, भिन्नता का निरपेक्षीकरण है, और यह मानने से इंकार है कि मालों और सेवाओं के अलावा भी कोई चीज सार्वभौमिकता या मानकीय मूल्य का क्षितिज निर्धारित कर सकती है।

इस तरह, दार्शनिक उत्तरआधुनिकता की अनेक थीम और विश्वास फुकुयामा में मौजूद हैं, खासकर वे जिन्हें उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त में सबसे ज्यादा महत्व दिया जाता है। उदाहरण के लिए, उनका यह विश्वास कि विषमांगता आन्तरिक रूप से सार्वभौमिकता और समानता के मूल्यों से श्रेष्ठतर है; आधुनिक, जनतांत्रिक, सेकुलर राज्य के निर्माण की एकीकृत करने वाली परियोजनाओं के बदले स्वयं-सन्दर्भित समुदायों का उनका समर्थन, आधुनिकता के बारे में उनके निष्कर्षों का नीत्शेवादी भावार्थ, आदि। फिर भी हेगेल के साथ उनका लम्बा द्वन्द्व भले ही वह कोजेव की मध्यस्थता में चलता हो, मुझे दार्शनिक रूप से ज्यादा आकर्षक लगता है; और राजनीतिक क्षेत्र में स्पष्टत: वह अमेरिकी बहुलवाद और व्यवहारवाद की उत्तरआधुनिक किस्मों से ज्यादा बुरा नहीं है जिनका प्रतिनिधित्व, उदाहरण के लिए रिचर्ड रोर्टी करते हैं। साथ ही, फुकुयामा की इस बात की एक हद तक विलम्बित समझदारी में एक ईमानदारी है कि उन्होंने जिसे स्वतंत्रता का प्रस्फोट समझा, उसने एक ऐसी मानवीय अवस्था को जन्म दिया है जो मूलत: अमानवीकृत और घिनौनी है, जिससे कि 'इतिहास के अन्त' की **उनकी** घोषणा जो कि 'मनुष्य के पतन' के आख्यान से सन्तुलित है, उन आत्मतुष्ट और यशगानकारी स्वरों के मुकाबले कहीं अधिक दोहरे भावों वाली, यहां तक कि लगभग त्रासद सी लगती है, जिनमें ल्योतार और उनके उत्तरआधुनिक अनुयायी सभी महाख्यानों के अन्त की बात करते हैं। लेकिन, वक्त के मिजाज़ के मुताबिक, फुकुयामा का सार-संग्रहवाद उत्तरआधुनिकों से काफी मेल खाता है, और जिस तरह एक ठेठ उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्तकार किसी दार्शनिक घालमेल की किसी खास अवस्थिति को सही ठहराने के लिए परस्पर विरोधी विचारप्रणालियों को आहूत करता रहता है, फुकुयामा भी उतनी ही आसानी से किसी एक ही दलील के दौरान हेगेल और नीत्शे, दोनों को आहूत करते हैं, उनकी सामान्यताओं को ही नहीं, बल्कि इतिहास और विवेक के बारे में उनके ठीक उन्हीं विचारों के सन्दर्भ में, जिनमें इन दोनों के बीच सर्वाधिक विरोध है।

मैंने फुकुयामा के विषय पर आपका इतना समय इसलिए लिया, क्योंकि मुझे लगता है कि, आम तौर पर वाम पक्ष के समझे जाने वाले विमर्श और खुद को विश्वासपूर्वक नवउदारवादी अनुदारवाद का हिमायती घोषित करने वाले के बीच इतना सारगर्भित मेल, हमें सोचने के लिए कुछ विराम देगा। ल्योतार के उत्तरऐतिहासिक अवसाद की जड़ इस साझे विश्वास में है कि इस शताब्दी में समय-समय पर घटित होने वाले मुक्तिकारी ऐतिहासिक परिवर्तनों को लाने वाली महान परियोजनाओं का अन्त असफलता में हुआ है। मैं सोचता हूं कि दोनों के दिमाग में वही तीन निशानियां हैं—साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रवाद; वामपंथी सामाजिक जनवाद; और साम्यवाद—जिन्हें ल्योतार तिरस्कारपूर्वक महज 'विवेक' और 'प्रगति' के महाख्यान कहकर खारिज कर देते हैं, और जिन्हें फुकुयामा खुद पाश्चात्य सभ्यता के लिए खतरा मानते हैं। लेकिन दोनों ही इस पराजय पर अपार राहत का अनुभव करते हैं। सकारात्मक ऐतिहासिक बदलाव की इन तीन परियोजनाओं, हमारी साझा जरूरतों की सार्वभौमिकता को हासिल करने के इन तीन रास्तों, की पराजय निर्णायक रही है, यह मेरे ख्याल से, सन्देह से परे है। और उत्तरआधुनिकता तथा उत्तरऔपनिवेशिकता के बारे में थोड़ी उदारता से सोचने का एक ढंग यह हो सकता है कि इन पदों में लगा उपसर्ग 'उत्तर' न केवल एक सामान्यीकृत 'उत्तर-'अवस्था को शामिल करता है बल्कि इसमें उस समापन का बोध निहित है, भले ही समापन का यह बोध उनमें क्षतिबोध नहीं बल्कि सुख-बोध पैदा करता हो। लेकिन इस सुखबोध के बारे में आश्चर्यजनक यह है कि जहां सार्वभौमिक मुक्ति की इन तीन परियोजनाओं की पराजय का इतने अमर्यादित ढंग से यशगान किया जाता है, वहीं उत्तरआधुनिकता या इसकी उत्तरऔपनिवेशिक उपशाखाएं शायद ही कभी उस चीज का नाम बताती हैं जो इन पराजयों के परिणामस्वरूप विजयी हुई है। यदि हम 'महाख्यान' शब्द मान भी लें, तब भी मेरे ख्याल से, यह कहना जरूरी है कि केवल मुक्ति के महाख्यान पराजित हुए हैं; पिछली तीन शताब्दियों के महाख्यानों में सर्वाधिक महा-आख्यान, मेहनतकश इंसानियत पर पूंजी के वर्चस्व के लिए, कदम-ब-कदम भूमण्डल पर कब्जे को, इन्हीं दशकों में, भारी सफलता मिली है, एक विशिष्ट रूप में, यानी नवउदारवादी अनुदारवाद के रूप में। जिस अवधि में, आय के नीचे की ओर पुनर्वितरण के लिए महान संघर्षों को पराजय मिली, ठीक उसी अवधि में, आय के ऊपर की ओर पुनर्वितरण के आक्रामक अभियान सफल हुए—और जोरदार ढंग से सफल हुए। तथाकथित 'मुक्ति के महाआख्यानों' की पराजय उत्तरआधुनिकों में उनके प्रति, सन्देहशीलता ही नहीं पैदा करती, जैसा कि ल्योतार कहते हैं, बल्कि अत्यन्त आनन्द भरती है; बल्कि जिसे आधुनिकता के सौन्दर्यशास्त्र में क्षति, त्रासदी और दिग्भ्रम के रूप में जिया जाता था, वह उत्तरआधुनिक दर्शन और सौन्दर्यशास्त्र में शुद्ध आनन्द के रूप में, और सम्भवत: कान्तवादी औदात्य के भी रूप में जिया जाता है। इसके विपरीत, सार्वभौमिक दासत्व के महाआख्यान की विजय उत्तरवादियों में कोई खास बेचैनी नहीं पैदा करती। फुकुयामा हर मामले में आगे हैं: विजेता का **नाम बताते हैं,** यानी उदारवादी पूंजीवाद; वह खुले तौर पर, उस विजय के **साथ खड़े होते हैं,** छुपाते कुछ नहीं; और फिर भी, उत्तरवादियों के विपरीत वह अपने ही पक्ष की इस विजय का इस तरह से अनुभव करते हैं जैसे कि मुट्ठी भर राख उनके मुंह में ठूंस दी गई हो। आप एक अनुदारवादी से इससे ज्यादा क्या पाने की अपेक्षा कर सकते हैं, जबकि इतने सारे रैडिकलों से आपको कुछ नहीं मिलता।

अब, हम उस सन्दर्भ की ओर लौटें, जहां से मैंने शुरू किया था, यानी नीथामर की किताब **उत्तरइतिहास : क्या इतिहास का अन्त हो गया है?**। हेगेल से लेकर वाल्टर बेंजामिन और उससे भी आगे तक उत्तरऐतिहासिक सोच की वंशावली की उनकी अत्यन्त सूक्ष्म पुनर्संरचना की एक आश्यर्चजनक विशेषता यह है कि अतीत में 'इतिहास के अन्त' की घोषणाएं जितनी बार सुखानुभूति के बोध के साथ की गईं, उतनी ही

बार विनाश के बोध के साथ भी। और यह भी कि ऐसी अवस्थितियां प्रतिपादित करने वाले प्राय: राजनीतिक वर्णक्रम के एक छोर से दूसरे छोर तक झूलने की प्रवृत्ति दिखाते रहे हैं—पर वे हवा के रुख के साथ हर बार तालमेल नहीं रख पाते, कमोबेश बॉब डिलन के मशहूर 'वेदरमैन' की तरह, जो **''जानता''** है कि हवा का रुख क्या है। ऐसा करने वालों में सिर्फ हेगेल नहीं थे जिन्होंने पहले 'इतिहास का अन्त' जेना के युद्ध के समय नेपोलियन के रूप में देखा, और फिर, वाटरलू के बाद प्रशियाई राज्य के रूप में। खुद कोजेव, जिनसे छनकर हेगेल फुकुयामा तक पहुंचते हैं, ने 1930 के दशक में घोषित किया था कि हेगेल सही थे पर उनकी बात समय से थोड़ा पहले कही गई थी और इतिहास के अन्त का वास्तविक प्रतीक नेपोलियन नहीं, बल्कि स्तालिन हैं। लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध के बाद कोजेव फ्रांसीसी सरकार के वैदेशिक आर्थिक मामलों के प्रशासन में शामिल हो गये, मार्शल योजना पर काम किया, यूरोपीय संघ की बुनियाद रखी जाने के दौरान ज्यां मोनेत के करीबी हो गये और बाद में यह घोषित किया कि ''...संयुक्त राज्य अमेरिका, मार्क्सवादी 'साम्यवाद' की अन्तिम अवस्था में पहुंच चुका है, क्योंकि वहां, एक 'वर्गहीन समाज' के सभी सदस्य जो भी चाहें उसे पा सकते हैं, बिना उससे ज्यादा काम किये, जितना वह करना चाहें।'' यह उससे पूरी तरह भिन्न नहीं है जो भूतपूर्व माओवादी जूलिया क्रिस्तेवा आजकल लिख सकती हैं और निश्चित रूप से उसके तो काफी करीब है जो फुकुयामा सीधे कोजेव के आधार पर और खुद अपनी जीवनभर की प्रतिबद्धताओं के आधार पर कहेंगे। इस बीच, नीथामर भी जिस पर प्रकाश डालते हैं, वह कोई एकसार बौद्धिक या राजनीतिक वंशावली जैसी प्रत्यक्ष चीज नहीं बल्कि कुछ बौद्धिक परिवेश, लगभग एक वातावरण जैसा, और कुछ विचार प्रणालियां हैं जो जटिल रूपों में एक-दूसरे से टकराती और मेल करती हैं। न केवल कोजेव, बल्कि बौड्रिलार्ड, जो समकालीन उत्तरआधुनिकता की केन्द्रीय हस्तियों में से हैं, भी पी.सी.एफ. में रहे थे, पर बाद में वह पगहा तुड़कर नीत्शेवादी आनन्दातिरेक में डूब जाते हैं काफी कुछ वैसे ही, जैसे फुकुयामा नीत्शे के उस दूसरे सूत्र को आगे बढ़ाते हैं जो आधुनिक को सीधे-सीधे रुग्ण और भद्दा घोषित करता है। कोजेव निश्चित रूप से उन दिनों के अतिवाम ग्रुप **समाजवाद या बर्बरता** (Socialism or Barbarism) के सम्पर्क में थे, जिसमें ल्योतार शामिल थे, और वाल्टर बेंजामिन तथा जार्जेस बाताइल्स दोनों के तो वह सहानुभूतिपूर्ण सम्पर्क में थे। बाताइल्स और लाकान तो उन दिनों कोजेव के प्रिय छात्रों में थे जब वह एक कक्षा में हेगेल पर व्याख्यान देते होते थे जबकि बगल की कक्षा में हेनरी कोबें हीडेगर के Being and Time पर बोल रहे होते थे। कोजेव हीडेगर से प्रभावित थे, लेकिन इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि वह कभी नेशनल सोशलिज्म के करीब हुए थे, हालांकि कार्ल श्मिड्ट के साथ उनका बौद्धिक सम्बन्ध और लिओ स्त्रास के साथ उनकी घनिष्ठ साझेदारी से ऐसा लग सकता है कि कोजेववादी प्रभाव के मामले को उस पूरे बौद्धिक माहौल से अलग करना आसान नहीं है जिसमें से नाजी अतीत की बू आती है। यह मामला इस तथ्य से और भी जटिल हो जाता है कि यदि फ्रांस में ल्योतार और देरिदा, जिनपर शायद कोई भी नाजीवाद के प्रति सहानुभूति रखने का आरोप नहीं लगा सकता है, ने नाजियों के लिए किये गये विस्तृत कार्य की चर्चा के विरुद्ध हीडेगर के बचाव का नेतृत्व किया है, तो जर्मनी में, यही भूमिका अन्य लोगों के साथ-साथ अर्न्स्ट नोल्ट ने निभाई है जो नाजीवाद को एक 'सामान्य' चीज की तरह पेश करने की अपनी कोशिश में इसे सोवियत संघ में स्तालिन के उभार की एक ''समझी जा सकने वाली'' प्रतिक्रिया बताते हैं, तथा अतीत के कई नाजी पैरोकारों को दोहराते हुए वह जिसे 'एक अन्तरराष्ट्रीय गृहयुद्ध' कहते हैं, उसके अनेक तत्वों में से एक के रूप में इसे पेश करते हैं; और ऐसा करने के दौरान नॉल्ट हीडेगर की नाजीपरस्त राजनीतिक घोषणाओं से कई विषय सीधे-सीधे ले लेते हैं।

मैंने '''उत्तर''-अवस्था' की इन दो धाराओं का समाहार करने की कोशिश यह इंगित करने के लिए की है कि फुकुयामा की सोच किसी भी तरह **अद्वितीय** नहीं है और उनकी बौद्धिक संरचना; राजनीतिक विश्वास और विश्व दृष्टिकोण में बहुत कुछ ऐसा है जो उत्तरआधुनिकता की प्रधान धाराओं में भी मिलता है। इतना ही नहीं है कि कभी हम जिसे डैनियल बेल और अन्यों से सुनते थे, उसकी ही ल्योतार फ्रांसीसी दार्शनिक भाषा में पुनर्प्रस्तुति करते हैं, बल्कि यह भी तथ्य है कि पेरिस और उससे आगे तक कोजेव का प्रभाव क्षेत्र फुकुयामा से कहीं ज्यादा व्यापक रहा है, इसलिए अगर इतिहास के अन्त की फुकुयामा की उद्घोषणा की प्रमुख चिह्निकाओं में से एक, ल्योतार की 'सभी महाख्यानों के अन्त' की उद्घोषणा से, या बौड्रिलार्ड की 'सामाजिक की मृत्यु' की घोषणा से मिलती-जुलती लगती है, तो यह सादृश्यता संयोग मात्र नहीं है।

लेकिन इस ''उत्तर अवस्था'' की मूल संरचना पर आपका इतना समय लेने के पीछे मेरा मुख्य कारण यह है कि अगर दार्शनिक उत्तरआधुनिकता अब तक यूरो-अमेरिकी सामाजिक व राजनीतिक विचार का प्रधान नहीं तो प्रधान रूपों में से एक बन चुकी है, तो जिसे अब 'उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त' कहा जा रहा है, वह अपने आप में समकालीन उत्तरआधुनिक विमर्शात्मक रूपों में से एक है—या, ज्यादा ठीक-ठीक कहें तो, दार्शनिक उत्तरआधुनिकता के भीतर एक आत्मवाचक सांस्कृतिक **शैली** है। हालांकि कालक्रमानुसार, 'उत्तरऔपनिवेशिक' शब्द काफी पहले, 1970 के दशक में, एक व्यापक राजनीतिक बहस के दौरान उभरा था (शायद एक फुटनोट के रूप में), जिसमें हमज़ा अलवी से लेकर जॉन साउल तक बहुत से लोगों ने हिस्सा लिया था और 1980 के दशक में मैंने भी योगदान किया था। मैं आज उस बहस पर टिप्पणी नहीं करना चाहता हूं, लेकिन पिछले वर्ष प्रकाशित अपने निबन्ध, **उत्तर-औपनिवेशिकता : नाम में क्या रखा है?** (Postcolonialism : What's in a Name?) में मैंने उसके मुख्य तर्कों का सारांश प्रस्तुत किया था, मुख्यत: यह दिखाने के लिए कि साहित्यिक और सांस्कृतिक अध्ययनों के लिए हड़प लिये जाने और फिर एक अन्तर अनुशासनिक उत्तरआधुनिक भाष्यकार के रूप में इस्तेमाल किये जाने के पहले यह शब्द कितने भिन्न और कितने विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता था। उस बहस में शामिल लोगों का सरोकार कुछ विशिष्ट स्थितियों से था। पहली, समय का एक विशिष्ट क्षण, यानी द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आई अनौपनिवेशीकरण की लहर; दूसरा, सत्ता का एक विशिष्ट ढांचा, यानी नव स्वतंत्र देशों में उभरे राज्य का प्रकार; और तीसरी, पूंजीवादी राज्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त की पुनर्संकल्पना करने की सैद्धान्तिक समस्या, उन्नत पूंजी के राज्य के सन्दर्भ में नहीं, बल्कि उस राज्य के सन्दर्भ में, जो अनौपनिवेशिकता के क्षण में, औपनिवेशिक पूंजी के इतिहास से उभरा था। दूसरे शब्दों में, वह पूरी बहस एक विशिष्ट ऐतिहासिक सन्धिबिन्दु से सम्बन्धित राजनीतिक सिद्धान्त की एक विशिष्ट समस्या पर केन्द्रित थी।

यूरो-अमेरिकी बुद्धिजीवियों पर फ्रांसीसी उत्तरसंरचनावाद के जबर्दस्त प्रभाव के बाद हाल में उभरे उत्तरऔपनिवेशिकता के सांस्कृतिक सिद्धान्त की आश्चर्यजनक विशेषता यह है कि इसमें उस बहस के कोई भी अच्छे तत्व तो नहीं हैं लेकिन इसकी सभी खामियां मौजूद हैं—और बहुत सी और भी खामियां हैं। औपनिवेशिक/उत्तरऔपनिवेशिक युग्म का प्रयोग अब कुछ खास देशों में किन्हीं खास राज्यों के लिए आधारभूत श्रेणी के रूप में नहीं किया जाता है, बल्कि आम तौर पर, विश्व के अन्तर-महाद्वीपीय, अन्तर-ऐतिहासिक विकास के सन्दर्भ में किया जाता है। मैं उद्धरणों की पूरी कतार को छोड़ दे रहा हूं, लेकिन बस इतना कहना चाहूंगा कि बिल एशक्राफ्ट, गैरेथ ग्रिफिथ्स, हेलेन टिफिन, वेरा कुत्जिंस्की, सारा सुलेरी गुडइयर, एडवर्ड सईद,

होमी भाभा, ऐन मैक्लिंटाक, गायत्री स्पिवाक और कई अन्य उत्तर औपनिवेशिक आलोचकों को पढ़ने से पता चलता है कि यह शब्द लगभग पूरे भूमण्डल पर लागू किया जाने लगा है, जिसमे, संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिणी प्रशांत के द्वीप, सोवियत संघ व युगोस्लाविया के पतन से उभरे नये राज्य भी शामिल हैं, पूरा एशिया, अफ्रीका और लातिनी अमेरिका तो हैं ही। कुछ प्रयोगों में, यह शब्द कमोबेश 1492 में शुरू हुई ऐतिहासिक अवधि पर लागू होता है; और कुछ ज्यादा ही दूर की कौड़ी लाने वाले लेखों में, यह और पुरानी संरचनाओं, जैसे इंका सभ्यता और प्राचीन साम्राज्यों के दौर के चीन पर लागू किया जाता है। कई आलोचकों के मुताबिक तो उपनिवेशवाद का कोई भी प्रतिरोध हमेशा ही, उत्तरऔपनिवेशिक हो चुका होता है, इसलिए इन प्रयोगों में उत्तरऔपनिवेशिकता खुद उपनिवेशवाद को, और उसके बाद आने वाले सबकुछ को आवृत्त कर लेती है, और एक प्रकार की ऐसी निष्ठुर सार्वभौमिकता बन जाती है जिसमें समूचा आधुनिक अनुभव, कभी-कभी तो प्राक्-और उत्तरआधुनिक अनुभव भी, इसी सार्वभौमिकता के भिन्न-भिन्न रूपों में से एक लगने लगते हैं। यहां तक कि, स्पिवाक ''आन्तरिक औपनिवेशिकता'' शब्द का प्रयोग करती हैं और इसे ''कुछ समूहों द्वारा दूसरों पर प्रभुत्व'' के रूप में परिभाषित करती हैं। विश्व असंख्य उपनिवेशों और उत्तरउपनिवेशों जैसा प्रतीत होने लगता है, जबकि 'औपनिवेशिकता' शब्द स्वयं सत्ता का पर्यायवाची बनने लगता है।

दूसरे शब्दों में, **विश्व** पर लागू करने पर, 'उत्तर औपनिवेशिकता' शब्द विस्तृत होकर प्रायः हर चीज को अपने दायरे में ले लेता है। लेकिन सिद्धान्तों और आलोचकों के लिए एक पदनाम के रूप में प्रयोग किये जाने पर यही 'उत्तरऔपनिवेशिक' शब्द तेजी से सिकुड़ जाता है और न तो आज किये जा रहे समस्त सैद्धान्तिक काम पर लागू होता है, न ही इस उत्तरऔपनिवेशिक समय में लिख रहे सभी आलोचकों पर, बल्कि यह बहुत थोड़े से आलोचकों से सन्दर्भित होता है जिनमें कुछ स्पष्टतः साझा सैद्धान्तिक प्रस्थान बिन्दु हैं। इस तरह हमारे सामने एक विलक्षण विसंगति उपस्थित है : एक ओर विश्लेषित किये जाने वाले विषय का अपार भूमण्डलीकरण, और दूसरी ओर, उस भूमण्डलीकृत विषय का अर्थ बांचने के लिए एक बहुत छोटे अकादमिक 'एलीट' का निर्माण। यह विसंगति एक ऐसी स्थिति को जन्म देती है जिसमें इतने विराट फैलाव के अन्त में, 'उत्तरऔपनिवेशिकता', कम से कम एक वृतान्त में, एक सांस्कृतिक शैली को समझने का भाष्यकार मात्र बन जाती है। जैसा कि हेलेन टिफिन कहती हैं : ''कोई साहित्यिक कृति उत्तरआधुनिक या उत्तरऔपनिवेशिक है या नहीं, प्रायः इसका निर्धारण उसमें अन्तर्भूत किसी चीज से नहीं, बल्कि पाठ पर विमर्श के ढंग से होता है।'' कृपया ध्यान दीजिए कि यहां किस तरह 'उत्तरआधुनिक और 'उत्तर औपनिवेशिक' को लगभग पर्यायवाची की तरह इस्तेमाल किया गया है, दोनों का निर्धारण पाठ के किसी अन्तर्भूत गुण से नहीं बल्कि विमर्श की प्रणाली से ही होता है। गैरेथ ग्रिफिथ्स इसी बात को ज्यादा विस्तार के साथ कहती हैं :

> किसी पाठ की उत्तरऔपनिवेशिकता थीम या विषयवस्तु के किसी आम गुण पर नहीं बल्कि इस पर निर्भर करती है कि उसमें उत्तरऔपनिवेशिक विमर्शात्मक पहलू कितने कम या अधिक हैं। यह पहलू क्या हैं, यह भी व्याख्या के लिए खुला होता है, जैसा कि ऐसे किसी भी विमर्श में होता है जो स्वयं को तर्कपरक रूप में प्रस्तुत करना चाहता है। लेकिन मेरे ख्याल से भाषायी विस्थापन, निर्वासन, अन्तर-सांस्कृतिकता और अनुभव की प्रामाणिकता या गैर-प्रामाणिकता ऐसे पहलुओं में से हैं जिनको अभिलाक्षणिक रूप से उत्तरऔपनिवेशिक के रूप में पहचाना जा सकता है।

मैं बिलकुल समझ नहीं पाता कि निर्वासन की परिघटना या **प्रामाणिक अनुभव** के दार्शनिक मुद्दे को, जो औपनिवेशिकता के ऐतिहासिक अनुभव से बहुत दूर हैं, ''अभिलाक्षणिक रूप से उत्तरऔपनिवेशिक'' क्यों माना जाना चाहिए। लेकिन टिफिन, और बिल एशक्राफ्ट के साथ मिलकर **दि एम्पायर स्ट्राइक्स बैक** जैसी प्रसिद्ध किताब लिखने वाली ग्रिफिथ्स, दोनों के इन बाद के सूत्रीकरणों में चौंकाने वाली बात यह है कि दोनों ही उत्तरऔपनिवेशिकता को एक तरह के पाठात्मक भाष्यकार के रूप में देखती हैं, जिससे कि इस भाष्यकार के प्रयोग का सारा क्षेत्र ही उत्तरऔपनिवेशिक बन जाता है, इस आधार पर कि उसे एक विशिष्ट ढंग से पढ़ा जा रहा है। दोनों ही उत्तरऔपनिवेशिकता को अपनेआप में एक विशिष्ट विमर्श के रूप में देखती हैं, हालांकि उसकी न तो कोई विशिष्ट विषयवस्तु है और न ही कुछ सुनिश्चित गैर-विमर्शात्मक विशेषताएं हैं; वह वही है जो वह किसी समय विशेष पर **कहती है** कि वह है।

उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त एक उत्तरआधुनिक भाष्यकार है, इस बात को होमी भाभा ने इतनी स्पष्टता से कहा है जो आमतौर पर उनकी खासियत नहीं है; ''मैंने उत्तर संरचनावाद को एक विशिष्टतः उत्तर- औपनिवेशिक उद्गम स्रोत देना तय किया है।'' (पृ. 64) और यह तथ्य है कि तीन सर्वाधिक प्रभावशाली उत्तरऔपनिवेशिक आलोचक— एडवर्ड सईद, गायत्री स्पिवाक और होमी भाभा—अपनी-अपनी पद्धतियां फ्रांसीसी संरचनावाद की तीन सर्वाधिक प्रभावशाली प्रवृत्तियों से निःसृत करते हैं : सईद फूकोवादी प्रबन्ध विश्लेषण से, स्पिवाक देरिदावादी विखण्डन से और होमी भाभा लाकानवादी मनोविश्लेषण से। उनके आपसी अन्तरों के बिन्दु भी, उनकी अपनी-अपनी पद्धतियों और उनके गद्य की बुनावट की दृष्टि से फ्रांसीसी उत्तरसंरचनावाद की इन अलग-अलग प्रवृत्तियों से मेल खाते हैं।

फिर, आखिर उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त है क्या? शुरू में मैं कहना चाहूंगा कि जिस हद तक इसे एक सिद्धान्त कहा जा सकता है, उसमें भी उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त की पहचान इसकी विषयवस्तु की विशिष्टता से नहीं है, क्योंकि इसकी विषयवस्तु असीमित ढंग से बिखरी हुई और अनिश्चित है। इसकी पहचान इसकी भाष्यकारी प्रक्रिया से और सबसे बढ़कर एक **शैली** के रूप में है। इसलिए, **साहित्यिक उत्तरऔपनिवेशिकता** के सन्दर्भ में हम कह सकते हैं कि 1980 के उत्तरार्द्ध में उत्तर औपनिवेशिक सिद्धान्त के आविर्भाव के साथ ही कुछ सीमित शिक्षाशास्त्रीय विषय जैसे—तीसरी दुनिया का साहित्य, औपनिवेशिक प्रबन्ध, अंग्रेजी में **नया** साहित्य या तुलनात्मक साहित्य — सांस्कृतिक एवं दार्शनिक उत्तरआधुनिकताओं के तहत विलीन हो गये जो 'उत्तरआधुनिकता' के अर्थ का विस्तार कर सत्ता और प्रभुत्व की सभी संरचनाओं को इसमें शामिल कर लेती हैं। साथ ही, इसने एक अन्य दिशा में, साहित्यिक अध्ययन की प्रक्रियाओं और ऐतिहासिक अध्ययन की पद्धतियों का अन्तर भी समाप्त कर दिया जिससे कि खुद 'सबाल्टर्न स्टडीज़', जिसके संस्थापक रणजीत गुहा को एडवर्ड सईद ने ठीक ही उत्तरसंरचनावादी कहा था, को इस ग्रुप के ज्ञान प्रकाश ''उत्तरऔपनिवेशिक आलोचना'' का नया नाम देते हैं, और ऐसा करने में सीधे-सीधे ल्योतार, देरिदा और स्पिवाक के प्राधिकार की सहायता लेते हैं। इतिहास और साहित्य की श्रेणियों का यह उत्तरऔपनिवेशिक विघटन मुझे देरिदा द्वारा इसी प्रकार साहित्य व दर्शन की श्रेणियों के विघटन की हैबरमास द्वारा की गयी तीखी आलोचना की याद दिलाता है। देरिदा द्वारा इन श्रेणियों को मिला देने का प्रभाव तर्क के क्षेत्र पर रिटॅरिक के वर्चस्व को विस्तारित करने और भाषा के काव्यात्मक कार्य को इसके अन्य संज्ञानात्मक कार्यों के मुकाबले काफी तरजीह देने के रूप में

सामने आता है।

मैंने अभी-अभी तीसरी दुनिया के साहित्य या औपनिवेशिक विमर्श विश्लेषण जैसी चीजों के विघटन और उत्तरऔपनिवेशिकता के नामपट्ट के तहत उनके पुनर्गठन की चर्चा की है। यह प्रक्रिया कितनी नयी है, इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि राबर्ट यंग की 1990 में लिखी किताब, **व्हाइट मिथालॅजीज़** में एडवर्ड सईद, गायत्री स्पिवाक और होमी भाभा पर लिखे अध्यायों में 'उत्तर- औपनिवेशिकता', 'उत्तरऔपनिवेशिक' आदि शब्द दिखायी नहीं देते; जबकि शब्दसूची के अनुसार 'तीसरी दुनिया' शब्द बारह बार और 'औपनिवेशिक विमर्श' शब्द बाईस बार आया है। लेकिन 1994 के आरम्भ में आरिफ डिर्लिक ने **क्रिटिकल इन्क्वायरी** में अपने लेख में लिखा कि, ''**उत्तरऔपनिवेशिक** शब्द हाल के वर्षों में अकादमिक कार्यक्रमों के शब्दकोष में शामिल होने लगा है, और पिछले दो वर्षों में इससे सम्बन्धित शब्दावली से प्रेरित कई संगोष्ठियां और सम्मेलन आयोजित हुए हैं।'' (पृ. 328) वह इस ओर भी ध्यान दिलाते हैं कि भारत के बुद्धिजीवियों ने इस शब्दावली के ''गठन और प्रसारण'' में ''स्पष्टत: प्रमुख भूमिका निभायी है।'' डिर्लिक के शब्दों में,

उत्तरऔपनिवेशिक ''उत्तर'' चिन्हित शब्दों की कतार में सबसे हाल में शामिल हुआ है लेकिन यह काफी चर्चा में आ गया है। यह अपना विशिष्ट स्रोत उस क्षेत्र को बताता है जो इससे पहले तक तीसरी दुनिया कहलाता था। इसलिए इसका लक्ष्य यूरो-अमेरिकी सांस्कृतिक आलोचना के केन्द्रीय स्थलों से उद्भूत सांस्कृतिक चिन्ताओं और दिशाओं के भूमण्डलीय विस्तार के द्वारा सांस्कृतिक विमर्श का प्रामाणिक भूमण्डलीकरण करना है।... वस्तुत:, इसका लक्ष्य केन्द्र और परिधि के बीच तथा उन सभी ''युग्मों'' के बीच हर प्रकार के अन्तर को समाप्त कर देना है जो कथित तौर पर **औपनिवेशिक** सोच की विरासत हैं, ताकि समाजों को उनकी जटिल विषमताओं और आनुषंगिकता के साथ भूमण्डलीय स्तर पर उजागर किया जा सके। (पृ. 329)

डिर्लिक का यह सूत्रीकरण कम से कम तीन ऐसे बिन्दुओं को फिर से पुष्ट करता है जिन पर मैंने जोर दिया है। (1) यह कि 'उत्तरऔपनिवेशिकता' नीथामर द्वारा ''उत्तर अवस्था'' बतायी गयी स्थिति में उपजी अवधारणाओं में सबसे नयी है। (2) यह कि इसका उद्देश्य अब तक तीसरी दुनिया कहलाने वाले क्षेत्र के बारे में नया ज्ञान प्रस्तुत करना नहीं, बल्कि मौजूद ज्ञान को उत्तरसंरचनावादी प्रतिमानों के अनुसार पुनर्गठित करना और यूरो-अमेरिकी सांस्कृतिक उत्पादन के केन्द्रीय स्थलों से उद्भूत हो रही चिन्ताओं और दिशाओं का भूमण्डलीकरण कर यूरो-अमेरिकी दायरे के बाहर स्थित सांस्कृतिक उत्पादन के स्थलों पर अधिकार जमाना है। और (3) इस आलोचना के अधिकांश, खासकर होमी भाभा का, लक्ष्य साम्राज्यवाद और साम्राज्यवाद विरोध के सभी लम्बे समय से मौजूद प्रश्नों को विषमताओं और आनुषंगिकता की अनन्त क्रिया में विलीन कर देना है।

सांस्कृतिक आलोचना में आया यह नवीनतम मोड़ एक रूप में एक लम्बी प्रक्रिया की एक परिणति है। यह प्रक्रिया 1970 के दशक के मध्य में शुरू हुई थी जिसे मैंने अपनी किताब **इन थियरी** में विस्तार से विवेचित किया है, लेकिन आज मैं उन बातों को यहां दोहराना नहीं चाहता हूं। इतना ही कहना काफी होगा कि मेरी किताब तो काफी बाद में आयी, लेकिन अनिष्ट की एक आशंका काफी पहले से थी। यह आशंका कि यूरोप के भीतर उत्तरआधुनिक प्रभुत्व का अपरिहार्य परिणाम गैर-यूरोपीय इतिहासों और पाठों को उत्तरआधुनिकों द्वारा हड़प लिये जाने के रूप में सामने आयेगा। यह आशंका इस प्रभुत्व के निर्माण के लगभग साथ ही पैदा हो गयी थी। इसके संकेतों को सबसे पहले पहचानने वालों में नारीवादी विद्वान कुमकुम सांगरी थीं जिन्होंने अपने लेख ''पालिटिक्स ऑफ दि पॉसिबल'' में इस ओर ध्यान खींचा था। लेख 1987 में प्रकाशित हुआ पर इसका प्रारूप तीन वर्ष पहले लिखा गया था जैसा कि फुटनोट से जाहिर है। मैं यहां इस लेख के दो लम्बे उद्धरण प्रस्तुत करना चाहता हूं। वह पहले उस चीज की बात करती हैं जिसे वह कहती हैं —

> विशिष्टत: पश्चिमी, ऐतिहासिक रूप से विलक्षण उत्तरआधुनिक ज्ञानमीमांसा की अकादमिक प्रक्रियाएं जो बुर्जुआ विषय के आत्मबोधयुक्त विघटन को सार्वभौमीकृत करती है, अपने प्रसिद्ध हो चुके आत्मव्यंग्य के रुख के साथ।

वह आगे कहती हैं :

> उत्तरआधुनिक में अपने ज्ञान मीमांसात्मक पूर्वाग्रहों का सार्वभौमीकरण करने की प्रवृत्ति है—एक ऐसी प्रवृत्ति जो रैडिकल राजनीतिक सोच वाले आलोचकों के लेखन में भी दिखायी देती है। एक ओर, विश्व पश्चिम में सिकुड़ता जा रहा है; ''तीसरी दुनिया'' के सांस्कृतिक उत्पादनों पर एक यूरोकेन्द्रित परिप्रेक्ष्य (उदाहरण के लिए, यूरो-अमरीकी मार्क्सवाद का उत्तर-स्तालिनवादी, हेतुविज्ञान-विरोधी, स्वामी-विरोधी आख्यानात्मक संत्रास) थोपा जाता है; एक ''विशेषीकृत'' संशयवाद को सांस्कृतिक साज-सामान और ज्ञानमीमांसात्मक उपकरण के रूप में, देखने के एक ढंग के रूप में हर जगह ले जाया जाता है; और उत्तरआधुनिक निर्मेय **वह** फ्रेम बन जाता है जिसके जरिए शेष विश्व के सांस्कृतिक उत्पादों को देखा जाता है। दूसरी ओर, पश्चिम पूरे विश्व में फैलता जाता है, उत्तरवर्ती पूंजीवाद भूमण्डल को ढंक लेता है और समस्त सांस्कृतिक उत्पादन पर वर्चस्व कायम कर लेता है (या ऐसा करने का खतरा पैदा कर देता है)—किसी कारणवश, यह एक ''प्रधान आख्यान'' है जिसे शायद ही कभी तोड़ा जाता है, हालांकि यदि ''तीसरी दुनिया'' के देशों की विभेदपूर्ण आर्थिक, वर्गीय और सांस्कृतिक संरचनाओं को ध्यान में रखना है तो ऐसा किया जाना जरूरी है। इस स्थिति से उभरने वाला लेखन, औपनिवेशिक विमर्शों का चाहे जितना भी आलोचक क्यों न हो, अवसादपूर्ण ढंग से, एक समर्थकारी विचार के रूप में ''राष्ट्र'' को पदच्युत करता है और परिवर्तन के आवेगों के लिए नये स्थान तय करता है, हर जगह और कहीं नहीं...

> इसके अलावा, (अर्थ और ज्ञान प्रणालियों की) वैधता का संकट अपनेआप में एक आश्चर्यजनक रूप से ऊर्जस्वी ''प्रधान आख्यान'' बन जाता है, क्योंकि यह विश्व की ज्ञान प्रणालियों को अपनी ही छवि में ढालने या ''प्रसंस्कृत'' करने की कोशिश करता है; उत्तरआधुनिक ''संकट'' सत्तावादी बन जाता है क्योंकि... यह संस्थानों की संरचनाओं में गहराई से लिप्त है। वास्तव में, इसके बुर्जुआ मानवतावाद जैसे ही उद्धत बन जाने का खतरा है, जो अभिकथनों पर आधारित एक विचारधारात्मक युक्ति थी जबकि उत्तरआधुनिकता निषेधों और आत्मनिषेधों की एक श्रृंखला पर आधारित युक्ति प्रतीत होती है जिसके जरिए पश्चिम अपनी पहचान का पुनर्निर्माण कर रहा है... यह महत्वपूर्ण है कि अकादमियों में सामाजिक विज्ञानों के वस्तुपरक और उपकरण सम्बन्धी तौर-तरीकों का अस्वीकरण ऐसे समय में हो रहा है जब बाकी दुनिया से सूचना जुटाने की उन्नत तकनोलाजियों के जरिए ज्ञान एकत्र करने पर यूरोप-अमरीका का नियंत्रण बढ़ता जा रहा है।

मैंने आपको इतना लम्बा उद्धरण पढ़कर इसलिए सुनाया है क्योंकि मेरे विचार से कुमकुम सांगरी ने सम्भवत: सबसे पहले यह देख लिया था कि मेट्रोपोलिटन दायरों में विकसित, देर से

जन्मा एक पूंजीवादी भाष्यकार, **अनिवार्यतः** एक **सार्वभौमिक** भाष्यकार होने का दावा करेगा, पूरे विश्व को कच्चा माल मानते हुए। मेरे विचार से यह उसी बात को सटीक ढंग से प्रस्तुत करता है जैसा कि मैंने पहले उत्तरआधुनिक सिद्धान्त के विवर्धन के बारे में कहा था कि यह ज्यादा से ज्यादा ऐतिहासिक युगों को, ज्यादा से ज्यादा देशों और महाद्वीपों को अपने दायरे में लेता जा रहा है जबकि इस विस्तीर्ण क्षेत्र का ज्ञान प्रस्तुत करने की सम्भावना को यह उत्तरआधुनिक भाष्यकार की पूर्व स्वीकृति तक सीमित कर देता है।

खासतौर पर होमी भाभा का काम इसका मुखर उदाहरण है कि कैसे इस तरह का भाष्यकार पूरे विश्व को अपने कच्चे माल के रूप में हड़पने की प्रवृत्ति रखता है लेकिन इसके साथ ही ऐतिहासिक रूप से निर्मित मतभेदों व अन्तरों के मुद्दे को, बल्कि ऐतिहासिक काल के पूरे ढांचे को ही, एक ओर अन्तहीन विषमताओं की निरर्थक गतिविधि के रूप में और दूसरी ओर वर्तमान संघर्षों को एक मनोवैज्ञानिक ड्रामा की तरह पेश करने के सतत मनोवेग में विलीन कर देता है। इस प्रक्रिया में कई चीजें छूट जाती हैं। फ्रायडियन मनोविश्लेषण की जिन श्रेणियों को लाकान ने भाषाशास्त्रीय माडल पर लागू किया था वे व्यक्तिगत धरातल पर मनोवैज्ञानिक गड़बड़ियों के प्रारूप-विज्ञान से सम्बन्धित थीं; उन्हें इतिहास के धरातल पर लागू किया जाए और अवधारणाएं मात्र रूपकालंकार बनकर ही न रह जाएं, इसमें सन्देह है। इस समस्या के समाधान के लिए भाभा दो परस्पर विरोधी विलक्षणताओं का निर्माण करते हैं : उपनिवेशक और उपनिवेशीकृत, जो दोनों ही वर्ग, लिंग, ऐतिहासिक काल, भौगोलिक स्थिति बल्कि किसी भी तरह की ऐतिहासिक या व्यक्तिगत अभिलाक्षणिकता से मुक्त होते हैं। ये दोनों ही अमूर्त सार्वभौम ऐसे मानसिक दबावों और जरूरतों को लिये होते हैं जो अद्‌भुत रूप से हर जगह एक समान बने रहते हैं। उदाहरण के लिए, कहा जाता है कि उपनिवेशक हमेशा ही ऐसे किसी उपनिवेशीकृत से घबराता है जो किसी हद तक उपनिवेशक की संस्कृति को अपनाने में सफल रहा है। मूर्त भाषा में इसका अर्थ यह हुआ कि उपनिवेशक अपने से बिलकुल भिन्न आबादी के सामाजिक आधार पर खड़े जनान्दोलनों से नहीं डरते थे बल्कि उस शिक्षित, बौद्धिक अभिजात वर्ग से घबराते थे जो यूरोपीय संस्कृति में रच-बस गया था। यह दिखाने वाले ऐतिहासिक साक्ष्य कहां हैं? भाभा तथ्यात्मकता और ऐतिहासिक प्रमाण के ऐसे प्रश्नों से ऊपर उठ चुके हैं, शायद इसलिए क्योंकि उनके नजरिए से इतिहास तार्किकता द्वारा आविष्कृत एकरेखीय काल का आविष्कार है, और मनोविश्लेषण से वह यह **जानते** हैं कि 'स्व' पूर्ण 'अन्यत्व' (Otherness) से इतना नहीं घबराता जितना कि इस बात से कि इस 'अन्यत्व' में उसके अपने 'स्व' का बहुत अधिक अंश है। दूसरे शब्दों में, वास्तव में सबसे अधिक परेशान करने वाली बात खुद की नकल (मिकिक्री) या कैरिकेचर को देखना है। वर्णसंकर औपनिवेशिक बुद्धिजीवी उपनिवेशक की नकल करता है और इस तरह उपनिवेशक में व्यामोह पैदा करता है—भाभा के अनुसार औपनिवेशिक संघर्ष में यह केन्द्रीय अन्तरविरोध है जिसका चरित्र मूलतः विमर्शात्मक और मानसिक होता है।

उपनिवेशीकृत की हीन भावना को दर्शाते हुए नायपॉल जिस नकल का प्रतिनिधित्व करते हैं, वह भाभा के शब्दों में, ''शानदार प्रतिरोध का प्रतीक'' बन जाती है। उपनिवेशवादी सत्ता अपनी नकल करना सीख गये औपनिवेशिक भद्रलोक के मुकाबले क्रान्तिकारी उपनिवेशवाद-विरोध से कहीं ज्यादा घबरायी होगी, इस सम्भावना को भाभा अद्‌भुत उदासीनता के साथ परे हटा देते हैं : ''मैं क्रान्तिकारी संघर्ष के व्यवहार या विमर्शों को ''औपनिवेशिक विमर्श'' का दूसरा पहलू नहीं मानता।''

''नकल'' के ''शानदार संघर्ष'' होने की इस विशिष्ट अवधारणा के साथ-साथ औपनिवेशिकता पर भाभा के विमर्श का दूसरा केन्द्रीय विचार वर्णसंकरता है जो खुद को सारभूतवाद (essentialism) की आलोचना के रूप में पेश करती है और अनेक नामों से वर्णित की जाती है। लेकिन सारतः यह दो मुख्य रूप लेती है : सांस्कृतिक वर्णसंकरता और जिसे हम दार्शनिक या यहां तक कि राजनीतिक वर्णसंकरता भी कह सकते हैं। सांस्कृतिक वर्णसंकरता की अवधारणा के पीछे मूल विचार सीधा सा है, कि आज आधुनिक संस्कृतियों के बीच आदान-प्रदान इतना तेज है कि ऐसी विविक्त राष्ट्रीय संस्कृतियों की बात करना मुश्किल है जो इस आदान-प्रदान के चलते आधारभूत ढंग से रूपान्तरित नहीं हो गयी हैं। सामान्य तौर पर इस विचार को एक सामान्योक्ति ही माना जा सकता है क्योंकि इसका सामान्यीकरण किसी विशिष्ट अर्थ में **गलत** नहीं हो सकता। लेकिन इस सामान्योक्ति के बाद आने वाली बातें समस्याप्रद हैं। इसी दलील के दो छोरों पर, कहा गया है कि सांस्कृतिक वर्णसंकरता (अ) विशिष्टतः प्रवासी, खासतौर पर पाश्चात्य महानगरीय परिवेश में रह और काम कर रहे प्रवासी **बुद्धिजीवी** से जुड़ी है; और साथ ही, (ब) यह उत्तरआधुनिकता की एक सामान्यीकृत स्थिति है जिसमें सभी समकालीन संस्कृतियां अब अन्तिम रूप से प्रविष्ट हो चुकी हैं — जिससे कि प्रवासी, खासकर पाश्चात्य महानगरीय परिवेश में रह और काम कर रहे प्रवासी (उत्तरआधुनिक) बुद्धिजीवी की छवि वर्णसंकरता की एक सार्वभौमिक स्थिति को दर्शाती है और उसके पास कथित तौर पर एक ऐसा 'सत्य' होता है जो अपनी राष्ट्रीय संस्कृतियों में रह रहे व्यक्तियों के पास नहीं होता। उत्तरऔपनिवेशिकता के ऐसे 'सत्यधारकों' को एडवर्ड सईद ''सांस्कृतिक उभयचरों'' का नाम देते हैं; इसी तरह प्रवासीपन के सलमान रुश्दी के ट्रीटमेंट (''इतिहास से, स्मृति से, समय से ऊपर बहते हुए'') में भी यही विचार निहित है कि प्रवासी को **दोनों** संस्कृतियों की बेहतर समझदारी होती है, उससे भी ज्यादा जितनी कि अपनी जगह पर रहने वाले बुद्धिजीवियों को खुद अपनी संस्कृति की समझ होती है। भाभा तक पहुंचते-पहुंचते महानगरीय परिवेश के प्रवासी बुद्धिजीवी को उपलब्ध सांस्कृतिक वर्णसंकरता का बखान और तेज हो जाता है :

> ''अमरीका अफ्रीका से मेल करता है; यूरोप और एशिया के राष्ट्र आस्ट्रेलिया में मिलते हैं; राष्ट्र के सीमान्त केन्द्र को विस्थापित कर देते हैं... अमरीका के महान व्हिटमैनीय संवेदन तंत्र का विनिमय वार्होल के ब्लोअप, क्रूगर के इन्स्टालेशन या मैपलथोर्पे के नग्न शरीरों से होता है।''

भाभा के लेखन में ऐसे जबर्दस्त और भूमण्डलीय सुखों तक पहुंच रखने वाले, महाद्वीपों के आर-पार यात्रा करने वाले और कलाकृतियों की रेलमपेल में धंसे उत्तरऔपनिवेशिक का दृष्टिकोण एक पुरुष, बुर्जुआ तमाशबीन का है जो सबकुछ पहले से मानकर चलता है और अपनी महानता पर मुग्ध है। हमें बताया जाता है कि ''सबसे सच्ची आंख अब शायद प्रवासी की दोहरी दृष्टि के पास है'', और फिर हमें वह विचारधारात्मक स्थिति बतायी जाती है जहां से यह ''सबसे सच्ची आंख'' अपना काम करती है : ''मैं सांस्कृतिक विस्थापन के बदलते सीमान्तों पर अपना रुख स्पष्ट करना चाहता हूं, जो किसी 'राष्ट्रीय' संस्कृति या 'अंगभूत' बुद्धिजीवी के किसी गहरे या ''प्रामाणिक'' बोध को खारिज करता है...।'' इस तरह भाभा एक झटके में अंतोनियो ग्राम्शी को—और ज्यादा सामान्यीकृत रूप में, इस विचार को ठिकाने लगा देते हैं कि एक स्थान का, कहीं का होने का बोध और अपने वर्ग, या लिंग या राष्ट्र के प्रति सुस्थिर प्रतिबद्धता किसी की राजनीति को परिभाषित करने में उपयोगी हो सकती है। फिर भाभा अपना राजनीति बोध प्रस्तुत करते हैं :

आलोचना की भाषा इसलिए प्रभावी नहीं

है क्योंकि यह स्वामी और दास, वणिकवादी और मार्क्सवादी की शब्दावलियों को हमेशा अलग-अलग करती है बल्कि यह उसी स्तर तक प्रभावी होती है जहां तक यह विरोध की जमीन को पारकर 'अनुवाद' की गुंजाइश निकालती है : वर्णसंकरता के लिए स्थान बनाती है...। यह एक संकेत है कि इतिहास **घटित हो रहा है**, सिद्धान्त के पृष्ठों पर...।

इस प्रकार प्रवासी बुद्धिजीवी की सांस्कृतिक वर्णसंकरता (''सबसे सच्ची आंखें''), जिसे ग्राम्शी के ''अंगभूत बुद्धिजीवी'' (organic intellectual) की अवधारणा के नकार के रूप में स्थित किया गया है, के साथ एक दार्शनिक वर्णसंकरता (भाभा की अपनी ''आलोचना की भाषा'') जुड़ जाती है जो इसी तरह ''वणिकवादी और मार्क्सवादी'' के बीच के भेद को खारिज करती है जिससे ''इतिहास'' ज्यादातर ''सिद्धान्त के पृष्ठों में'' होने वाली ''घटना'' भर होकर रह जाता है। ये सांस्कृतिक और दार्शनिक वर्णसंकरताएं, राजनीति की एक निश्चित अवधारणा की ओर ले जाती हैं जिसकी रूपरेखा भाभा अपने लेख **उत्तरऔपनिवेशिक और उत्तरआधुनिक : अभिकर्ता का प्रश्न** (The Postcolonial and the Postmodern : The Question of Agency) में प्रस्तुत करते हैं। हमें फिर बताया जाता है कि ''अभिकर्ता का व्यष्टीकरण विस्थापन के क्षण में होता है'' क्योंकि ''समकालीन उत्तरऔपनिवेशिक विमर्शों की जड़ें सांस्कृतिक विस्थापन के विशिष्ट इतिहास में निहित हैं।'' वर्णसंकरता और अभिकर्ता-विस्थापन की यह जुगलबन्दी फिर ''आनुषंगिकता की राजनीति की ओर ले जाती है जहां आनुषंगिकता को ''प्रभुत्ववाद विरोधी रणनीतियों के पारिभाषिक शब्द'' के रूप में परिभाषित किया जाता है। राजनीति के वर्णसंकर, विस्थापित, आनुषंगिक रूपों के विस्तार और परिष्कार का काम रणजीत गुहा और वीणा दास जैसे कई लेखकों की मदद से पूरा होता है। वीणा दास के एक उद्धरण की, जिसे भाभा काफी सराहना करते हैं, मैं यहां चर्चा करूंगा जिसके मुताबिक स्थायी जातीय चेतना जैसी ऐसी कोई चीज नहीं होती जिससे भारत में हो रहे जाति संघर्षों को समझने में मदद मिल सके। मैं भाभा और उनके द्वारा उद्धृत दास, दोनों को यहां उद्धृत कर रहा हूं :

> ''अपने बेहतरीन निबन्ध सबाल्टर्न ऐज़ पर्सपेक्टिव' में दास सबाल्टर्न के एक नये इतिहासलेखन की मांग करती हैं जो 'रैशनल एक्शन' द्वारा परिभाषित सामाजिक कार्रवाई की रूपावली को विस्थापित कर दे। वह विमर्श का ऐसा रूप चाहती हैं जिसमें भावनात्मक और पुनरावृत्तात्मक लेखन अपनी खुद की भाषा विकसित करे... यह छद्मवेशीय वर्णसंकरता की एक प्रतिद्वंद्वी, प्रतिरोधी अभिकर्ता के रूप में ऐतिहासिक गति है। राजनीतिक अभिकर्ता के इसी सैद्धान्तिक रूप को मैंने विकसित करने का प्रयास किया है जिसे दास एक ऐतिहासिक दलील में ठोस शक्ल देती हैं :
>
> > कोई जाति या जनजाति जिस संघर्ष में उलझी है, उसकी प्रकृति ही ऐतिहासिक क्षण की अभिलाक्षणिकताओं का निर्धारण करती है; यह मानकर चलना कि जातियों और समुदायों की मानसिकताओं का हमें पूर्वज्ञान होगा, एक सारभूतवादी परिप्रेक्ष्य अपनाना होगा जो **सबाल्टर्न स्टडीज़** के ग्रन्थों में दिये गये साक्ष्यों से पुष्ट नहीं होता।

''पूर्वज्ञान'' का सवाल छोड़ दें (किसी ने भी ''पूर्वज्ञान'' के पक्ष में दलील नहीं दी है) तो दास के परिप्रेक्ष्य की विशेषता इस बात की वकालत में है कि जाति संघर्षों के मामले में हरेक ऐतिहासिक क्षण को **अपनेआप में विशिष्ट** माना जाना चाहिए जो खुद अपने भीतर अपनी व्याख्या छुपाये हुए है। अगर आप ''सारभूतवादी'' होने के आरोप से बचना चाहते हैं तो आपको यह मानना ही पड़ेगा।

किसी संघर्ष विशेष को समझने में उसकी विशिष्टता की समझदारी को **शामिल** होना ही चाहिए, यह बात इतनी जाहिर है कि इसे दोहराने की जरूरत नहीं। दास यहां इस जाहिर बात की नहीं बल्कि इस बात की वकालत कर रही हैं कि हरेक संघर्ष की समझदारी को उस संघर्ष विशेष की अभिलाक्षणिकताओं तक **सीमित** रखा जाना चाहिए। वह इस बात से मूलभूत रूप से इन्कार करती हैं कि किसी संघर्ष विशेष के रूप में फूट पड़ने से **पहले** जातीय मानसिकताओं में ऐतिहासिक गहराई और स्थायी विशिष्टताएं हो सकती हैं। दूसरे शब्दों में, इस बात से इन्कार किया जाता है कि जाति एक संरचना है और भारतीय समाज में शक्तियों एवं विशेषाधिकारों के वितरण की एक आनुषंगिक विशेषता भर नहीं है और अलग-अलग जातियों के सदस्य शक्ति और वंचना के इतिहास को साथ लिये होते हैं, जिससे कि जिन संघर्षों में जातियां ''उलझी होती हैं'' (दास के शब्दों में), वे इस इतिहास से अलग नहीं किये जा सकते, चाहे इस सुदीर्घ संघर्ष की किसी विशिष्ट अभिव्यक्ति की खासियत का अलग से कितना ही अध्ययन क्यों न किया जाये।

हालांकि अपने तर्क के मुताबिक भाभा सही हैं। दास का जातीय मानसिकता जैसी कोई चीज होने से इन्कार और इस बात पर जोर कि सभी ऐतिहासिक क्षण अपनेआप में विशिष्ट होते हैं, भाभा की इस दलील से पूरी तरह मेल खाता है कि मानवीय गतिविधि की व्याख्या गैर-तार्किक होनी चाहिए और कि ऐतिहासिक अभिकर्ता विस्थापन में निहित होते हैं। मैं कहना चाहूंगा कि ऐसी अवधारणाएं, राजनीतिक कार्रवाई के आधार को ही बाहर छोड़ देती हैं। क्योंकि एक सामूहिक मानवीय अभिकर्ता (जैसे अपने अधिकारों के लिए ऊंची जातियों के विशेषाधिकारों के विरुद्ध लड़ते शोषित जातियों के संगठित समूह) का विचार संचारी तर्कशीलता और तर्कपूर्ण कार्रवाई को लेकर चलता है। दूसरे शब्दों में यह मानता है कि अभिकर्ता प्रवाह या विस्थापन में नहीं, बल्कि निश्चित ऐतिहासिक स्थितियों में निर्मित होते हैं।

उत्तरी अमरीका से देखने पर चाहे जैसा भी दिखे, और प्रवासी की ''सबसे सच्ची आंख'' चाहे जो भी देखना चाहे, तथ्य यह है कि इतिहास में सतत प्रव्रजन नहीं होता रहा है, इसलिए ''विस्थापन'' की सार्वभौमिकता, जिसके आम मानवीय अवस्था और वांछित दार्शनिक स्थिति दोनों होने का भाभा दावा करते हैं, वह न तो विश्व के वर्णन के रूप में और न ही सामान्यीकृत राजनीतिक सम्भावना के रूप में कहीं ठहरती है। वाणिज्य और क्रान्ति के बीच, ''वणिकवादी और मार्क्सवादी'' के बीच के भेद खत्म करने की उनकी इच्छा हो सकती है और वह अपनी पसन्द चुनने के लिए आजाद हैं, लेकिन यह उत्तरऔपनिवेशिकता जैसी किसी चीज का ''सिद्धान्त'' तो नहीं हो सकता। ज्यादातर व्यक्तियों को इतनी आजादी नहीं होती कि वह हर आने वाले दिन के साथ अपने को नये तरीके में ढाल लें, न ही ऐसा होता है कि समुदाय अनन्त आनुषंगिकता की विरल हवा से पैदा होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं। खुद प्रवासियों में, केवल विशेषाधिकार सम्पन्न ही निरन्तर गतिशीलता और अत्यधिक आनन्द का, व्हिटमैन और वार्होल दोनों के रसास्वादन का जीवन बिता सकते हैं। ज्यादातर प्रवासी गरीब होते हैं और उनके लिए विस्थापन प्रचुर सांस्कृतिक अनुभव नहीं बल्कि यंत्रणा होती है। वे विस्थापन नहीं, बल्कि एक **स्थान** चाहते हैं जहां से वे एक थोड़े-बहुत स्थिर भविष्य के लिए नयी शुरुआत कर सकें। ज्यादातर चीजों की तरह उत्तरऔपनिवेशिकता भी वर्ग का मामला है।

भाभा की यह चर्चा मैंने अपनी इस बात के सन्दर्भ में की कि उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त का सार, जैसाकि इसके मुख्य प्रतिपादक भाभा और स्पिवाक ने निरूपित किया है, वास्तव में उन्नत पूंजीवादी देशों के बाहर से जुटायी गयी सांस्कृतिक सामग्री पर उत्तरआधुनिक के भाष्यकारी प्राधिकार को स्थापित करने का एक प्रमुख उपकरण है। ऐतिहासिक अनुसंधान के क्षेत्र में सबाल्टर्नवादी

शब्दावली का उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त के सार के साथ फिर से मेल, और अमरीका में इस शब्दावली को मिल रही अपार स्वीकृति उत्तरआधुनिक के इस विशिष्ट भूमण्डलीकरण में एक महत्वपूर्ण तत्व है। मैं गायत्री स्पिवाक के प्रसिद्ध—शायद सर्वाधिक प्रसिद्ध, निबन्ध ''कैन दि सबाल्टर्न स्पीक?'' के बारे में कुछ बातों से इसे स्पष्ट करना चाहूंगा। यह एक काफी लम्बा निबन्ध है और इसका सार-संक्षेप प्रस्तुत करने का मेरा कोई इरादा नहीं है। मैं केवल एक निश्चित तर्क को आगे बढ़ाना चाहता हूं।

अगर आपने निबन्ध पढ़ा है तो आपको याद होगा कि यह फूको और डेल्यूज़ की एक लम्बी और जोशीली आलोचना के साथ शुरू होता है। आलोचना का आधार यह है कि शक्ति की संरचनाओं का उनका निरूपण बुरी तरह गलत है क्योंकि वे यूरोप को अपने में बन्द और आत्मनिर्भर इकाई के रूप में देखते हैं और इस प्रकार यूरोप के निर्माण में, यानी शक्ति की उन्हीं संरचनाओं के निर्माण में साम्राज्यवाद की केन्द्रीय भूमिका की उपेक्षा करते हैं जो फूको और डेल्यूज़ के विश्लेषण का विषय हैं। मुद्दा बिलकुल अस्वीकरणीय है और स्पिवाक बड़े जोश के साथ इस पर दलीलें देती हैं, हालांकि सईद ने एक दशक पहले, ज्यादा विस्तार के साथ **ओरियंटलिज़्म** में यूरोप के बारे में ठीक यही बात कही थी और जब तक 1988 में स्पिवाक का निबन्ध प्रकाशित हुआ, तब तक सईद भी यूरोपीय साम्राज्यवाद और यूरोप के बाहर साम्राज्यवादी सत्ता के प्रतिरोध के मुद्दे की उपेक्षा करने के लिए फूको की आलोचना कर चुके थे। स्पिवाक सही थीं पर मौलिक कतई नहीं। आपको यह भी याद होगा कि फूको और डेल्यूज़ की आलोचना के बाद निबन्ध के एक अन्य हिस्से में विधवा दहन की काफी विस्तृत चर्चा है, जो मुख्यत: लता मणि के शोध 'सती पर औपनिवेशिक विमर्श' पर आधारित है। मार्क्स, फ्रायड, प्रथम और तृतीय विश्व के नारीवाद, सारभूतवाद, रणजीत गुहा आदि के बारे में और भी कई विषयांतर है। निबन्ध का दो-तिहाई से भी ज्यादा पढ़ लेने के बाद ही इसका वास्तविक उद्देश्य समझ में आने लगता है—जो इस प्रकार है।

आपको याद होगा कि अस्सी के दशक के मध्य में, जब यह निबन्ध लिखा गया था, आंग्लभाषी देशों में फ्रांसीसी उत्तरसंरचनावाद की मुख्य हस्ती देरिदा नहीं बल्कि फूको थे और अकसर यह दावा किया जाता था कि फूको ने इतिहास और राजनीति को समझने में हमारी कितनी मदद की है। स्पिवाक के उद्धरणों से ऐसा लगता है कि फूको की इस सराहना के साथ-साथ प्राय: देरिदा के बारे में कुछ प्रतिकूल टिप्पणियां होती थीं। वह राजनीति से बचने की देरिदा की प्रवृत्ति पर ईगलटन, सईद और पेरी एंडरसन को उद्धृत करती हैं। अब यह बात स्पष्ट हुई है कि स्पिवाक के निबन्ध का कुल उद्देश्य यह दिखाना है कि भले ही फूको प्राय: राजनीति की चर्चा करते हैं लेकिन वह ऐसी दलीलें पेश करते हैं जो मूलत: गलत होती हैं और हालांकि देरिदा आम तौर पर इतिहास या राजनीति पर कुछ नहीं कहते लेकिन उनका विखण्डन ऐतिहासिक और राजनीतिक अभिलेखों को समझने की एक कहीं बेहतर पद्धति प्रदान करता है। 19वीं शताब्दी में विधवा दहन पर ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के प्रतिबन्ध की चर्चा को इस तरह प्रस्तुत किया गया है ताकि फूकोवादी भाष्यकार की तुलना में देरिदावादी भाष्यकार की श्रेष्ठता प्रदर्शित की जा सके। लेकिन उनकी सबसे महत्वपूर्ण दलील निबन्ध के अन्तिम दो पृष्ठों में आती है जब स्पिवाक 1920 के दशक में एक अविवाहित बंगला स्त्री की आत्महत्या के बारे में जो भी थोड़ा-बहुत जानती हैं, उसका समाहार प्रस्तुत करती हैं। उनके अनुसार उन्होंने इसके बारे में ''पारिवारिक सूत्रों'' से सुना था। दूसरे शब्दों में, साक्ष्य गैर-दस्तावेज़ी है और इस घटना के बारे में इतना कम पता है कि आत्महत्या के पीछे क्या कारण थे, यह निश्चित नहीं किया जा सकता। हम बस इतना जानते हैं, वह भी केवल स्पिवाक के हवाले से, कि मरने के समय उसका मासिक धर्म चल रहा था, जिससे पता चलता है कि उसने किसी से अवैध सम्बन्ध के कारण गर्भवती हो जाने के बाद आत्महत्या नहीं की थी। स्पिवाक के लिए यह मृत स्त्री, जिसे वह ''आत्महत्या का पाठ'' कहती हैं, सबसे पहले, देरिदा के इस आग्रह का अन्तिम प्रमाण बन जाती है कि पाठ की अपनेआप में बहुत सीमाएं होती हैं, अर्थ निश्चित नहीं किया जा सकता, और किसी पाठ का अन्तिम अर्थ निकालने के लिए पाठकों को अपनी भूमिका के प्रति कितना अधिक सचेत होना चाहिए। दूसरे, यह स्त्री या ''आत्महत्या का पाठ'' स्पिवाक को दिखाती है कि कैसे वास्तविक सबाल्टर्न कभी बोल नहीं सकता, और इसलिए सबाल्टर्न चेतना के बारे में कोई भी दावे हमेशा ही तर्क के आधार पर निकाले नतीजे होते हैं, जो जितना जाना जा सकता है, उससे ज्यादा होते हैं। तीसरे, हालांकि इस ''आत्महत्या के पाठ'' की चेतना तक हमारी कोई पहुंच नहीं है, पर यह तथ्य कि आत्महत्या के समय उसका मासिक धर्म चल रहा था, दिखाता है कि उसने खुद अपने शरीर से स्पष्ट कर दिया कि वह सती की जाने वाली पत्नी नहीं थी क्योंकि जिनका मासिक धर्म चल रहा हो उन पत्नियों के सती होने की कर्मकाण्ड के अनुसार अनुमति नहीं थी। इसके बाद हमें कमोबेश विजयी स्वर में बताया जाता है कि ''आत्महत्या के पाठ'' की इस तीक्ष्ण समझदारी को देरिदावादी विखण्डन इस तरह सम्भव बनाता है जो फूकोवादी विमर्श सिद्धान्त नहीं कर सकता।

मुझे इस निबन्ध में जो सबसे विलक्षण बात नजर आयी वह है इस उत्तरऔपनिवेशिक भाष्यकार का दोतरफा इस्तेमाल। **एक** ओर गरीब बंगाली स्त्रियों, जो अपने बारे में कोई भी साक्ष्य नहीं छोड़ जाती थीं, की मौतों को उच्च सिद्धान्त की भाषा में साक्ष्य के बतौर पेश किया जा सकता है, एक ऐसे विवाद को हल करने के लिए जो कि उच्च सिद्धान्त का आन्तरिक मामला है, यानी देरिदा और फूको के सापेक्षिक गुणों के बारे में छिड़ा विवाद। **दूसरी** ओर विखण्डन की श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिए ''आत्महत्या के पाठ'' को पूर्ण मौन और बगावती स्वर, दोनों के रूप में पढ़ा जा सकता है। निबन्ध का मूल सिद्धान्त भी इतना ही विलक्षण है, यानी वास्तविक सबाल्टर्न वही है जो खुद अपने लिए नहीं बोल सकता और इसलिए जिसका इतिहास नहीं लिखा जा सकता। सबाल्टर्न की सामान्यीकृत अवस्था के बारे में यह निष्कर्ष निबन्ध में प्रस्तुत साक्ष्य के सापेक्ष बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया गया है क्योंकि ज्यादातर लोग विधवा दहन के बारे में छिटपुट टिप्पणियों और एक आत्महत्या के संक्षिप्त विवरण के आधार पर इतना अतिवादी निष्कर्ष नहीं निकालना चाहेंगे। लेकिन सबाल्टर्न के मौन और इसके परिणामस्वरूप सबाल्टर्न का कोई इतिहास होने की असम्भाव्यता का मुद्दा सबाल्टर्नवादियों के बीच प्राय: उठता रहता है। इसलिए यह पूछना उपयोगी होगा कि सबाल्टर्न कौन है और स्पिवाक उसे कैसे परिभाषित करती हैं। चूंकि समकालीन भाषा-शैली में 'सबाल्टर्न' शब्द ग्राम्शीय किस्म के मार्क्सवाद से आया है, और चूंकि स्पिवाक खुद को देरिदावादी मार्क्सवादी नारीवादी कहती हैं, इसलिए सबाल्टर्न की उनकी परिभाषा तक पहुंचने से पहले हम मार्क्सवाद की एक परिचित थीम के उनके ट्रीटमेण्ट का संक्षिप्त सन्दर्भ लेंगे।

स्पिवाक के शब्दों में, ''साम्राज्यवाद उत्पादन प्रणाली के आख्यान की सार्वभौमिक मानकीयता को स्थापित करने का एक ढंग है।'' यहां समस्त इतिहास को विभिन्न प्रकार के आख्यानों के टकराव के रूप में देखने की साहित्यिक-आलोचना की आश्चर्यजनक आदत से हमारा सामना होता है; खुद साम्राज्यवाद का वर्णन पूंजीवादी प्रणाली के सार्वभौमीकरण के रूप में नहीं बल्कि इस प्रणाली के **आख्यान** के रूप में होता है। लेकिन इस सूत्रीकरण में यह विचार निहित है कि उत्पादन प्रणालियों के रूप में बात करने का अर्थ है, साम्राज्यवाद द्वारा तय की गयी भाषा में और **वह** जिसे मानकीय समझता है, उसके अनुसार बोलना। आगे, स्पिवाक एक ओर खुद को ''पुराने ढंग

की मार्क्सवादी'' कहने पर जोर देती हैं और दूसरी ओर इतिहास के भौतिकवादी और तर्कपूर्ण लेखन को तिरस्कारपूर्ण ढंग से 'उत्पादन प्रणाली के आख्यान' कहकर खारिज करती हैं। यह आदत 'सबाल्टर्न परिप्रेक्ष्य' की नियमित विशेषता बन जाती है और स्पिवाक की भंगिमा ज्ञान प्रकाश, दीपेश चक्रवर्ती और अन्यों के लेखन में दोहराई जाने लगती है।

तथाकथित 'उत्पादन प्रणाली के आख्यान' से इस दूरी का अर्थ होता है कि जब पूंजीवाद और साम्राज्यवाद को अन्तरराष्ट्रीय श्रम विभाजन का एक रूप मान लिया जाता है तब भी इस विभाजन का कोई भी विश्लेषण मजदूरों और किसानों के पूरी तरह विभेदीकृत वर्गों पर सरसरी नजर डालकर गुजर जाता है और वास्तविक सबाल्टर्न केवल उन्हें मानता है जिन्हें स्पिवाक कहती हैं, ''उस विभाजन के निकृष्टतम कोटि के शिकार, शहरी उप-सर्वहारा और असंगठित ग्रामीण आबादी की स्त्रियां।'' ('रानी ऑफ सिरमौर')। मेरे ख्याल से यह कहना जरूरी है कि स्पिवाक चाहे जो दावा करें, यह अब तक ज्ञात मार्क्सवाद की किसी किस्म से मेल नहीं खाता। निश्चित रूप से यह तथ्य है कि उप-सर्वहारा और असंगठित ग्रामीण आबादी की स्त्रियां पूंजीवाद और साम्राज्यवाद द्वारा ढाये जाने वाले कहर की सबसे बुरी मार झेलती हैं, लेकिन मैं यह कहना चाहूंगा कि ''निकृष्टतम कोटि के शिकारों'' की संख्या इससे कहीं ज्यादा है और कम से कम इसमें सर्वहारा तथा संगठित किसान आबादी की स्त्रियां तो शामिल हैं ही। इस परिभाषात्मक समस्या के अलावा स्पिवाक के कम से कम तीन और कदम इतने ही महत्वपूर्ण हैं। पहला, सबाल्टर्न के सार को इस तरह परिभाषित करने के बाद वह अपने ही प्रसिद्ध प्रश्न—क्या सबाल्टर्न बोल सकता है?—का उत्तर इस प्रस्थापना से देती हैं कि ''ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां से सबाल्टर्न (स्त्रीलिंग) विषय बोल सकता है।'' यहां इसका कुल मतलब यही हुआ कि शहरी उप-सर्वहारा और असंगठित ग्रामीण आबादी की स्त्रियों का आधिकारिक दस्तावेजों में कोई प्रतिनिधित्व नहीं होता और यदि वे इन दस्तावेजों में जगह पाती भी हैं तो उन्हें किस तरह से प्रस्तुत किया गया है, इस पर उनका कोई नियंत्रण नहीं होता। इसी अर्थ में सती सबाल्टर्न मौन और पितृसत्ता तथा साम्राज्यवाद दोनों द्वारा आदेशित आत्म-विनाश का प्रतीक चिन्ह बन जाती है। स्पिवाक के शब्दों में, ''साम्राज्यवाद-में-स्त्री के उदाहरण के रूप में सती की घटना... ''विलोपन'' के स्थान को मौन और अनस्तित्व के बजाय एक भिन्न चीज से चिन्हित करती है, वह है विषय और वस्तु-जैसी स्थिति के बीच एक उग्र सन्देह की स्थिति।''

मुझे यह बात कतई स्पष्ट नहीं है कि आत्मदाह करने वाली स्त्री को ''साम्राज्यवाद-में-स्त्री का उदाहरण'' मानने की आज क्या जरूरत है। ऐसा केवल उसी सीमित अर्थ में माना जा सकता है जिस अर्थ में ऐसी आत्मदाह करने वाली स्त्रियों को उपनिवेशवादियों द्वारा (और सिर्फ उपनिवेशवादियों द्वारा ही नहीं) भारतीय स्त्रीत्व के सार का प्रतिनिधित्व करने वाला माना जाता था। भारी संख्या में गरीब स्त्रियों का सर्वहाराकरण, या 'भद्रमहिला' का अखिल भारतीय उत्पादन या मध्यवर्गीय राष्ट्रवादी महिला को ''साम्राज्यवाद-में-स्त्री'' का कम से कम बराबर का प्रतिनिधि क्यों नहीं माना जाना चाहिए।

यह दलील कि स्त्री सबाल्टर्न का सार यह है कि वह बोल नहीं सकती, अपनेआप में चौंकाने वाली है क्योंकि इस सूत्रीकरण में सबाल्टर्न स्त्री की स्थिति, उसकी विषयनिष्ठता का प्रश्न या खुद अपने इतिहास का निर्धारण करने की उसकी क्षमता, प्रतिरोध की उसकी क्षमता पर या अपने जैसों के साथ मिलकर संघर्ष करने की उसकी क्षमता पर नहीं निर्भर करती बल्कि उसके **प्रतिनिधित्व** पर, दस्तावेजों में उसकी उपस्थिति के रूप पर, शोधकर्ता के साथ सीधे स्पष्ट संवाद कर पाने (शायद पुस्तकालय के बन्द कमरे में) की उसकी अक्षमता पर निर्भर करती है। यह बात अपने आप में समस्याप्रद है। लेकिन इतना ही नहीं है। इसका निहितार्थ यह है कि जो कोई भी अपना प्रतिनिधित्व कर **सकता** है, जो कोई भी, व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से, बोल **सकता है**, वह सबाल्टर्न की परिभाषा में **नहीं** आता—सबाल्टर्न इतिहास लेखन की द्वि-आधारी योजना में वह अनिवार्यत: या तो अभिजात वर्ग का अंग है या वहां तक पहुंचने के रास्ते में है। यह आश्चर्यजनक ढंग से उस चक्रीय तर्क से मिलता-जुलता है जो फूको में लेखन में मिलता है, जहां 'सत्ता' के बाहर कुछ नहीं है क्योंकि जो कुछ भी इसके प्रतिरोध का सामान इकट्ठा करता है, वह **खुद ही** सत्ता का एक रूप बनने लगता है। लेकिन इससे सबाल्टर्न इतिहास का पूरा प्रश्न ही संकट में पड़ जाता है। अगर **शब्द के वास्तविक अर्थ में** सच्चे सबाल्टर्न की पहचान यही है कि वह बोल नहीं सकता—कि वह हमेशा ही एक अनकही निशानी बना रहेगा जिसे किसी प्रति-इतिहास में फिर वापस नहीं लाया जा सकता—और अगर यह भी सच है कि यदि वह खुद बोल नहीं सकता तो उसके **बारे में** या **उसकी ओर से** बोलना 'ज्ञानशास्त्रीय हिंसा' करने के बराबर है, तो इस स्थायी रूप से विलुप्त प्राणी का इतिहास भला लिखा कैसे जा सकता है।

स्पिवाक इसके चार उत्तर प्रस्तुत करती लगती हैं, जो साथ-साथ चलते हैं। पहला, आम तौर पर व्याख्यानात्मक इतिहास को खारिज किया जाता है, जो अकसर उस तरह के इतिहास के प्रति तिरस्कार के रूप में प्रकट होता है जिसे अनुभवसिद्ध और प्रत्यक्षवादी इतिहास कहा जाता है, हालांकि यह स्पष्ट नहीं किया जाता कि अनुभवसिद्ध सत्यापन के बिना भला इतिहास कैसे लिखा जा सकता है; न ही यह स्पष्ट है कि हम जिसे इतिहास के रूप में जानते हैं उसका कितना अंश 'प्रत्यक्षवादी' बताकर खारिज किया जा रहा है; कभी-कभी तो लगता है कि जो कुछ भी विखण्डनवादी **नहीं** है, उस सबको प्रत्यक्षवादी या इसी तरह की किसी श्रेणी में डाल दिया जाता है। दूसरा, **वास्तविक** सबाल्टर्न का इतिहास लिखे जाने की असम्भाव्यता पर जोर देते हुए स्पिवाक शुरू की उन सबाल्टर्न परियोजनाओं की आलोचना करती हैं जिन्होंने सबाल्टर्न चेतना के विन्यासों को, उनके गैर-तार्किक ढांचों में ही, वर्णित करने या लेखबद्ध करने की कोशिश की। खासकर वह **किसान विद्रोहों के मूल आयाम** जैसे रणजीत गुहा के लेखों का नाम लेती हैं। वह ऐसी परियोजनाओं की इस आधार पर आलोचना करती हैं कि सबाल्टर्न चेतना तक पहुंचने और इसकी संरचनाओं को पहचानने का कोई भी दावा **प्रथम दृष्टया** एक तर्कवादी दावा है जो अन्तर्निहित रूप से प्रभुत्ववादी और साम्राज्यवादी है। जैसा कि वह कहती हैं ''सबाल्टर्न अनिवार्यत: उस स्थान की अन्तिम सीमा है जहां इतिहास का आख्यान तर्क में बदल जाता है'' और ''इसमें कोई सन्देह नहीं कि उत्तरसंरचनावाद चेतना की अंधभक्ति की पुरानी मार्क्सवादी प्रवृत्ति को आमूलचूल बदल सकता है।'' ''पुरानी मार्क्सवादी अंधभक्ति'' पर ध्यान दीजिए—यह उनका कहना है जो प्राय: खुद को ''पुराने ढंग की मार्क्सवादी'' कहती हैं और जिन्हें राबर्ट यंग ''शास्त्रीय मार्क्सवाद'' से कुछ ज्यादा ही लेने के लिए झिड़कते हैं।

इसे ऐसे ही छोड़ देते हैं। पद्धति के तौर पर हालांकि पहला सूत्रीकरण ज्यादा ध्यान खींचने वाला है, इसलिए मैं उसे दोहराता हूं : ''सबाल्टर्न अनिवार्यत: उस स्थान की अन्तिम सीमा है जहां इतिहास का आख्यान तर्क में बदल जाता है।'' सैद्धान्तिक तर्कवाद-विरोध यहां सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया गया है। हालांकि यह कथन महज हेगेलवाद-विरोधी प्रतीत होता है, लेकिन वास्तव में यह आख्यानात्मक इतिहास की सम्भावना को ही खारिज कर देता है। वह आख्यानात्मक इतिहास जो किसी हद तक क्रम और संरचना के बोध पर, कार्य और कारण के बोध पर और कुछ हद तक इस विश्वास पर निर्भर करता है कि इतिहासकार का काम महज मानकर चलना या

अनुमान लगाना नहीं है बल्कि पीड़ितों के बीच चेतना के विन्यासों का पता लगाना और उन्हें लेखबद्ध करना है। जिसका यह दृढ़ विश्वास है कि कोई भी पूर्ण आख्यान कभी सम्भव नहीं होगा, लेकिन फिर भी समाज के प्रभावशाली वर्गों और समूहों ने अपने कारणों से जो अभिलेखन किया है, उसे अनावृत किया जा **सकता है** और एक प्रति-इतिहास, 'जनता का इतिहास', 'नीचे से इतिहास'—एक ऐसा इतिहास जुटाया जा सकता है जिसके लिए ई.पी. थामसन, क्रिस्टोफिल हिल और रेमण्ड विलियम्स जैसे महान इतिहासकार और सांस्कृतिक आलोचक इतने प्रसिद्ध हैं। उदाहरण के लिए, अंग्रेज मजदूर वर्ग के निर्माण पर, 18वीं शताब्दी की अंगेज संस्कृति के विन्यासों पर, उद्योगों में समय की सख्ती के सामाजिक परिणामों पर थामसन का शानदार काम तुरन्त याद आता है। मैं नहीं समझता कि प्रोफेसर स्पिवाक इस परम्परा से खुद को पूरी तरह अलग करने को उपयोगी पाएंगी, लेकिन इस धरती के उत्पीड़ितों का इतिहास लिखने में उनके विखण्डनवादी हस्तक्षेप का वास्तविक प्रभाव यह होगा कि इस तरह का सामाजिक इतिहास लिखना असम्भव हो जाएगा, चाहे वह औद्योगिक पूंजी के सन्दर्भ में हो या साहित्य के क्षेत्र में।

इस समस्या का स्पिवाक द्वारा प्रस्तुत समाधान आश्चर्यजनक और स्वेच्छाचारी दोनों ही है। क्योंकि वह किसी और की ओर से किसी के बोलने पर होने वाली ''ज्ञानशास्त्रीय हिंसा'' की अपनी ही चेतावनियों को बड़े पुरजोर ढंग से दरकिनार करती हैं और ''स्त्री बुद्धिजीवी'' के रूप में उस ''सबाल्टर्न स्त्री'' का प्रतिनिधित्व करने के अपने अधिकार—नहीं कर्तव्य—पर जोर देती हैं, जो खुद अपने लिए नहीं बोल सकती और इसलिए जिसकी ओर से बोला जाना चाहिए। जैसा कि वह अपने निबन्ध के आखिरी शब्दों में कहती हैं:

> सबाल्टर्न बोल नहीं सकती। ऐसे भूमण्डलीय उद्धार की कोई जरूरत नहीं जिनमें 'स्त्री' एक पवित्र वस्तु है। प्रतिनिधित्व का विलोप नहीं हो गया है। बुद्धिजीवी के रूप में स्त्री-बुद्धिजीवी के सामने एक सुनिर्दिष्ट कार्यभार है जिससे उसे हाथ झाड़ नहीं लेने चाहिए।

यह समझ नहीं आता कि जो खुद के लिए ''बोल नहीं सकतीं'', उनकी ओर से ''प्रतिनिधित्व'' का ''कार्यभार'' सम्भालने के लिए ''स्त्री बुद्धिजीवी'' के नाम इस पुकार का इस फटकार से कैसे मेल किया जाए कि ''सबाल्टर्न अनिवार्यत: उस स्थान की अन्तिम सीमा है जहां इतिहास का आख्यान तर्क में बदल जाता है।'' यही कहा जा सकता है कि स्पिवाक बिलकुल तार्किक ढंग से दूसरों का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार अपने लिए सुरक्षित रखना चाहती हैं, जैसा कि ''आत्महत्या के पाठ'' के उनके आख्यान से पुष्ट होता है (स्त्री से स्त्री तक, जैसे कि अभिजात और सबाल्टर्न के बीच के विभाजन का कोई अर्थ नहीं है), जबकि दूसरों को फटकार लगायी जाती है कि सबाल्टर्न के इतिहास के ''आख्यान को तर्क में न बदलें''। **यहां** सबाल्टर्न का प्रतिनिधित्व करना ''ज्ञानशास्त्रीय हिंसा'' का काम नहीं रह जाता और सवाल सिर्फ उन बुद्धिजीवियों के बीच भेद का रह जाता है जिन्हें ऐसा करने का अधिकार है और जिन्हें नहीं है। बेशक, प्राधिकृत विमर्शों की रचयिता के रूप में स्पिवाक को इस मामले में विशेष अधिकार प्राप्त हैं।

पश्चिम के बाहर से जुटायी गयी सामग्रियों को उत्तरआधुनिक भाष्यकार के लिए हथियाने के उद्देश्य से अपने खुद के प्राधिकार को देरिदावादी विखण्डन के श्रेष्ठतर प्राधिकार से सम्बद्ध करने की यह अद्भुत कवायद मुझसे फिर उसी बिन्दु पर ले आती है जहां से मैंने उत्तरऔपनिवेशिकता की अपनी चर्चा शुरू की थी, यानी उत्तरऔपनिवेशिक सिद्धान्त को उत्तरआधुनिकता के बहुराष्ट्रीय क्रियाकलापों का एक मातहत माना जाना चाहिए।

अनुवाद : **सत्यम वर्मा**

यह व्याख्यान 6 मई 1997 को पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला में हिन्दी उपन्यासकार जगदीश चन्द्र और पंजाबी आलोचक डा. रवीन्द्र सिंह रवि की स्मृति में आयोजित किया गया। इसका एक कुछ छोटा रूप यार्क विश्वविद्यालय, टोरंटो में 27 नवम्बर 1996 को प्रस्तुत किया गया था और यह विस्तृत रूप में 'सोशलिस्ट रजिस्टर 1997' में प्रकाशित हुआ है। इस विषय पर और विस्तार के लिए देख सकते हैं : 'दि पॉलिटिक्स ऑफ पोस्टकोलोनियल्टी', **रेस एंड क्लास,** वाल्यूम 36, नं. 3, जनवरी-मार्च 1995 (मूलत: बिर्बेक कालेज, लंदन में दिया व्याख्यान); और ''पोस्टकोलोनियलिज़्म: व्हाट इज़ इन ए नेम?'', कैम्पा, काप्लान एवं स्प्रिंकलर (संपा.), **लेट इम्पीरियल कल्चर'**, लंदन, वर्सो, 1995 (मूलत: स्टेट युनिवर्सिटी ऑफ न्यू यार्क, स्टोनी ब्रुक और स्कूल ऑफ ओरियंटल एंड अफ्रीकन स्टडीज़, लंदन में दिया व्याख्यान)।

''आज के जमाने में जबकि बुर्जुआ वर्ग फासिज्म को प्रोत्साहन दे रहा है और अपने मानववाद का इसतरह परित्याग कर रहा है जैसे वह एक जर्जर मुखौटा हो और अब हिंस्र पशु के पैने दांतों को छिपाने के लिए बेकार हो—वह उसका परित्याग कर रहा है क्योंकि उसकी समझ में यह बात आ गई है कि उसके विभाजित व्यक्तित्व और उसके ह्रास का एक कारण मानववाद भी है। ये तथ्य दिखाते हैं कि संवेदनशील व्यक्ति इस संसार में फैले अनाचारों को शान्त करने के अबोध प्रयत्न में मानव प्रेम का प्रचार करते हैं या इन अनाचारों को सुन्दर उपदेशों के घूंघट में छिपाने की कोशिश करते हैं, तो जिन्दगी के मालिक, दुकानदार लोग, इन उपदेशों को उन लोगों का क्रोध शान्त करने के प्रयत्नों के रूप में जारी रखने की इजाजत दे देते हैं जो उनके हृदय में अपनी गरीबी, अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों और दमन-शोषण के विरुद्ध तथा इन दुकानदारों की विश्वव्यापी 'सांस्कृतिक' सरगर्मियों से उत्पन्न परिणामों से पैदा होता है। लेकिन ज्यों ही श्रमजीवी जनसाधारण का यह क्रोध सामाजिक क्रान्तिकारी रूप धाारण करने लगता है, त्यों ही बुर्जुआ वर्ग उनकी 'क्रिया' के विरुद्ध 'प्रतिक्रिया' से प्रत्याक्रमण करता है।''

– मक्सिम गोर्की, 'सर्वहारा वर्ग का मानववाद' (1934)

कम्युनिस्ट घोषणापत्र के प्रकाशन की 150वीं वर्षगांठ के अवसर पर

कम्युनिस्ट घोषणापत्र के प्रकाशन की 150वीं वर्षगांठ के अवसर पर इस बार हम **हेनरिख हाइने, फर्डिनांड फ्रेलिग्राथ** और **जार्ज वेयेर्थ** की कविताएं पाठकों के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं जो घोषणापत्र के रचनाकारों के घनिष्ठ मित्र और वर्ग चेतन सर्वहारा के प्रथम कवियों में से थे।

हेनरिख हाइने (1797-1856) जर्मनी के महानतम कवियों में हैं। वह मार्क्स-एंगेल्स के घनिष्ठ मित्र और उन्हीं के शब्दों में 'इंसानियत की मुक्ति के युद्ध के शानदार सिपाही' थे।

फर्दिनांद फ्रेलिग्राथ (1810-1876) पर 1848 की क्रान्ति के दौरान डसेलडार्फ में षड्यंत्र का मुकदमा चलाया गया। कई वर्षों तक वह 'राइनिश ज़ाइटुंग' अखबार के संपादक रहे जिसमें मार्क्स-एंगेल्स लिखते थे।

'न्यू राइनिश ज़ाइटुंग' के सम्पादक जार्ज वेयेर्थ (1822-1856) को एंगेल्स ने जर्मन सर्वहारा का *प्रथम* और *सबसे महत्वपूर्ण* कवि कहा है। - सं.

सिलेसियाई बुनकरों का गीत

• हेनरिख हाइने

उनकी आंखें सूखी हैं, क्योंकि आंसू नजर धुंधलाते हैं,
दांत कसकर भींचे हुए, वे अपने करघे चलाते हैं।
'हम बुन रहे हैं कफन तेरे लिए, ओ जर्मनी,
हम बुन रहे हैं तिहरा अभिशाप तेरे लिए
रहे हम बुन, रहे हम बुन!

'एक अभिशाप उस खुदा के लिए जिससे हम रोते रहे
भूख से मरते रहे और जाड़ों में खुले सोते रहे,
उम्मीदें बांधी, दुआएं कीं, पुकारा उसे व्यर्थ ही,
वह हंसा हम पर, उपहास किया, बढ़ाया और दर्द ही।
रहे हम बुन! रहे हम बुन!

'एक अभिशाप राजा के लिए जो है अमीरों का खैरख्वाह,
गरीबों के दुख से जिसे आतीं उबासियां,
खसोटता है टैक्स जो बंजरों-मड़इयों से,
और हमें मरवाता है भाड़े के सिपइयों से।
रहे हम बुन, रहे हम बुन!

'एक अभिशाप उस पितृभूमि के लिए जिसे हम सोचते थे
अपनी है,
जहां सिर्फ दुष्टता और बुराई ही पनपी है,
जहां मसल जाती हैं कलियां खिलने से पहले,
जहां गंदखोर कीड़े मुटाते हुए फैले।
रहे हम बुन, रहे हम बुन!

खड़कता है करघा और घूमती है भरनी
दिन-रात हम बुन रहे तेरा सर्वनाश, ओ जर्मनी,
हम बुन रहे हैं कफन तेरे लिए, बूढ़े जर्मनी,
हम बुन रहे हैं तिहरा अभिशाप तेरे लिए।
रहे हम बुन, रहे हम बुन! •

क्रान्ति

• फर्डिनांड फ्रेलिग्राथ

भले ही तुम्हारे नीच जल्लादों ने घेर लिया
उस उन्मत्त गर्वीली को
भले ही तुम्हारे फरमान से दफना दिया गया
उसे किले की दीवार तले
भले ही तुम दबा चुके उसे मिट्टी के ढूह तले
जहां हर लाल सुबह को
किसान औरत चढ़ाती है फूल—मैं कहता हूं तुमसे,
वह मरी नहीं है।

भले ही उसके उन्नत भाल पर झूलते बाल कतर डालो
भले ही कामरेडों को कातिल और चोर ठहराओ
भले ही डालो उसे जेल में, चाहे जितना तड़पाओ
या रखो उसे भूखा—मैं कहता हूं तुमसे साफ,
वह आजाद है!

भले ही देश निकाला दे दो उसे और जगह-जगह
पीछा करते रहो,
भले ही वह भटकती रहे पराई जमीन पर,
लिथड़े धूल-राख में
भले ही थके हुए पांवों को वह धोए दुख के पानी से
पर कभी नहीं छोड़ेगी वह अपनी प्रलय वीणा।

देखो! उसने उठा लिया है उसे पूरी ताकत से,
तुम्हारे विरुद्ध
वह हंसती है निर्वासन पर, जैसे वह हंसी थी तुम्हारे
फांसी के तख्तों पर,
वह गाती है एक गीत जिससे घबराकर तुम छोड़ भागोगे
अपने सिंहासन,
जिससे तुम्हारे विश्वासघाती कलेजे दहल उठेंगे
तुम्हारे खोखले शरीरों में।

ये गीत नहीं है दुखों का, नहीं है आंसुओं का,
नहीं है खोये शहीदों का,
ये नहीं है गीत जो हंसता हो इस नीचता भरे समय पर,
इस फूहड़ नौटंकी पर, जिसके अश्लील दृश्यों को तुम अभिनीत
करते हो, यह जानते हुए कि :
कितने सड़ चुके हैं वे कीमखाब के लबादे, कितना
घिनौना है यह सारा तमाशा!

अरे नहीं! वह नहीं गाती अपने दुख, अपने अपमान का गीत,
वह गाती है विजय की ऋचाएं, फतह के गीत,
जगमगाते भविष्य के गान!
कल हमारा होगा! वह करती है यह साहसिक घोषणा—
सच यही है : मैं थी, मैं हूं और मैं रहूंगी।

हां, मैं रहूंगी और वक्त आएगा जब मैं लोगों के
आगे-आगे चलूंगी
तुम्हारी गर्दनों, तुम्हारे सिर, तुम्हारे राजमुकुटों को मैं रौंदूगी!
मैं त्राणकर्ता, मैं न्यायकर्ता, मुझे प्रतीक्षा है प्रतिशोध की,
नंगी तलवार लिये मैं प्रतीक्षा कर रही हूं।
मैं बढ़ाउंगी अपनी बलशाली भुजा; जो मुक्त कराएगी
सारे विश्व को।

तुम देखते हो मुझे सिर्फ जंजीरों में, तुम देखते हो
मुझे सिर्फ कब्र में,
तुम देखते हो मुझे भटकता निर्वासन में
अरे बुद्धिहीनो! मैं वहां रहती हूं जहां तुम्हारी
ताकत का बस नहीं चलता
हर माथे के पीछे, हर दिल के भीतर, ठिकाना है मेरा
मैं हूं हर उस मस्तक में जो सोचने का साहस करता है,
जो झुकता नहीं, उन्नत रहता है
हर उस सीने में जहां जोश धड़कता है, जहां क्रोध फड़कता है
हर उस कारखाने में जहां हथौड़ा चलता है, हर उस
झोपड़े में जहां पीड़ा कराहती है
मैं इंसानियत की गर्म सांस हूं जो प्यासी है आजादी की।

इसलिए मैं हमेशा रहूंगी, और वक्त आएगा जब मैं
लोगों के आगे चलूंगी।
तुम्हारी गर्दनों, तुम्हारे सिर, तुम्हारे राजमुकुटों को मैं रौंदूगी!
इतिहास का फौलादी नियम यही है! यह झूठी ऐंठ नहीं है,
न धमकी समझना इसे।
दिन गर्मा रहा है—ओ बेबीलोन के दरख्तो,
कितनी ठंडी है तुम्हारी छांह।

हैसवेल के सौ मजदूर

• **जार्ज वेयेर्थ**

हैसवेल के सौ मजदूर
मारे गये वे एक ही दिन
मारे गये वे एक ही घंटे
मारे गये वे एक ही ढंग से

और जब उन्हें दफनाया जा रहा था चुपचाप
वहां आ पहुंची एक सौ औरतें
और हैसवेल की सौ औरतें रोयीं
हैसवेल शहर के मृतकों के लिए।

वे आयीं लिये हुए अपने छोटे बच्चे
और अपने बच्चों के बच्चे
'हैसवेल शहर के ओ धनाढ्य मालिक,
हमारा कर्ज है तुम पर, चुकाओ उसे!'

हैसवेल की खदानों के मालिक ने
सोचने में नहीं किया ज्यादा विलम्ब
फटाफट गिनकर थमायी उन्हें
उस हफ्ते की मजदूरी की बाकी रकम।

और गिनते ही ये चंद सिक्के
बंद कर दी तिजोरी जोर से
भड़ाम से बंद हुआ भारी सा फाटक
और रो पड़ीं औरतें फिर जोर से।

अनुवाद : **सत्यम वर्मा**

अक्टूबर क्रान्ति की 81वीं वर्षगांठ के अवसर पर

७ नवम्बर : जीतों के दिन की शान में गीत

• पाब्लो नेरूदा

यह दोहरी वर्षगांठ*, यह दिन, यह रात,
क्या वे पायेंगे एक खाली-खाली सी दुनिया, क्या उन्हें मिलेगी
उदास दिलों की एक बेढब सी घाटी?
नहीं, महज एक दिन नहीं घण्टों से बना हुआ,
जुलूस है यह आईनों और तलवारों का,
यह एक दोहरा फूल है आघात करता हुआ रात पर लगातार
जबतक कि फाड़कर निशा-मूलों को पा न ले सूर्योदय !

स्पेन का दिन आ रहा है
दक्षिण से, एक पराक्रमी दिन
लोहे के पंखों से ढंका हुआ,
तुम आ रहे हो उधर से, उस आखिरी आदमी के पास से
जो गिरता है धरती पर अपने चकनाचूर मस्तक के साथ
और फिर भी उसके मुंह में है तुम्हारा अग्निमय अंक!

और तुम वहां जाते हो हमारी
अनडूबी स्मृतियों के साथ :
तुम थे वो दिन, तुम हो
वह संघर्ष, तुम बल देते हो
अदृश्य सैन्य दस्ते को, उस पंख को
जिससे उड़ान जन्म लेगी, तुम्हारे अंक के साथ !

सात, नवम्बर, कहां रहते हो तुम?
कहां जलती हैं पंखुड़ियां, कहां तुम्हारी फुसफुसाहट
कहती है बिरादर से : आगे बढ़ो, ऊपर की ओर !
और गिरे हुए से : उठो !
कहां रक्त से पैदा होता है तुम्हारा जयपत्र
और भेदता है इंसान की कमजोर देह को और ऊपर उठता है
गढ़ने के लिए एक नायक?

तुम्हारे भीतर, एक बार फिर, ओ सोवियत संघ,
तुम्हारे भीतर, एक बार फिर, विश्व की जनता की बहन,
निर्दोष और सोवियत पितृभूमि। लौटता है तुम्हारे तक तुम्हारा बीज
पत्तों की एक बाढ़ की शक्ल में, बिखरा हुआ समूची धरती पर !

तुम्हारे लिए नहीं हैं आंसू, लोगो, तुम्हारी लड़ाई में !
सभी को होना है लोहे का, सभी को आगे बढ़ना है और जख्मी
होना है,
सभी को, छुई न जा सकने वाली चुप्पी को भी, संदेह को भी,
यहां तक कि उस संदेह को भी जो अपने सर्द हाथों से
जकड़कर जमा देता है हमारे हृदय और डुबो देता है उन्हें,
सभी को, खुशी को भी, होना है लोहे का
तुम्हारी मदद करने के लिए, विजय में, ओ मां, ओ बहन !

थूका जाए आज के गद्दार के मुंह पर !
नीच को दण्ड मिले आज, इस विशेष
घण्टे के दौरान, उसके सम्पूर्ण कुल को,
कायर वापस लौट जाये
अंधेरे में, जयपत्र जायें पराक्रमी के पास,
एक पराक्रमी प्रशस्त पथ, बर्फ और रक्त के
एक पराक्रमी जहाज के पास, जो हिफाजत करता है दुनिया की

आज के दिन तुम्हें शुभकामनाएं देता हूं सोवियत संघ,
विनम्रता के साथ : मैं एक लेखक हूं और एक कवि ।
मेरे पिता रेल-मजदूर थे : हम हमेशा गरीब रहे ।
कल मैं तुम्हारे साथ था, बहुत दूर, भारी बारिशों वाले
अपने छोटे से देश में । वहां तुम्हारा नाम
तपकर लाल हो गया , लोगों के दिलों में जलते-जलते
जबतक कि वह मेरे देश के ऊंचे आकाश को छूने नहीं लगा !

आज मैं उन्हें याद करता हूं, वे सब तुम्हारे साथ हैं !
फैक्ट्री दर फैक्ट्री, घर दर घर
तुम्हारा नाम उड़ता है लाल चिड़िया की तरह ।
तुम्हारे वीर यशस्वी हों और हरेक बूंद
तुम्हारे खून की । यशस्वी हों हृदयों की बह-बह निकलती बाढ़
जो तुम्हारे पवित्र और गौरवपूर्ण आवास की रक्षा करते हैं !

यशस्वी हो वह बहादुरी भरी और कड़ी
रोटी जो तुम्हारा पोषण करती है, जब समय के द्वार खुलते हैं
ताकि जनता और लोहे की तुम्हारी फौज मार्च कर सके, गाते हुए
राख और उजाड़ मैदानों के बीच से, हत्यारों के खिलाफ,
ताकि रोप सके एक गुलाब चांद जितना विशाल
जीत की सुंदर और पवित्र धरती पर !

** 7 नवम्बर को दोहरी वर्षगांठ बतलाये जाने का कारण यह है कि सोवियत समाजवादी क्रान्ति दिवस होने के साथ ही, इसी दिन मैड्रिड के द्वार से तानाशाह फ्रांको की राष्ट्रवादी सेना को (अस्थायी तौर पर) पीछे लौटने को बाध्य कर दिया गया था। यह कविता नेरूदा ने 1941 में लिखी थी, जब अक्टूबर क्रान्ति की 24 वीं वर्षगांठ और स्पेनी गणराज्य की उपरोक्त विजय की पांचवीं वर्षगांठ थी।*

भूमण्डलीकरण और सामाजिक विज्ञान

•

सी. पी. भाम्बरी

'दायित्वबोध' के पिछले अंकों में हमने गैरसरकारी स्वयंसेवी संगठनों और विदेशी फण्डिंग एजेंसियों के असली चरित्र और भूमिका के बारे में विचारोत्तेजक सामग्री दी है। इस अंक में भी इस विषय पर लम्बा लेख है कि यह तथाकथित ''मुनाफारहित थर्ड सेक्टर'' किस तरह आज एक भूमण्डलीय मकड़जाल के समान पसर चुका है और विश्व पूंजीवाद के प्रभावी सुरक्षा-कवच के रूप में काम कर रहा है।

*इसी महत्वपूर्ण एजेण्डे पर विमर्श को आगे बढ़ाते हुए प्रख्यात समाजवैज्ञानिक **सी.पी. भाम्बरी** का लेख प्रकाशित कर रहे हैं जिसमें उन्होंने विस्तृत विवेचना के साथ यह स्थापना प्रस्तुत की है कि भूमण्डलीकरण के दौर में भारतीय अकादमीशियनों-बुद्धिजीवियों के बड़े हिस्से ने पश्चिमी साम्राज्यवाद के वर्चस्व को स्वीकार कर लिया है तथा इसमें विदेशी फण्डिंग एजेंसियों ने अहम भूमिका निभाई है।*

विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों में प्रभुत्वशील सामाजिक विज्ञान की परम्परा ने राष्ट्र, विचारधारा, नियोजन, समाजवाद, सम्प्रभुता आदि को ''अतीत के मुर्दा बोझ'' या ''यूरोकेन्द्रित सोच'' के नाम पर खारिज करने के नये पश्चिमी बौद्धिक एजेण्डे को 'सबआल्टर्न' इतिहास-दृष्टि, उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-उपनिवेशवाद आदि की स्वीकृति के नाम पर अंगीकार कर लिया है। महानगरीय विश्वविद्यालयों के अलगावग्रस्त बुद्धिजीवियों को, आज पश्चिमी सामाजिक विज्ञान के एजेण्डे ने विदेशी दाता एजेंसियों के धन की मदद से अपनी गिरफ्त में ले लिया है।

इस सर्वथा नये प्रकार के बौद्धिक उपनिवेशन के विरुद्ध संघर्ष की कारगर रणनीति अपनाने के लिए इस प्रक्रिया की सम्यक समझदारी बेहद जरूरी है। —सम्पादक

'अकादमिक उपनिवेशवाद' के मुद्दे पर 1970 के दशक में जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई थी और मैंने **ई.पी.डब्ल्यू.** (3 मई, 1975) में 'पोलिटिकल साइन्स इन इण्डिया' और ए.सी. दूबे द्वारा सम्पादित **सोशल साइन्स एण्ड सोशल रिअलिटीज़** (शिमला, 1976) में 'पोलिटिकल साइन्स' पर आलेख प्रकाशित किये थे। इन दोनों ही बौद्धिक हस्तक्षेपों में मैंने यह दावा किया था कि मार्क्सवादी बुद्धिजीवी बुर्जुआ नव-औपनिवेशिक समाज-वैज्ञानिकों का प्रतिवाद करने में लगे हुए हैं और कि 'अकादमिक उपनिवेशवाद' का मुद्दा भारत में आसानी से रवां नहीं हो सकता। अब इस बीसवीं सदी की आखिरी घड़ी में इस मुद्दे पर फिर से गौर करना जरूरी हो गया है, कारण कि सत्ता और प्रभुत्व के भूमण्डलीय प्रबंधनों में एक बुनियादी बदलाव हो चुका है और इसने एक जबर्दस्त प्रभाव पूंजीवादी विकास के सिर्फ भारतीय रास्ते पर ही नहीं बल्कि सामाजिक विज्ञान के बुद्धिजीवियों समेत समाज के हरेक स्तर पर भी अंकित कर दिया है।

सोवियत रूस के विघटन और पश्चिमी देशों द्वारा इराक पर संयुक्त सैनिक हमले से साम्राज्यवादी शिविर खुशी से पागल हो उठा था। तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति जार्ज बुश ने एक नयी विश्व-व्यवस्था के उदय की घोषणा कर दी थी। अब यह बीसवीं सदी की आखिरी घड़ी 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति के लक्ष्यों के सफलतापूर्वक पूरे हो जाने की साक्षी बन रही है और इस प्रकार पश्चिमी प्रकार का जनतंत्र अन्ततः दुनिया के हरेक कोने में पहुंच जाने की राह पर है। लेकिन बात सिर्फ इतनी ही नहीं है। यह भी दावा किया जा चुका है कि एक समय के समाजवाद के पतन से यह सिद्ध हो गया है कि राजकीय नेतृत्व वाला आर्थिक विकास का मॉडल हमेशा से दोषपूर्ण रहा है और कि बाजार-निर्दिष्ट पूंजीवाद ही एक सफल मॉडल है तथा यह भी कि समूची अल्पविकसित दुनिया विकास के नियोजित आर्थिक रास्ते से पैदा हुई यंत्रणाओं को झेलने के बाद अब पश्चिमी पूंजीवाद के मूल्यों और मान्यताओं को स्वीकार करने लगी है। 1990 के दशक की इस नयी दुनिया ने संदेह की लेशमात्र भी गुंजाइश छोड़े बिना यह स्थापित कर दिया है कि सामाजिक समस्याओं के नियंत्रण और प्रबंधन के पश्चिमी उपाय पूरे भूमण्डल के हरेक समाज के लिए प्रासंगिक हैं। पश्चिमी उदारतावाद की बौद्धिक और दार्शनिक प्रस्थापनाएं एवं परम्पराएं प्रत्येक समाज की जटिल सामाजिक परिघटना को समझने एवं उसकी समस्या का स्वरूप निर्धारण करने की कुंजी प्रदान कर रही हैं और यह भी कि पश्चिम का बौद्धिक एजेण्डा ही दूसरे संघर्षशील देशों का भी एजेण्डा है। पश्चिमी सभ्यता के लक्ष्य और मूल्य एक समाजवादी सभ्यता निर्मित करने के मार्क्सवादी बौद्धिक एजेण्डे के ऊपर अपनी वरीयता प्रदर्शित कर रहे हैं। इस प्रकार, पश्चिमी जीवन-शैली और संस्थाएं मार्क्सवाद के विरुद्ध संघर्ष में विजयी होकर उभरी हैं, और सामाजिक विकास का पूंजीवादी मॉडल ही एकमात्र ऐसा रास्ता बन गया है जो 'धरती के बदनसीबों' को—जो स्वयं द्वारा निर्मित दोषपूर्ण विश्व-दृष्टि के शिकार रहे हैं—खुशहाली और मुक्ति दे सकता है।

भूमण्डलीकरण का पहला दौर 'स्वर्ण मानक प्रणाली' के साथ ही खत्म हो गया था, भूमण्डलीकरण के दूसरे दौर ने 'कल्याणकारी राज्यवाद' और कीन्सवाद का उदय देखा, और अब यह भी खत्म हो चुका है, कारण कि अब जो नया विराट रूपान्तरण हो रहा है वह उत्पादन, बाजार तथा निवेशशील पूंजी और तकनोलाजी की गति के बहुराष्ट्रीकरण पर आधारित है। बहुराष्ट्रीय निगम पूंजी पर अपनी सत्ता तथा उत्पादन और उपभोग को निर्धारित और तय करने की अपनी बेरोकटोक क्षमता के चलते, एक प्रकार का भूमण्डलीय आधिपत्य हासिल कर चुके हैं। इस बहुराष्ट्रीकरण का पहला शिकार राष्ट्र-राज्य हुआ है। राष्ट्र राज्य का इतिहास जो वेस्टफेलिया की संधि के साथ शुरू हुआ था, अब मास्त्रिख की संधि के साथ ही अपने अन्त पर आ पहुंचा है। राष्ट्रवाद के महानतम जीवित इतिहासकार, एरिक हाब्सबाम ने इसके अन्त का जश्न मनाया है और निष्कर्ष दिया है कि ''...जैसा कि अक्सर होता है, यह परिघटना अपने शिखर से उतर चुकी है। मिनर्वा का उल्लू, जिसे हेगेल ने बुद्धि का दाता कहा था, अंधकार में विलीन हो रहा है। यह शुभ संकेत है कि अब यह राष्ट्रों और राष्ट्रवाद को अपने आगोश में लेता जा रहा है।'' [1]

पार्थ चटर्जी और आशीष नन्दी, हाब्सबाम

का अनुसरण करते हुए बेहद नाराज हैं कि भारतीयों ने इस बीसवीं सदी की आखिरी घड़ी में भी राष्ट्रवाद और राष्ट्र-राज्य की शब्दावली में सोचना बंद नहीं किया है। चटर्जी राष्ट्रवादियों को इसलिए फटकारते हैं कि वे ''राजनीतिक प्रभुत्व सम्बन्धी औपनिवेशिक दावे'' को चुनौती देते हैं, जबकि उनकी सोच में भी 'आधुनिकता' की वे ही बौद्धिक प्रस्थापनाएं शामिल हैं जिन पर औपनिवेशिक प्रभुत्व आधारित था।''[2] हाब्सबाम का मानना है कि ''आधुनिक राष्ट्र और उससे सम्बन्धित हरेक चीज की बुनियादी विशिष्टता उसकी आधुनिकता ही है।'' अत: चटर्जी और नन्दी राष्ट्र, राष्ट्र-राज्य, वैज्ञानिक तर्कपरकता और उग्रपरिवर्तनवादी प्रबोधन जैसी आधुनिकता की सभी व्याख्याओं को खारिज कर देते हैं और चूंकि उनमें पश्चिमी आधुनिकता के बारे में एक द्वंद्वात्मक समझ नहीं है, इसलिए वे इसके सकारात्मक और नकारात्मक पक्षों के बीच फर्क करने में सक्षम नहीं हो पाते।[3] कार्ल मार्क्स अपनी सभी रचनाओं में हमें पूंजीवादी आधुनिकीकरण की सशक्त और अन्तरविरोधी, तथा प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी विशेषताओं के बारे में स्पष्ट ढंग से बताते हैं, और ब्रिटिश राज्य को भारत में ''इतिहास के अचेत साधन के रूप में'' वर्णित करते हैं। यहां यह संकेत कर देना आवश्यक है कि नन्दी और चटर्जी जैसों का यह बौद्धिक एजेण्डा 'स्वत:स्फूर्त' नहीं है; यह पश्चिमी प्रभुत्व वाले आर्थिक, सांस्कृतिक और अकादमिक भूमण्डलीकरण के साथ जुड़ीं मुख्य चिन्तन-प्रक्रियाओं का उत्पाद है।

राष्ट्र के अन्त के साथ ही, विचारधारा के अन्त का एजेण्डा भी पश्चिमी देशों से उठा है, और यह भारत के तमाम बुर्जुआ नव-औपनिवेशिक बुद्धिजीवियों द्वारा स्वीकार भी किया जा चुका है। डैनियल बेल का मानना है कि ''...विचारधारा, जो कभी कर्म का पथ-प्रदर्शक थी, अब अपने अन्त पर आ पहुंची है।''[4] पश्चिमी अध्ययनकर्ताओं द्वारा प्रस्तुत ''विचारधारा का अन्त'' भारतीयों के आगे इसलिए परोसा गया है कि वे हरेक 'समग्रकारी' बौद्धिक परम्परा को और खासतौर से, मार्क्सवाद को दरकिनार कर दें। कहा जा रहा है कि भारत अपने आर्थिक विकास के लक्ष्य को पूरा कर पाने में इसलिए विफल रहा कि इसने अपनी विकास-यात्रा नेहरू-महालनबीस मॉडल के आर्थिक नियोजन की विचारधारात्मक गठरी लेकर शुरू की थी। फलत: भारत में उत्पादन-प्रक्रिया में राज्य की सक्रिय भूमिका ने व्यक्तिगत पहलकदमी और उद्यमशीलता को पंगु कर डाला, कारण कि नेहरू महालनबीस विचारधारा बाजार-प्रतियोगिता के खिलाफ थी। भारत की नयी आर्थिक नीति के एक बौद्धिक सिद्धान्तकार, बिमल जालान का कहना है कि ''हमारी पुरानी आर्थिक नीतियों के दो स्तम्भ 'संरक्षण' और 'सार्वजनिक क्षेत्र' थे, और दोनों ही विकास के लक्ष्य हासिल कर पाने में असफल रहे हैं। अब भूमण्डलीकरण, उदारीकरण और बाजारीकरण के इस नये रास्ते में एकमात्र बाधा 'अतीत का मुर्दा-बोझ' ही है।''[5]

पश्चिमी अध्ययनकर्ताओं और भारत में उनके प्रतिनिधियों ने यह जो नया बौद्धिक एजेण्डा प्रस्तुत किया है वह राजकीय सम्प्रभुता का विरोधी है। परन्तु इसे पसन्द नहीं किया जा रहा, कारण कि केवल एक अपेक्षाकृत स्वायत्त राज्य ही इस नये भूमण्डलीकरण के खिलाफ एक प्रतिरोधक का कार्य कर सकता है। यहां कहने का यह मतलब नहीं है कि पूंजीवाद के नेहरू-माडल में कोई बुनियादी खामी नहीं थी। भारत में नेहरू ने विकास का जो रास्ता चुना था, उसके विरुद्ध भी फैसले लिये गये थे और संघर्ष भी छेड़े गये थे। फिर भी, अपने देशी बुर्जुआ वर्ग और राजकीय ढांचे की सारी कमजोरियों के बावजूद, एक अपेक्षाकृत स्वायत्त भारतीय राज्य ने वैश्विक मामलों में कई सशक्त साम्राज्यवाद-विरोधी तेवर भी अख्तियार किये थे। तब फिर भारत की साम्राज्यवाद-विरोधी जनशक्तियां भला यह कैसे गवारा कर सकती हैं कि बहुराष्ट्रीयकृत पूंजी राज्य का तथा देश के भीतर और बाहर उनकी बौद्धिक विचारधाराओं का अधिग्रहण कर ले? भारत में सामाजिक विज्ञान आज चौराहे पर खड़ा है, कारण कि प्रभुत्वशाली सामाजिक विज्ञान की परम्परा ने राष्ट्र, विचारधारा, नियोजन, समाजवाद और राजकीय सम्प्रभुता के नये पश्चिमी बौद्धिक एजेण्डे को अंगीकार कर लिया है। इसके अतिरिक्त, पश्चिमी समाज-वैज्ञानिक अब एक ऐसी बौद्धिक अवस्थिति अख्तियार कर चुके हैं जहां कुछ भी 'निश्चित' नहीं है और इस तरह, हरेक बौद्धिक व्याख्या एक रचना या पुनर्रचना बन कर रह गयी है। इसके चलते ग्राम्शी के 'अंगभूत बुद्धिजीवी' मिथकीय सृजन बनकर रह गये हैं। ग्राम्शी का मानना था कि ''ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील वर्ग के बुद्धिजीवी, दी गयी दशाओं में, एक ऐसा जबर्दस्त आकर्षण पैदा करते हैं कि, अन्तिम विश्लेषण में, वे अन्य सामाजिक समूहों के बुद्धिजीवियों को भी अपने मातहत ले लेते हैं; ऐसा करके वे सारे बुद्धिजीवियों के बीच एकजुटता की एक ऐसी व्यवस्था कायम कर लेते हैं जो एक मनोवैज्ञानिक प्रकृति (अहम्मन्यता, आदि) और अक्सर एक जातीय चरित्र (तकनीकी, न्यायिक, कारपोरेट आदि) के बंधनों से बंधी होती है।''[6] अगर एक बुद्धिजीवी के पास सामाजिक सवालों के निश्चित स्पष्टीकरण और जवाब न हों, तो वह अपने आपको भारतीय जनसमुदायों के किसी भी मकसद के साथ नहीं जोड़ सकता। परन्तु बाहर से प्राप्त सामाजिक विज्ञान के ज्ञान ने भारतीय बुद्धिजीवियों को जनांदोलनों से बड़ी कामयाबी के साथ अलग-थलग कर डाला है। भारत में तथाकथित 'उत्तर-आधुनिक' सामाजिक विज्ञान द्वारा बाहर से जो बौद्धिक एजेण्डा प्राप्त किया गया है उसकी यह एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है। लारेन्स कैहून का कहना है कि, ''उत्तर-आधुनिकता'' के इन प्रचलित रूपों में विविधता के बावजूद, एक समानता यह है कि ये सभी के सभी इस दुनिया के बहुलवाद और अनिश्चयवाद को मान्यता देते हैं, जबकि ऐसी मान्यता को आधुनिक या आधुनिकतावादी चिन्तन पहले ही स्पष्टत: अस्वीकार कर चुका था। बहुलवाद और अनिश्चयवाद की इस मान्यता का नतीजा यह हो रहा है कि सरलता, पूर्णता, और निश्चयता की सारी बौद्धिक उम्मीदों का परित्याग कर दिया जा रहा है; अब प्रस्तुति या बिम्बों या सूचना या सांस्कृतिक संकेतों पर दिया जाने वाला नया जोर सामाजिक जीवन में एक प्रभुत्वशाली अवस्थिति अख्तियार करता जा रहा है; और जहां पहले सांस्कृतिक क्षेत्रों में एक गम्भीर, यथार्थवादी सत्य की तलाश की जाती थी, वहां अब नाटकीयकरण और कहानीकरण को मान्यता दी जाने लगी है।''[7] ये तथाकथित 'उत्तरआधुनिकतावादी', अर्थव्यवस्था के भूमण्डलीकरण और उदारीकरण करने वालों के साथ मिलकर, एक ऐसी स्थिति पैदा कर रहे हैं जिसे **ग्राम्शी** ने एक दूसरे सन्दर्भ में, ''बुद्धि का निराशावाद'' कहा था। इस ऊपर दी गयी दलील की रोशनी में हम देखते हैं कि भारतीय सामाजिक विज्ञान का प्रभुत्वशाली बौद्धिक एजेण्डा विजयी पाश्चात्य समाजों से अक्षरश: उधार लेने का ही है और यह एजेण्डा स्पष्ट तौर पर मार्क्सवादी बौद्धिक समाज-विज्ञान की परम्परा के खिलाफ है। और इसमें भी सबसे बुरी बात यह है कि यह 'उधार लिया गया सामाजिक विज्ञान' भारतीय जनता के लिए कोई भी महत्वपूर्ण सामाजिक विकल्प नहीं पेश करता। अगर राष्ट्र, राजकीय सम्प्रभुता, विचारधारा, नियोजन आदि सभी के सभी फूहड़ और पुरानी पड़ चुकी अराजकतावादी अवधारणाएं बन चुकी हैं, तो फ्रीदमान, रीगनॉमिक्स और थैचरवाद भी तो न सिर्फ भारतीय जनसमुदायों को प्रेरणा दे पाने में पूरी तरह से विफल रहे हैं, बल्कि मुक्त बाजार वाले बुद्धिजीवियों के देशों में भी कोई प्रेरणा नहीं दे पा रहे हैं। राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता और राष्ट्रीय सम्प्रभुता की आलोचना तो तभी स्वीकार हो सकती है जब कोई वैकल्पिक बौद्धिक चिन्तन ''भारत के बारे में भारतीयों द्वारा फैसला लेने की आजादी'' और ''भारत में भारतीय जन समुदायों द्वारा संघर्ष छेड़ने की आजादी'' सुनिश्चित कर सके।

उपनिवेशवाद कभी मरा नहीं। इसके विपरीत, यह सामाजिक तौर पर जटिल रूपों में पुनरुत्पादित होता रहा है। उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष अनवरत जारी है। परन्तु अब यह संघर्ष बेहद जटिल बन

चुका है, कारण कि जहां पहले औपनिवेशिक राज्य की मौजूदगी एक ठोस वास्तविकता हुआ करती थी, वहां अब वर्तमान समय का यह नया उपनिवेशवाद ऐसे, 'बुद्धिजीवियों' के आधार पर भारत में प्रभुत्वशाली बन रहा है जो ऊपर वर्णित औपनिवेशिक बौद्धिक विचारों के वाहक हैं।

विदेशी फंडिंग एजेन्सियों की भूमिका

पश्चिमी देश नये-नये औपनिवेशिक समाज विज्ञानियों के सहयोग से तीसरी दुनिया के लिए बौद्धिक एजेण्डा निधार्रित करने की कोशिश कर रहे हैं, और पश्चिमी एजेन्सियां तीसरी दुनिया की संस्थाओं और व्यक्तियों को उदारतापूर्वक वित्तीय अनुदान दे रही हैं ताकि वे पश्चिम के अकादमिक एजेण्डा बेचते रहें। सारे सशक्त विचारों का भौतिक आधार होता है, और जहां तक तीसरी दुनिया के अकादमिक समाज-विज्ञानियों का सवाल है, इनके लिए यह भौतिक आधार पश्चिमी वित्तीय एजेन्सियों द्वारा मुहैया किया जा रहा है। इससे सम्बन्धित भारतीय अनुभव को दो चरणों में बांटा जा सकता है: एक चरण 1947 से 1990 तक, और दूसरा 1991 से 1996 तक। पहले चरण की रामकहानी को ज्यार्ज रोजन और जान पी लेविस ने अपनी किताबों में पूरे विस्तार के साथ वर्णित किया है।[8]

रोजन और लेविस ने असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर दिया है कि पश्चिमी (खासतौर से अमेरिकी) एजेन्सियां, जैसे राकफेलर फाउण्डेशन, फोर्ड फाउण्डेशन, और यूनाइटेड स्टेट्स एजेन्सी, अन्तरराष्ट्रीय विकास के नाम पर तथा समूची अमेरिकी राजकीय व्यवस्था भारत के विचार-निर्माताओं और नीति-निर्माताओं के ऊपर अपनी जकड़ कायम कर चुकी हैं। भारत में अमेरिकी दिलचस्पी का कथित उद्देश्य शुरू-शुरू में यह था कि 'भारतीय जनतंत्र' को 'कम्युनिस्ट चीन' से 'बचाया' जाये। रोजन एक दिलचस्प तथ्य यह बयान करते हैं कि ''फोर्ड फाउण्डेशन के कुछ कार्यक्रम तो सीधे फोर्ड फाउण्डेशन द्वारा ही चलाये गये, जबकि अन्य कार्यक्रमों के लिए इसने फंड मुहैया किया और ऐसे कार्यक्रम किसी न किसी रूप में, हार्वर्ड, येल और मैसाच्यूसेट्स इंस्टीट्यूट आफ टेक्नोलाजी जैसे बड़े-बड़े अमेरिकी विश्वविद्यालयों द्वारा चलाये गये...।''[9] इसके अतिरिक्त वह यह भी बताते हैं कि इन कार्यक्रमों का मकसद यह था कि नीति को प्रभावित किया जाये या नयी संस्थाएं खड़ी की जाये या मौजूद संस्थाओं को और मजबूत बनाया जाये, और इनके जरिये ऐसे देशों में स्थानीय अर्थशास्त्रियों और सरकारी कर्मचारियों द्वारा उनकी अर्थव्यवस्था के संचालन को प्रभावित कराया जाये।''[10] भारतीय बुद्धिजीवी समुदाय को 'प्रभावित' करने के लिए अमेरिकी फाउण्डेशन, अमेरिकी सरकारी एजेन्सियां और विश्वविद्यालय तथा उनके प्रोफेसर एकमत थे। राकफेलर फाउण्डेशन की स्थापना ''..एक भूमण्डलीय आधार पर ईसाई आचार-विचार और पश्चिमी सभ्यता के प्रचार-प्रसार'' के लिए की गयी और फोर्ड फाउण्डेशन, काफी सावधानी के साथ अमेरिकी हित में कार्य करते हुए, तीसरी दुनिया को 'प्रभावित' करने वाले क्षेत्र में एक गुप्त अन्तर्धारा के तौर पर प्रविष्ट हुआ। रोजन हमें यह जानकारी देते हैं कि : फाउण्डेशन के स्टाफ, खासतौर से, जान हावर्ड ने जल्द ही विदेशी विकास के क्षेत्र में कार्यरत विविध अमेरिकी और अन्तरराष्ट्रीय सार्वजनिक एजेन्सियों के कर्मचारियों के साथ अपने सम्बन्धों का एक कमोबेश अनौपचारिक नेटवर्क स्थापित कर लिया, जिसमें राकफेलर फाउण्डेशन के साथ अमेरिकी प्रशासनिक विभाग, प्वाइण्ट फोर आर्गेनाइजेशन, राष्ट्रसंघ, खाद्य एवं कृषि संगठन आदि शामिल थे...। इसका मकसद विचारों और अनुभवों का आदान-प्रदान करना था तथा साथ ही कार्यों के दुहराव से बचना भी था।[11]

रोजन के इस वर्णन को जान पी लेविस ने और पूर्ण और सम्यक् बनाया है। उन्होंने यू.एस. ए.आई.डी. द्वारा स्थापित नेटवर्क का एक सुस्पष्ट चित्रण किया है। इसकी रोशनी में 1947 से 1991 तक के चरण का एक विश्लेषण यहां आवश्यक है। इसमें पहली बात तो यह है कि अमेरिकी विश्वविद्यालय और व्यक्तिगत अध्ययनकर्ता अमेरिकी राज्य के हित में काम करने से कोई गुरेज नहीं रखते, कारण कि एक अत्यधिक विरल अल्पसंख्या को छोड़कर, अमेरिकी बौद्धिक प्रतिष्ठान अमेरिकी समाज के 'सैन्य-औद्योगिक' शक्ति-समूहों के साथ पूरी तरह से एकाकार हो चुका है। अन्तरराष्ट्रीय अध्ययन के एम.आई.टी. केन्द्र को किसी भूतपूर्व सी.आई.ए. कर्मचारी के निर्देशन और फोर्ड फाउण्डेशन द्वारा मुहैया किये जाने वाले फण्डों के साथ भारतीय प्रोजेक्ट चालू करने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती। और दूसरी बात यह है कि यह कतई नहीं माना जा सकता कि तमाम भारतीय बुद्धिजीवी जो इसमें शामिल होते रहे हैं, इतने भोले रहे हैं कि वे पश्चिमी अनुदान-दाताओं की असली मंशा को समझ नहीं पाते हैं। इसका सबूत यह है कि जब भी भारतीय बुद्धिजीवियों का एक तबका 'विदेशी धन' स्वीकार करता है, तभी दूसरा तबका ऐसे भारतीय अध्ययनकर्ताओं के विदेशी सम्बन्धों का विरोध और पर्दाफाश भी करता रहा है। अकादमिक पेशे के लिए 'विदेशी फण्डिंग' के सवाल को लेकर भारतीय बुद्धिजीवी 1960, 1970 और 1980 के दशकों में उग्र रूप से ध्रुवीकृत हुए थे। तब विदेशी फण्डिंग एजेन्सियों से जुड़े अध्ययनकर्ताओं के लिए ज्यादातर भारतीय विश्वविद्यालयों में मान्यता और स्वीकार्यता हासिल करना बड़ा कठिन हो गया था। तब एक ऐसा राजनीतिक माहौल मौजूद था जिसमें वामपंथी बुद्धिजीवी वामाभिमुख मध्यमार्गी और वाम राजनीतिक संरचनाओं के साथ प्रत्येक मंच का इस्तेमाल बौद्धिक गतिविधि के लिए होने वाले विदेशी फण्डों के अन्तर्प्रवाह का विरोध करने के लिए करते थे। लेकिन बात सिर्फ इतनी ही नहीं थी। पश्चिमी पूंजीवाद और प्रभुत्व के स्तम्भ, विश्वबैंक और आइ.एम.एफ को भी भारत में विरोध का सामना करना पड़ा था। जब 1980 के दशक में इंदिरा गांधी ने आइ एम एफ से पांच अरब डालर का भारी भरकम अमेरिकी ऋण लेने का सौदा किया, तो उन्हें भारतीय बुद्धिजीवियों के एक तबके की ओर से जबर्दस्त विरोध का सामना करना पड़ा।[12] भारतीय विकास के इस चरण में, पश्चिमी देशों के अकादमिक साम्राज्यवाद के प्रवेश का रास्ता सुगम नहीं था, कारण कि तब देश का राजनीतिक माहौल उसके बहुत अनुकूल नहीं था और कुछ ऐसे मार्क्सवादी बुद्धिजीवी भी मौजूद थे जो वैकल्पिक मार्क्सवादी मानदण्ड के आधार पर, तत्कालीन मुख्यधारा के भारतीय सामाजिक विज्ञान का विरोध करते थे। बहुतेरे उदार, जनतांत्रिक, प्रगतिशील राष्ट्रवादी अध्ययनकर्ताओं ने भी अकादमिक स्वायत्तता बनाये रखने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। तब नव-औपनिवेशिक सामाजिक विज्ञान और पश्चिमी बौद्धिक एवं वित्तीय अस्तित्व की मौजूदगी यथार्थ का एक पक्ष थी। दूसरे पक्ष का प्रतिनिधित्व मार्क्सवादी और प्रगतिशील उदारपंथी कर रहे थे जो विदेशी फण्ड प्राप्त करने वालों का भण्डाफोड़ करते थे, और साथ ही समाज को एक वैकल्पिक सामाजिक विज्ञान भी प्रदान करते थे।

भारतीय बुद्धिजीवियों का भूमण्डलीकरण, 1991 से 1996 तक

भारत में 1990 का दशक भारतीय विकास के स्वातंत्र्योत्तर चरण के पिछले सभी दशकों से बुनियादी तौर पर भिन्न है। इसमें भारतीय समाज, राज्य व्यवस्था, अर्थव्यवस्था और संस्कृति निर्णायक तौर पर एक 'दक्षिणपंथी' विचारधारात्मक दिशा पकड़ चुकी है। विश्वबैंक और आई एम एफ समेत, पश्चिमी सरकारों और बुद्धिजीवियों का एजेण्डा भारतीय समाज के शोषणकारी संस्तरों का प्रभुत्वशाली एजेण्डा बन चुका है और दक्षिणपंथी संकीर्णतावादी या उग्रपरिवर्तनवादी बुद्धिजीवी अब बड़े चाव से पश्चिमी समाजों की विचारधारात्मक सामग्रियां बेचने में मशगूल हैं। आज का शक्तिशाली धर्मशास्त्र और मिथकशास्त्र यह है कि समाज के अध्ययन के समग्रकारी

सैद्धान्तिक फ्रेमवर्क अब मिथ्या हो चुके हैं और कि राज्य, राष्ट्र और वर्ग जैसे व्यापक सामाजिक विधान समाज वैज्ञानिक छानबीन की मिथ्या कोटियां साबित हो चुके हैं, तथा यह भी कि समाजवादी व्यवस्था के पतन ने असंदिग्ध रूप से बाजार-निर्दिष्ट, निजी सम्पत्ति-आधारित सामाजिक संस्थाओं की सर्वश्रेष्ठता को सिद्ध कर दिया है। अब आर्थिक विकास के राज्य-निर्दिष्ट प्रबन्धनों से 'व्यक्ति की आजादी' ही नया बौद्धिक एजेण्डा बन चुकी है, जिसका केन्द्रीय जोर अब राष्ट्रीय पहचान, राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय स्वायत्तता के बजाय, छोटे-छोटे 'समुदायों' और स्वायत्तशासी गैर-सरकारी संगठनों पर है।[13] अब यह कहा जा रहा है कि सिर्फ छोटे-छोटे समुदाय ही 'जनतांत्रिक' होते हैं और मार्क्स के सर्वहारा वर्ग जैसी सार्वभौमिक कोटियां अब 'इतिहास का विषय' नहीं रह गयी हैं। इस नये समाज-विज्ञान के एजेण्डे में, 'सार्वभौमिक' को विशिष्ट द्वारा विस्थापित कर दिया गया है, सामाजिक सम्पूर्णता को 'सामाजिक अंश' द्वारा विस्थापित कर दिया गया है और अब तक के भव्य सैद्धान्तिक फ्रेमवर्को को मुर्दा अतीत का अवशिष्ट प्रभाव कह दिया गया है। मार्क्स को परम्परागत करार कर दिया गया है। नये भूमण्डलीकृत भारत के इस नये चरण में, पश्चिमी सामाजिक विज्ञान के एजेण्डे ने पश्चिमी फण्डों के सहयोग से भारत के महानगरीय विश्वविद्यालयों के नये, अलगावग्रस्त उच्च मध्यमवर्गीय अकादमिशियनों की सोच को अपनी गिरफ्त में ले लिया है। अब फोर्ड फाउण्डेशन, राकफेलर फाउण्डेशन आदि से फण्ड लेने के बारे में उठे पुराने विवाद नि:शेष हो चुके हैं और अब नव-औपनिवेशिक समाज-वैज्ञानिक विश्वविद्यालयों के बाहर से मिलने वाले फण्डों के आधार पर अपनी 'अकादमिक सत्ता' स्थापित करने लगे हैं। यह स्थिति उस यूनानी दु:खान्तक नाटक की भांति है जिसमें 'वित्तीय सहायता' के अवैध स्रोत ही बुद्धिजीवियों को सशक्त वैधता प्रदान करने वाले बन जाते हैं। विश्वविद्यालयों में एक चौतरफा आन्तरिक संघर्ष इस बात को लेकर चल रहा है कि पश्चिमी फण्ड दाताओं के लिए कौन अधिक स्वीकार्य है? यह एक सुविदित सच्चाई है कि नरसिंह राव-मनमोहनसिंह की नयी आर्थिक नीति विश्व बैंक-आइ एमएफ मॉडल का ही एक विस्तार है और इसके सभी के सभी शीर्षस्थ नीति-निर्माता पश्चिमी सरकारों और फण्ड देने वाली एजेन्सियों से जुड़े हुए हैं। भारतीय वित्त मंत्रालय या योजना आयोग के कई महत्वपूर्ण व्यक्ति विश्व बैंक या आई एम एफ या दोनों के कर्मचारी रह चुके हैं।[14]

इस तरह, जहां एक तरफ, भारतीय नीति निर्माण के तंत्र में विदेशी फण्ड देने वाली एजेंसियों की बेरोकटोक घुसपैठ बेहद चिंताजनक है, वहीं दूसरी तरफ, भारतीय बुद्धिजीवी समुदाय का दक्षिणपंथ की ओर पैंतरापलट भी काफी खतरनाक है, कारण कि इसके गम्भीर दीर्घकालिक दुष्परिणाम होने वाले हैं। अब विदेशी फण्ड देने वाली एजेन्सियों ने अपने हित में काम करने के लिए तथा भारतीय बुद्धिजीवियों को प्रभावित करने के लिए अनिवासी भारतीय समाज-वैज्ञानिकों को इस्तेमाल करना शुरू कर दिया है। फोर्ड फाउण्डेशन, राकफेलर फाउण्डेशन आदि अनिवासी भारतीय अध्ययनकर्ताओं को भारत भ्रमण करने, सेमिनार आयोजित करने, सामाजिक विज्ञान के विविध पहलुओं पर किताबें प्रकाशित करने के लिए अनुबंध पर नौकरियां दे रहे हैं, और साथ ही भारतीय अकादमिशियनों को भी सहायक तौर पर अनुबंधित कर रहे हैं। और बात सिर्फ इतनी ही नहीं है। भारत की राष्ट्रीय और प्रान्तीय राजधानियों में हर प्रकार के स्थानीय प्रतिष्ठान चालू किये जा चुके हैं, जिनकी विश्वसनीयता संदिग्ध ही है, फिर भी ये ही भारतीय और पश्चिमी अध्ययनकर्ताओं के बीच सेतु बन रहे हैं।

यह आश्चर्यजनक बात है कि एक ऐसे देश में जहां एक सशक्त जनतांत्रिक क्रान्ति और जन उभार दरकार है, बुद्धिजीवी अकादमिक प्रेरणा के लिए पश्चिम का मुंह जोह रहे हैं। साम्प्रदायिकता जातिवाद, और नस्लवाद भारतीय मेहनतकश वर्गों की एकता कायम करने की राह में भारी विघ्न पैदा कर रहे हैं, परन्तु इन प्रवृत्तियों पर तीखा प्रहार करने के बजाय, बुद्धिजीवी पश्चिम द्वारा मुहैया कराये जा रहे खण्ड-खण्ड विभाजित बौद्धिक एजेण्डे को लेकर मशगूल हैं। भारतीय समाज के सामने आज भारी समस्याएं उपस्थित हैं, और संक्रमण का जो वर्तमान चरण चल रहा है उसको लेकर ऐतिहासिक भौतिकवाद और सामाजिक द्वंद्व विज्ञान के आधार पर एक गहन विश्लेषण किये जाने की जरूरत है। वर्ग, राष्ट्र और राज्य के कठिन मुद्दों पर एक नये भारत का निर्माण करने की दृष्टि से फिर से छानबीन करने की जरूरत है। वैसे तो पश्चिमी पूंजीवादी समाज यह दावा कर रहे हैं कि उन्होंने पूंजी और श्रम के बीच के अपने व्यापक अन्तरविरोध को हल कर लिया है, परन्तु हमें तो अपने बुनियादी चरित्र के विविध शत्रुतापूर्ण और गैर-शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोधों के सम्मुखीन होना ही होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत बहुत खतरनाक ढंग से इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करने जा रहा है, जहां साम्राज्यवाद अलगावग्रस्त परन्तु सशक्त नव-औपनिवेशिक बौद्धिक विशिष्ट वर्ग (एलीट) के बीच अपनी भारी स्वीकार्यता हासिल कर चुका है। बुद्धिजीवियों को इस प्रवृत्ति का मुकाबला करना ही होगा।

टिप्पणियां

1. एरिक हाब्सबाम, नेशन्स एण्ड नेशनलिज्म सिन्स 1780, (कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1920), पृष्ठ 181-83

2. पार्थ चटर्जी, नेशनलिस्ट थॉट एण्ड द कालोनियल वर्ल्ड : ए डेरिवेटिव डिस्कोर्स? (दिल्ली, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1986), पृ. 30

3. हाब्सबाम (1990, पृ. 18, साथ ही देखें, आशीष नन्दी द इण्टिमेट एनिमी : लॉस एण्ड रिकवरी आफ सेल्फ अण्डर कालोनिअलिज़्म (दिल्ली : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1983)

4. डैनियल बेल, द एण्ड आफ आइडिआलजी : आन द इग्ज़ॉस्शन आफ पोलिटिकल आइडियाज़ इन द फिफ्टीज़ (ग्लेन्को, एन वाई: फ्री प्रेस, 1960), पृ. 370, साथ ही देखें एस एम लिप्सेट, पोलिटिकल मैन (लंदन : हेनिमैन, 1960)

5. बिमल जालान, इण्डियाज इकनामिक पालिसी : प्रिपेयरिंग फार द ट्वेण्टी फर्स्ट सेंचुरी (दिल्ली, वाइकिंग बाई पेंग्विन बुक्स, इण्डिया, 1996), पृ. XII-XVII

6. ए. ग्राम्शी, प्रिजन नोटबुक्स (सम्पा.) क्यू होअरे और जी नौवेल स्मिथ-लारेंस और विस-हार्ट, लंदन 1971, पृ. 60, डेविड मैक्लीलैन द्वारा आइडिऑलजी में उद्धृत (बकिंगहम ओपेन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1995) पृ. 27

7. लारेंस कैहून (सं.) फ्राम माडर्निज्म टु पोस्ट माडर्निज्म: (ऐन ऐन्थालॉजी कैम्ब्रिज, मास ब्लैकवेल पब्लिशर्स, 1996) (पुनर्मुदित), पृ. 4

8. जार्ज रोजेन, वेस्टर्न इकानमिस्ट्स एण्ड इस्टर्न सोसाइटीज: एजेण्टस आफ चेन्ज इन साउथ एशिया - 1950-1970 (दिल्ली : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1985), और जान पी लेविस, -पोलिटिकल इकोनामी आफ इण्डिया (दिल्ली : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1995)

9. जार्ज रोजेन (1985) पृ. XII

10. वही, पृ.XIX

11. वही पृ.

12. सी पी भाम्बरी, वर्ल्ड बैंक एण्ड इण्डिया (दिल्ली : विकास, 1980)। साथ ही देखें : अशोक मित्रा, अमित भादुड़ी, प्रभात पटनायक आदि, द आइ एम एफ लोन (कलकत्ता: द वेस्ट बंगाल गवर्नमेण्ट पब्लिकेशन, 1982-83)

13. देखें ए एटजिओनी (1994)

14. देखें सी पी भाम्बरी, 'न्यू इकनामिक पालिसी: इण्डियन स्टेट एण्ड ब्यूरोक्रेसी, सोशल साइंटिस्ट (दिल्ली), वर्ष 24, अंक 1-3, जनवरी-मार्च 1996, पृ. 44-58।

(ई.पी.डब्ल्यू. 10 जनवरी, 1998 से साभार)

अनुवाद : **विश्वनाथ मिश्र**

माओ त्से-तुङ के जन्मदिवस (25 दिसम्बर) के अवसर पर

माओकालीन चीन में मार्क्सवाद

• जार्ज थामसन

पचास वर्ष पहले **लेनिन** ने लिखा था :

मार्क्स ही वह प्रतिभाशाली व्यक्ति थे जिन्होंने उन्नीसवीं सदी में मानवता का प्रतिनिधित्व करने वाले तीन सबसे विकसित देशों के तीन प्रमुख विचारधारात्मक प्रवाहों—क्लासिकीय जर्मन दर्शन, क्लासिकीय अंग्रेजी राजनीतिक अर्थशास्त्र, फ्रांसीसी क्रान्तिकारी सिद्धान्तों से युक्त फ्रांसीसी समाजवाद—का सिलसिला आगे बढ़ाया और उसे पूर्णता तक पहुंचाया।

इस व्याख्यान में मैं आपको बताना चाहूंगा कि जिस समय लेनिन ने तीन विचारधारात्मक प्रवाहों का जिक्र किया उसके बाद उनमें एक चौथा अर्थात चीनी क्लासिकीय दर्शन भी आ जुड़ा है; और कि यह चौथा प्रवाह, जिसे आज चीन के मजदूर और किसान अमल में ला रहे हैं, माओ द्वारा विकसित मार्क्सवादी सिद्धान्त की कुछ स्पष्ट विशिष्टताओं का स्रोत है।

विचारधारात्मक वातावरण

ल्यू शाओ-ची ने 1945 में नये पार्टी संविधान के बारे में अपनी रिपोर्ट में लिखा :

''**मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन** और **स्तालिन** के एक शिष्य के रूप में **कामरेड माओ त्से-तुङ** ने यह किया है कि मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को चीनी क्रान्ति के वास्तविक व्यवहार से जोड़ दिया है, और इस प्रकार, चीनी साम्यवाद—माओ त्से-तुङ विचारधारा—का अवदान दिया है, जिसने पूर्ण मुक्ति हासिल करने के लिए चीनी जनता का मार्गदर्शन किया है, और कर रहा है। यह सभी लोगों, और खास तौर से पूर्व के लोगों की मुक्ति के संघर्ष में एक महान योगदान करने वाला है।

''माओ त्से-तुङ की विचारधारा, उनकी कार्यशैली के विश्व-दृष्टिकोण के हिसाब से, चीन में विकास और प्रवीणीकरण की प्रक्रिया में इस्तेमाल किया गया मार्क्सवाद है ...। इसमें वर्तमान विश्व-परिस्थिति और चीन की विशिष्ट परिस्थितियों के बारे में उनका विश्लेषण समाहित है। यह नये जनवाद, किसानों की मुक्ति, क्रान्तिकारी संयुक्त मोर्चा, क्रान्तिकारी युद्ध, क्रान्तिकारी आधार, नये जनवाद के गणतंत्र की स्थापना, पार्टी-निर्माण, और संस्कृति के बारे में उनके सिद्धान्तों और उनकी नीतियों का समुच्चय है। ये सारे के सारे सिद्धान्त और ये सारी की सारी नीतियां एकदम मार्क्सवादी भी हैं और चीनी भी, तथा ये चीनी जनता की प्रतिभा की सर्वोच्च सैद्धान्तिक उपलब्धि भी हैं।''

बात को दूसरे ढंग से रखते हुए, कहा जा सकता है कि मार्क्स और एंगेल्स जिस विचारधारात्मक वातावरण में पैदा हुए थे वह पूंजीवादी और प्रभावी तौर पर ईसाई वातावरण था। अपनी युवावस्था में वे महान बुर्जुआ दार्शनिक, हेगेल के शिष्य थे, जिनके रचना-कर्म के स्रोत यूरोपीय दार्शनिक परम्परा के संस्थापक, प्लेटो और अरस्तू से लेकर हेराक्लीतस और पाइथागोरस तक में देखे जा सकते हैं।

लेकिन माओ त्से-तुङ जिस वातावरण में पैदा हुए थे वह प्रभावी तौर पर सामन्ती और कनफ्यूशियाई था। अपनी युवावस्था में उन्होंने **कनफ्यूशियस** की रचनाओं एवं चीनी दर्शन के अन्य क्लासिकीय ग्रन्थों का अध्ययन किया, जिनका इतिहास उतना ही पुराना था जितना कि यूरोपीय दर्शन का, और कनफ्यूशियस तो पाइथागोरस का समकालीन ही था, लेकिन इन दोनों दर्शनों के इतिहासों में बहुत अन्तर था, और यह अन्तर यूरोपीय और चीनी समाजों के ऐतिहासिक विकास के अन्तरों की वजह से था। माओ त्से-तुङ जब बीस-एक वर्ष की आयु में ही थे, तभी उन्होंने चीनी भाषा में अनूदित होने वाली पहली मार्क्सवादी क्लासिकी रचना, **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** पढ़ी, और उस समय तक वह चीनी क्लासिकी दर्शन में भी पारंगत हो चुके थे।

यूनानी दर्शन में भौतिकवाद और भाववाद

मार्क्सवाद में, माओ त्से-तुङ का, दार्शनिक दृष्टि से, सबसे उल्लेखनीय योगदान द्वंद्ववाद के बारे में उनके निरूपण में निहित है : और द्वंद्ववाद निश्चय ही मार्क्सवाद के सारतत्व से सम्बन्धित है, जो इसी नाते, एक तरफ, फ्रांसिसी बुर्जुआ दर्शन के यांत्रिक भौतिकवाद से, तथा दूसरी तरफ, **हेगेल** के द्वंद्वात्मक भाववाद से फर्क करने के लिए द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के रूप में भी जाना जाता है। इसीलिए मेरे लिए जरूरी हो जाता है कि मैं हेराक्लीतस से लेकर हेगेल तक के यूरोपीय दर्शन में द्वंद्ववाद के इतिहास के बारे में तथा साथ ही क्लासिकीय चीनी दर्शन में इसके द्वारा ग्रहण किये गये स्थान के बारे में भी कुछ कहूं।

शुरुआत के यूनानी दार्शनिकों की अवस्थिति को आदिम भौतिकवाद या आद्य भौतिकवाद कहा जा सकता है। यह परवर्ती कालों के भौतिकवाद से इस मायने में भिन्न है कि यह भाववाद का सचेत रूप से विरोधी नहीं है, जो कि अभी एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में उद्‌भूत ही नहीं हुआ था, और जो अन्तर्निहित तौर पर द्वंद्वात्मक था। हेराक्लीतस के शब्दों में इसका समाहार इस प्रकार किया जा सकता है : ''यह है और यह नहीं है।'' सारी की सारी चीजें निरन्तर अपनी विरोधी चीजों में तब्दील होती रहती हैं, और इसीलिए प्रत्येक चीज के बारे में कहा जा सकता है कि ''यह है और यह नहीं है।''

प्राचीन यूनान में दास-समाज के सुदृढ़ीकरण के साथ ही, शासक वर्ग उत्पादन के श्रम से कट गया, और उसने एक ऐसा दृष्टिकोण विकसित किया जो प्रभावी तौर पर भाववादी और आधिभौतिक था : अर्थात इसमें पदार्थ के ऊपर चेतना की प्राथमिकता का दावा किया गया और परिवर्तन की वास्तविकता को नकार दिया गया। यह नयी प्रवृत्ति प्लेटो और अरस्तू में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंची, जिनकी रचनाओं ने यूरोपीय चिन्तन के परवर्ती इतिहास पर एक दीर्घकालिक प्रभाव छोड़ा। प्लेटो दार्शनिक भाववाद का जनक था, और अरस्तू औपचारिक तर्क का।

अरस्तू के अनुसार, एक चीज ''या तो अ है, या अ नहीं है'', अर्थात यह अ और अ नहीं दोनों नहीं हो सकती। यह हेराक्लीतस द्वारा सूत्रित सिद्धान्त, अर्थात ''यह है और यह नहीं है'', से प्रत्यक्ष इंकार था।

प्लेटो के विचार-सिद्धान्त और अरस्तूवादी तर्क ने ईसाई धर्मशास्त्र का दार्शनिक आधार निर्मित किया, जो हाल तक यूरोपीय चिन्तन पर हावी रहा। फिर, आधुनिक बुर्जुआ वर्ग के उदय के साथ, भौतिकवाद और भाववाद के बीच, द्वंद्ववाद और आधिभौतिकता के बीच, नये सिरे से मतभेद उठ खड़ा

हुआ। इसका चरम विकास महान जर्मन दार्शनिकों, काण्ट और हेगेल की रचनाओं में हुआ, और जब सर्वहारा वर्ग का उदय हुआ, तब इसका समाधान नये द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त मार्क्सवाद के रूप में हुआ, जो भविष्य में साम्यवाद की दिशा का संकेत करता है।

इस प्रकार, मार्क्सवाद को, उस दृष्टिकोण की एक अपरिमित रूप से उन्नत धरातल पर पुनर्पुष्टि माना जा सकता है जिसे शुरुआती यूनानी दार्शनिक आदिम साम्यवाद की विरासत के रूप में प्राप्त किये हुए थे, जो परवर्ती दौर में, जैसा कि मार्क्स ने कहा है, वर्ग-समाज के 'रहस्यावरण' में धुंधला दिया गया था।

प्राचीन चीन में द्वंद्ववाद का अभिप्राय

जब हम चीन की ओर रुख करते हैं, तो वहां भी हमें, आरंभिक दार्शनिकों में एक ऐसा ही दृष्टिकोण देखने को मिलता है जिसे एक सशक्त द्वंद्वात्मक अभिप्राय वाला आदिम भौतिकवादी (दृष्टिकोण - अनु.) कहा जा सकता है, जिसका कारण भी वही था (जो यूनान में ऐसे आरम्भिक दृष्टिकोण का था - अनु.): अर्थात, जैसे यूनान में, वैसे ही चीन में भी, दर्शन की शुरुआत वर्ग-पूर्व समाज से विरासत में मिले विचारों के सूत्रीकरण के साथ हुई। लेकिन चीन में दर्शन का परवर्ती इतिहास भिन्न हो गया। वहां, दासता उतनी नहीं विकसित हुई जितनी कि यूनान में : इसीलिए (चीन में—अनु.) चिन्तन की आदिम पद्धतियों से विच्छेद कम मुकम्मल रहा।

यह सच है कि, कनफ्यूशियस के समय से लेकर बाद तक, भाववाद प्रचलन में रहा, परन्तु चीनी दार्शनिकों का दृष्टिकोण आधिभौतिक के बजाय आनुभविक ही बना रहा, और उन्होंने औपचारिक तर्क की एक प्रणाली कभी नहीं विकसित की। इसमें लाभ और हानि दोनों सम्मिलित थे। खास तौर पर, द्वंद्ववाद का अभिप्राय अक्षुण बना रहा। इसके लिए, उदाहरण के तौर पर, चीन के सबसे बड़े क्लासिकीय रचनाकारों में से एक, **ताओ ते चिङ** का यह अवतरण दृष्टव्य है :

''अस्तित्व अनस्तित्व को और अनस्तित्व अस्तित्व को जन्म देता है, कठिन आसान को और आसान कठिन को पूरा करता है, दीर्घ लघु को और लघु दीर्घ को प्रदर्शित करता है, ऊंच नीच को और नीच ऊंच को प्रकट करता है, पूर्ववर्ती परवर्ती का और परवर्ती पूर्ववर्ती का अनुसरण करता है।''

इसमें मुझे अरस्तूवादी तर्क पर डा. जोसेफ नीडहैम की टिप्पणी भी जोड़ देने दें। उसका कहना है कि अरस्तूवादी तर्क ने

''प्राकृतिक विज्ञानों को प्रकृति के उस महानतम तथ्य—परिवर्तन—को समझने का एक अपर्याप्त उपकरण ही प्रदान किया, जिसको इतने अच्छे ढंग से **ताओवादियों** ने निरूपित कर रखा था। एकता, अन्तरविरोध और बहिष्कृत मध्य के तथाकथित नियम, जिनके अनुसार य या तो अ होगा या अ नहीं होगा और या तो ब होगा या ब नहीं होगा, निरन्तर हास्यास्पद बनते रहे...। प्राकृतिक विज्ञान तो हमेशा यही कहने की स्थिति में रहे कि 'यह है और यह नहीं भी है।' इसीलिए आगे चलकर उत्तर-हेगेलियाई विश्व के द्वंद्वात्मक और विविध मान वाले तर्क अस्तित्व में आये। इसीलिए प्राचीन चीनी चिन्तकों के द्वंद्वात्मक या गत्यात्मक तर्क के संकेतों के प्रति असाधारण दिलचस्पी पैदा हुई...।'' (साइन्स एण्ड सिविलाइज़ेशन इन चाइना, खण्ड II, पृ. 201)।

माओ त्से-तुङ का उल्लेखनीय योगदान

यही वह पृष्ठभूमि है जिसके मद्देनजर हमें मार्क्सवादी दर्शन में माओ त्से-तुङ के योगदान का मूल्यांकन करना चाहिए, जो मुख्य रूप से अन्तरविरोधों के बारे में उनके निरूपण तथा सिद्धान्त और व्यवहार के बीच सम्बन्ध के बारे में उनके द्वंद्वात्मक सिद्धान्त में निहित है। हेगेल पर टिप्पणी करते हुए, लेनिन ने लिखा :

''विरोधों की एकता.... मन और समाज समेत, प्रकृति की सभी परिघटनाओं एवं प्रक्रियाओं की अन्तरविरोधी, परस्पर बहिष्कृत करने वाली, विरोधी प्रवृत्तियों की स्वीकृति है, खोज है। विश्व की सभी प्रक्रियाओं की 'स्वत:स्फूर्त गति', उनके स्वत:स्फूर्त विकास, और उनकी यथार्थ प्राणवत्ता का ज्ञान उनकी विरोधों की एकता का ही ज्ञान है। विकास विरोधों का ही 'संघर्ष' है...।''

दर्शन के ऐसे पश्चिमी छात्रों के लिए, जो मार्क्सवाद के ज्ञान के बगैर ही प्रशिक्षित हुए हैं, जैसा कि आज भी बहुतेरे ऐसे ही हैं, यह कथन लगभग अर्थहीन ही लगेगा; परन्तु इसको समझने में पुराने चीन के छात्रों को कोई कठिनाई नहीं हुई, कारण कि वे सभी के सभी प्राचीन चीनी क्लासिकी साहित्य के साथ पले-बढ़े थे।

क्लासिकी चीनी दर्शन के इस विषय को छोड़कर आगे बढ़ने से पहले, मैं कुछेक शब्द कनफ्यूशियसवाद पर भी कहना जरूरी समझता हूं, कारण कि यह हान राजवंश से लेकर वर्तमान सदी तक, या यों कह लें कि पूरे चीनी साम्राज्य-काल का एक स्थापित धर्म रहा है। कनफ्यूशियसवाद प्रकृति के साथ मनुष्य के आचरण तथा समाज के साथ व्यक्ति के आचरण से सम्बन्धित है : यह ईसाइयत के विपरीत, मानवतावादी और इहलौकिक है। पश्चिमी नीतिशास्त्र का व्यक्तिवाद—चाहे वह कैथोलिक रहस्यवाद का आत्म-विस्मृत कर देने वाला व्यक्तिवाद हो या काल्विनवाद का आत्म-प्रस्तुति करने वाला व्यक्तिवाद हो—कनफ्यूशियाई नीतिशास्त्र के लिए विजातीय ही रहा है। कनफ्यूशियसवाद अनिवार्यत: युद्ध-विरक्त होने के नाते भी ईसाइयत से भिन्न रहा है।

स्तालिन और माओ के प्रतिपादनों की तुलना

आइए अब हम द्वंद्ववाद के बारे में माओ त्से-तुङ के प्रतिपादन की तुलना स्तालिन के प्रतिपादन से करें। यह तुलना, कुल मिलाकर, बहुत शिक्षाप्रद है क्योंकि इन दोनों से सम्बन्धित दो शोध-प्रबन्धात्मक कृतियां—**अन्तरविरोध के बारे में**, और **द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद**—करीब-करीब एक ही समय में, 1937-38 के वर्षों में, प्रकाशित हुईं, और यह भी कि दोनों एक-दूसरे से स्वतंत्र रूप से लिखी गयी थीं।

स्तालिन द्वारा प्रतिपादित द्वंद्ववाद के चार सिद्धान्तों को इस प्रकार सारांशित किया जा सकता है: 1. सभी चीजें एक दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित हैं; 2. सारी चीजें सतत परिवर्तनशील हैं; 3. विकास मात्रात्मक परिवर्तनों से गुणात्मक परिवर्तनों में रूपान्तरण के जरिए होता है; 4. विकास विरोधों की एकता के जरिए, आन्तरिक अन्तरविरोधों की वृद्धि के जरिए होता है।

स्तालिन का चार सिद्धान्तों वाला सूत्रीकरण समग्र रूपेण इस प्रकार उद्धृत किया जा सकता है : ''आन्तरिक अन्तरविरोध प्रकृति की सभी चीजों और परिघटनाओं में अन्तर्निहित हैं क्योंकि इन सभी में इनके नकारात्मक और सकारात्मक पक्ष होते हैं, एक अतीत होता है और एक भविष्य, कोई चीज खत्म हो रही होती है और कोई चीज विकसित हो रही होती है : और इन विरोधों के बीच का संघर्ष, पुराने और नये के बीच का संघर्ष, खत्म हो रही चीज और विकसित हो रही चीज के बीच का संघर्ष ही विकास-प्रक्रिया की आन्तरिक अन्तर्वस्तु, मात्रात्मक परिवर्तनों से गुणात्मक परिवर्तनों के रूप में रूपान्तरण की अन्तर्वस्तु निर्मित करता है।''

माओ द्वारा अन्तरविरोधों का निरूपण अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म और अधिक गहन है। इसे उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार सारांशित किया जा सकता है :

''अन्तरविरोध वस्तुगत तौर पर अस्तित्वमान सभी चीजों और व्यक्तिगत चिंतन की सभी प्रक्रियाओं में मौजूद होता है और शुरू से लेकर आखिर तक इन सभी प्रक्रियाओं में व्याप्त रहता है; यही अन्तरविरोध की सार्वभौमिकता और निरपेक्षता है। प्रत्येक अन्तरविरोध की और उसके प्रत्येक पहलू की अपनी-अपनी अभिलाक्षणिकताएं होती हैं; यही अन्तरविरोध की विशिष्टता और सापेक्षता है। दी गयी दशाओं में, विरोधों में एकता होती है, और इसी

नाते वे एक ही अस्तित्व में साथ-साथ रह सकते हैं और अपनेआप को एक दूसरे में रूपान्तरित कर सकते हैं; यह भी अन्तरविरोध की विशिष्टता और सापेक्षता ही है। लेकिन विरोधों का संघर्ष अविराम होता है : यह तब भी चलता रहता है जब दोनों साथ-साथ रहते हैं और तब भी चलता है जब वे अपनेआप को एक दूसरे में रूपान्तरित कर रहे होते हैं : यह पुन: अन्तरविरोध की सार्वभौमिकता और निरपेक्षता है। अन्तरविरोध की विशिष्टता और सापेक्षता के अध्ययन में, हमें निश्चय ही प्रधान और गैर-प्रधान अन्तरविरोधों के बीच के फर्क पर तथा अन्तरविरोध के प्रधान पहलू और गैर प्रधान पहलू के बीच के फर्क पर ध्यान देना चाहिए; अन्तरविरोध की सार्वभौमिकता और अन्तरविरोध में विरोधों के संघर्ष के अध्ययन में, निश्चित तौर पर, हमें संघर्ष के विविध रूपों के बीच के फर्क पर ध्यान देना चाहिए।''

इतने कसे हुए रूप में प्रस्तुत होने के कारण, इसका तर्क अमूर्त बन गया है और इसीलिए समझने में कठिन लगता है; लेकिन इसके विस्तारपूर्वक किये जाने वाले प्रतिपादन में, जिसके बारे में यह निष्कर्षात्मक सारांश भर ही है, इस तर्क का प्रत्येक चरण सरल और ठोस उदाहरणों द्वारा विवेचित किया गया है।

मैं माओ द्वारा संघर्ष के विविध रूपों पर दिये गये जोर की तरफ विशेष ध्यान आकर्षित करना चाहूंगा। यह शत्रुतापूर्ण और गैर-शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोधों के बीच के फर्क पर—एक ऐसे फर्क पर आधारित है जिस पर इस विषय से सम्बन्धित चर्चा स्तालिन की शोध-प्रबन्धात्मक कृति में नहीं की गयी है, हालांकि यह (फर्क-अनु.) लेनिन पहले ही कर चुके थे। माओ सिर्फ इतना ही नहीं करते कि इस फर्क पर ध्यान आकृष्ट करते हैं, बल्कि वह एकाधिक बार वह इस बात को भी इंगित करते हैं कि किसी चीज के विकास में, शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध *यदि सही ढंग* से संचालित किये जायें तो, गैर-शत्रुतापूर्ण बन सकते हैं, और इसके विपरीत, गैर-शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध यदि गलत ढंग से संचालित किये जाये तो, शत्रुतापूर्ण भी बन सकते हैं।

''अन्तरविरोधों को सही ढंग से संचालित करने के बारे में''

इस बात को उन्होंने आगे चलकर अपनी शोध-प्रबन्धात्मक कृति, **जनता के बीच अन्तरविरोधों को सही ढंग से संचालित करने के बारे में** में विकसित किया, जो 1957 में प्रकाशित हुई। मेरा विश्वास है कि यह मार्क्सवाद के प्रति उनके सबसे महत्वपूर्ण अवदानों में से एक है, जिस पर पश्चिम के मार्क्सवादियों द्वारा अब तक जितना ध्यान दिया गया है उससे कहीं अधिक निकटता के साथ ध्यान देने की जरूरत है।

इससे मैं समझता हूं कि एक तरफ, यह स्पष्ट हो जायेगा कि स्तालिन की गलतियां ज्यादातर शत्रुतापूर्ण और गैर-शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोधों को सही ढंग से न समझ पाने के कारण हुईं, और दूसरी तरफ, यह भी कि द्वंद्ववाद के इस पहलू का माओ त्से-तुङ द्वारा किया गया विकास अक्टूबर क्रान्ति और सोवियत संघ में समाजवादी निर्माण के ऐतिहासिक अनुभव के बगैर सम्भव ही नहीं हुआ होता : दूसरे शब्दों में, वह मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और स्तालिन द्वारा किये गये काम को ही और आगे बढ़ा रहे थे।

इसके साथ ही, मेरे विचार से, यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी कि मार्क्सवादी द्वंद्ववाद का यह विकास एक ऐसी प्राचीन दार्शनिक परम्परा वाले देश में हुआ जो यूरोपीय परम्परा से इस मायने में भिन्न थी कि इसने चिन्तन की द्वंद्वात्मक पद्धति को कभी नहीं छोड़ा। संक्षेप में, यह मार्क्सवादी सिद्धान्त के समृद्ध होने का उदाहरण है जिसके बारे में आशा की जा सकती है कि मार्क्सवाद की सार्वभौमिक सच्चाइयों को एक पिछड़े हुए देश की ठोस परिस्थितियों में सफलतापूर्वक लागू करके उसे और भी समृद्ध किया जा सकता है।

अब यह देखने के लिए कि कैसे मार्क्सवादी द्वंद्ववाद को चीन की राजनीतिक समस्याओं के समाधान हेतु लागू किया जा रहा है, आइए हम माओ त्से-तुङ द्वारा साम्राज्यवाद का कागजी शेर के रूप में किये गये बहुचर्चित चरित्र-चित्रण पर गौर करें।

लेनिन ने साम्राज्यवाद को 'मिट्टी के पैर वाली एक विशालकाय मूर्ति' के रूप में वर्णित किया था। एक विशालकाय भारी-भरकम मूर्ति पत्थर की बनी होने के कारण बहुत मजबूत होती है, परन्तु इस मूर्ति के पैर मिट्टी के हैं और इसीलिए यह धराशायी हो सकती है। यह मजबूत और कमजोर दोनों ही है। यही विरोधों की एकता है। विशालकाय मूर्ति की यह धारणा प्राचीन यूनानियों से ली गयी है। इसीलिए इसका सम्बन्ध भी यूरोपीय परम्परा से ही है।

परन्तु चीनी लोग एक दूसरी धारणा इस्तेमाल करते हैं, जो उनकी अपनी परम्परा से ली गयी है। वे कहते हैं कि साम्राज्यवाद एक 'कागजी शेर' है, लेकिन यह भी कि इसके साथ ही वह असली शेर भी है; यह शेर है और शेर नहीं भी है। इसी ढंग से माओ त्से-तुङ ने इस विषय को स्पष्ट किया है :

''जिस तरह दुनिया में एक भी ऐसी चीज नहीं है जिसकी उभयधर्मी प्रकृति न हो (यही तो विरोधों की एकता का नियम है), ठीक उसी तरह साम्राज्यवाद और सारे के सारे प्रतिक्रियावादियों की भी उभयधर्मी प्रकृति है —वे एक ही साथ असली शेर भी हैं और कागजी शेर भी। विगत इतिहास में, दास-स्वामी वर्ग, सामन्ती भूस्वामी वर्ग और बुर्जुआ वर्ग, राज्यसत्ता पर विजय हासिल करने से पहले और उसके कुछ समय बाद तक, ओजस्वी, क्रान्तिकारी और प्रगतिशील रहे; तब वे असली शेर रहे। लेकिन समय गुजरने के साथ-साथ, जब उनके विरोधी—दास वर्ग, किसान वर्ग और सर्वहारा वर्ग—कदम-ब-कदम ताकतवर होते गये, उनके विरुद्ध संघर्ष करने लगे और ज्यादा से ज्यादा दुर्जेय होते गये, तब वे सत्ताधारी वर्ग पिछड़े लोगों में तब्दील हो गये, कागजी शेर बन गये, और अन्ततोगत्वा जनता द्वारा उखाड़ फेंके गये या उखाड़ फेंके ही जायेंगे। इस तरह, वे पहले तो, असली शेर थे, जो जनता को खाते थे, लाखों-लाख जनता को खा जाते थे....। तब फिर क्या ये जिन्दा शेर, लोहे के शेर, असली शेर नहीं थे? लेकिन अन्त में वे कागजी शेर, मुर्दा शेर, नुमाइशी शेर में तब्दील हो गये...। इसीलिए साम्राज्यवाद और सभी प्रतिक्रियावादियों के सारतत्व पर एक दीर्घकालिक दृष्टि से, एक रणनीतिक दृष्टि से, गौर करते हुए, यह जानना जरूरी है कि वे कागजी शेर हैं। इस आधार पर हमें अपनी रणनीतिक सोच बनानी चाहिए। लेकिन दूसरी तरफ यह भी है कि वे जिन्दा शेर, लोहे के शेर, असली शेर भी हैं जो लोगों को खा सकते हैं। और इस आधार पर हमें अपनी रणकौशलात्मक सोच बनानी चाहिए।''

ज्ञान का सिद्धान्त

आइए अब हम ज्ञान के उस मार्क्सवादी सिद्धान्त पर चर्चा करें जिसका प्रतिपादन माओ ने किया है और देखें कि कैसे यह 'जन-दिशा' ('मास लाइन') सम्बन्धी चीनी सिद्धान्त और व्यवहार का आधार बनता है।

मानव-ज्ञान सामाजिक व्यवहार से अर्थात बाहरी दुनिया से, और खासतौर से, उत्पादक-श्रम से भौतिक सम्पर्क के जरिए पैदा होता है। अपनी आरम्भिक अवस्था में यह इन्द्रियबोधी ज्ञान होता है, यानी ऐसा ज्ञान होता है जो सीधे इन्द्रियों द्वारा ग्रहीत छापों या प्रभावों पर आधारित होता है; लेकिन मनन-चिन्तन और विचार-विमर्श के जरिए, तथा और व्यावहारिक कार्यकलापों के जरिए, यह एक उच्चतर धरातल पर, तर्कसंगत ज्ञान के धरातल पर विकसित हो जाता है और सिद्धान्तों को जन्म देता है। फिर इस तर्कसंगत ज्ञान को बाह्य दुनिया को बदलने के उद्देश्य से व्यवहार में लागू किया जाता है और ऐसा करने के दौरान यह ज्ञान अपनेआप में और गहरा और समृद्ध बनता जाता है।

बाह्य दुनिया में समाज और प्रकृति दोनों शामिल हैं, और मानवीय अभिकर्ता जो इसे बदलते और स्वयं इसके द्वारा बदले जाते हैं, कोई पृथक-पृथक व्यक्ति नहीं बल्कि एक समूह या समुदाय या सामाजिक वर्ग में साथ-साथ

जीने और काम करने वाले व्यक्ति होते हैं; अत: उनके ज्ञान में सिर्फ उतनी ही बातें नहीं शामिल होती जिन्हें वे स्वयं अपने व्यवहार से अर्जित करते हैं; बल्कि वे बातें भी शामिल होती हैं जिन्हें उन्होंने बोल-चाल और लिखने-पढ़ने से विरासत में प्राप्त किया होता हैं। इस प्रकार यह समूची प्रक्रिया ज्ञान और व्यवहार के बीच एक चक्रीय अन्त:क्रिया है।

स्वयं माओ के ही शब्दों में :

''सच्चाई को व्यवहार से खोजो, और फिर व्यवहार से ही उस सच्चाई को जांचो और विकसित करो, इन्द्रियबोधी ज्ञान से शुरुआत करो और सक्रिय रूप से उसे तर्कसंगत ज्ञान में विकसित करो, तब फिर तर्कसंगत ज्ञान से शुरुआत करो तथा मनोगत और वस्तुगत दुनिया को बदलने के लिए सक्रिय रूप से क्रान्तिकारी व्यवहार का मार्गदर्शन करो। व्यवहार, ज्ञान, फिर व्यवहार और फिर ज्ञान। इस ढंग से यह क्रिया-विधान अन्तहीन चक्रों में दुहराया जाता रहता है, तथा प्रत्येक चक्र के साथ व्यवहार और ज्ञान की अन्तर्वस्तु एक उच्चतर धरातल पर उठती जाती है। यही है ज्ञान का समूचा द्वंद्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त, और यही है ज्ञान और कर्म की एकता का द्वंद्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त।''

व्यावहारिक इस्तेमाल

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने जन-दिशा (मास लाइन) के सिद्धान्त के अनुसार जनसमुदायों को सही नेतृत्व प्रदान करने के उद्देश्य से अपनी व्यावहारिक कार्यवाही में ज्ञान के इस सिद्धान्त को व्यवस्थित ढंग से इस्तेमाल किया है।

फिर माओ को उद्धृत करें :

''हमारी पार्टी की समूची व्यावहारिक कार्यवाही में, सही नेतृत्व सिर्फ 'जनसमुदायों से, जनसमुदायों को' के सिद्धान्त पर ही विकसित किया जा सकता है। इसका मतलब है जनसमुदायों के दृष्टिकोणों (अर्थात बिखरे और अव्यवस्थित दृष्टिकोणों) का समाहार (अर्थात सतर्क अध्ययन के पश्चात संयोजन और व्यवस्थापन) करना, फिर निष्कर्षित विचारों को लेकर जनसमुदायों तक पहुंचाना, उन्हें तब तक स्पष्ट और प्रचारित करते रहना जब तक कि जनसमुदाय स्वयं उन्हें अपने विचार समझ कर अपने दिलों में न रचा-बसा लें, फिर उनको लेकर उठ खड़े होना और उनके सहीपन की जांच करते हुए पुन: उन्हें कार्रवाई में उतार देना। तब एक बार फिर जनसमुदायों के दृष्टिकोणों का समाहार करना जरूरी हो जाता है ताकि जनसमुदाय तहे-दिल से अपना समर्थन दे सकें...। यही क्रम बार-बार दुहराना होगा, ताकि हर बार ये विचार और अधिक सहीपन के साथ निखरते जायें तथा अधिकाधिक जीवन्त और सार्थक बनते जायें। ज्ञान का मार्क्सवादी सिद्धान्त हमें यही शिक्षा देता है।''

साथ ही, पार्टी जन-दिशा (मास लाइन) को प्रभावी ढंग से लागू कर सके, इसके लिए जरूरी है कि उन अन्तरविरोधों पर भी ध्यान दिया जाये जो स्वयं पार्टी के भीतर मौजूद हैं, जनता के समुदायों के भीतर मौजूद हैं, तथा जनता और पहले के शासक वर्गों, जैसे भूस्वामियों एवं पूंजीपतियों के अवशेषों के बीच मौजूद हैं।

अन्तरविरोधों को हल करना

पार्टी के भीतर नेतृत्व और कतारों के बीच एक अन्तरविरोध होता है। इसे जनवादी केन्द्रीयता के सिद्धान्त पर हल किया जाता है, जो कि उसी किस्म की एक चक्रीय अन्त:क्रिया है जो पार्टी और जनसमुदायों के बीच चलती रहती है, सिवाय इस अपवाद के कि पार्टी के भीतर यह एक उच्चतर धरातल पर चलती है।

एक और भी अन्तरविरोध है जो नेतृत्व और कतारों दोनों ही के भीतर, अधिक विकसित सदस्यों और कम विकसित सदस्यों के बीच होता है। इसे आलोचना और आत्मालोचना के सिद्धान्त पर हल किया जाता है।

लेनिन ने इस बात पर जोर दिया था कि अपनी कतारों के भीतर उनकी गलतियों को चिन्हित करने और उनसे जरूरी सबक निकालने की दृष्टि से आलोचना की कार्यवाही चलाये बगैर यह सम्भव ही नहीं है कि पार्टी जनता के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को पूरा कर सके। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी में आलोचना और आत्मालोचना का व्यवस्थित व्यवहार अन्य कहीं की अपेक्षा एक उच्चतर धरातल पर विकसित हो चुका है। और निश्चय ही यह पार्टी की कतारों से बाहर भी फैल चुका है, जिसे मजदूर समुदायों, किसानों, सैनिकों और बुद्धिजीवियों तक ने भी अपना लिया है, जो इसे एक आदत की भांति अपनी रोजमर्रा की गतिविधियों में इतना अधिक इस्तेमाल कर रहे हैं कि पश्चिम से आने वाले पर्यटक देखकर अक्सर दंग रह जाते हैं।

इस मामले में भी, चीनी मार्क्सवादी समुदाय की सेवा के लिए व्यक्ति के आत्म-परिष्कार की प्राचीन कन्फ्युशियाई परम्परा का लाभ उठाते रहे हैं।

जनसमुदायों में एक अन्तरविरोध औद्योगिक मजदूरों और किसानों के बीच है, जिसे अब कृषि के यंत्रीकरण और जनता के कम्यूनों के विकास के जरिए हल किया जा रहा है। औद्योगिक सर्वहारा वर्ग और किसान समुदाय के बीच एक संश्रय कायम किये बगैर क्रान्ति सम्भव ही नहीं हुई होती।

संश्रयों के भीतर अन्तरविरोध

मैं औद्योगिक सर्वहारा वर्ग और किसान समुदाय के बीच अन्तरविरोध की चर्चा करते हुए, औद्योगिक सर्वहारा वर्ग और किसान समुदाय के बीच संश्रय में मौजूद अन्तरविरोध की भी चर्चा करना चाहूंगा। संश्रय की प्रकृति में भी अन्तरविरोध निहित है। मजदूर और किसान अपने मुश्तरका दुश्मन से लड़ने और इस प्रकार प्रधान अन्तरविरोध को हल करने के लिए आपस में संश्रय कायम करते हैं, लेकिन इसी में उनके बीच एक गैर-प्रधान अन्तरविरोध भी मौजूद होता है, जिसे विचारधारात्मक संघर्ष के जरिए हल किया जाता है, जिसकी बदौलत अधिक पिछड़ा वर्ग अधिक विकसित वर्ग के धरातल पर उठ जाता है।

सर्वहारा वर्ग और किसान समुदाय के बीच संश्रय का यह मसला सामाजिक क्रान्ति में एक निर्णायक कारक है। अक्सर यह सवाल पूछा जाता है कि कैसे समाजवादी क्रान्ति एक ऐसे देश में (यानी रूस में -अनु.) सफल हो गयी जहां औद्योगिक सर्वहारा वर्ग आबादी की उतनी ही छोटी अल्पसंख्या में था जितनी कि वह मुक्ति से पूर्व चीन में था?

इसके जवाब में दो महत्वपूर्ण बातों पर विचार करना आवश्यक है : पहली बात वस्तुगत परिस्थिति में मौजूद अन्तरविरोधों और उनके द्वारा पैदा की जाने वाली क्रान्ति की सम्भावना से सम्बन्धित है, और दूसरी बात सर्वहारा वर्ग द्वारा प्रदान किये जाने वाले *नेतृत्व* की प्रकृति से सम्बन्धित है —दूसरे शब्दों में, सवाल सर्वहारा वर्ग के संख्या बल का नहीं बल्कि राजनीतिक-बल का है। इसका नेतृत्व इस बात पर निर्भर करता है कि यह वस्तुगत अन्तरविरोधों, यानी जनता और दुश्मन के बीच के अन्तरविरोधों और जनता के भीतर मौजूद अन्तरविरोधों—इन दोनों को ही सही ढंग से इस्तेमाल कर पाने में कितना और कैसे समर्थ होता है।

जब मार्क्स और एंगेल्स ने **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** लिखा तो उनका विश्वास था कि जर्मनी एक बुर्जुआ क्रान्ति के कगार पर था, जिसके तुरन्त बाद ही एक सर्वहारा क्रान्ति होती। लेकिन घटनाक्रम ने अलग ही मोड़ लिया, फिर भी, यह गौरतलब है कि, उनके विचार से पहली सर्वहारा क्रान्ति इंग्लैण्ड में नहीं ही होने वाली थी, भले ही वह सबसे विकसित और सबसे अधिक संख्या में सर्वहारा वर्ग रखने वाला देश क्यों न था, बल्कि उनके विचार से, यह पहली सर्वहारा क्रान्ति जर्मनी में ही होने वाली थी, जो कि अभी भी एक सामन्ती देश था, जहां किसान समुदाय और सामन्ती कुलीन तंत्र के बीच के पुराने अन्तरविरोध सामन्ती कुलीन तंत्र और बुर्जुआ वर्ग के बीच एवं बुर्जुआ वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच के बढ़ते अन्तरविरोध के साथ-साथ मौजूद थे।

एक बुर्जुआ क्रान्ति और उसके तत्काल बाद एक सर्वहारा क्रान्ति अन्ततः हुई जरूर—परन्तु जर्मनी में नहीं, न ही अन्य किसी भी विकसित पूंजीवादी देश में बल्कि पिछड़े हुए देश रूस में हुई, जहां संख्या में छोटा लेकिन राजनीतिक रूप से विकसित सर्वहारा वर्ग लेनिन के नेतृत्व में किसान समुदाय के साथ संश्रय कायम करने में, जारशाही कुलीन तंत्र को उखाड़ फेंकने में, और बुर्जुआ क्रान्ति को सर्वहारा क्रान्ति में तब्दील कर देने में समर्थ हुआ।

एकता को संघर्ष के साथ जोड़ना

जैसा कि माओ त्से-तुङ ने कहा है, यह अक्टूबर क्रान्ति की लहर ही थी जिसने मार्क्सवाद को चीन में प्रवाहित किया। उस वक्त चीन जारशाही रूस से भी कहीं अधिक पिछड़ा हुआ था—जो सिर्फ सामन्ती ही नहीं, बल्कि अर्द्ध-औपनिवेशिक भी था। इसमें सर्वहारा वर्ग भी संख्या की दृष्टि से नगण्य ही था; लेकिन इसे एक ऐसी पार्टी का नेतृत्व मिला जो सिर्फ मार्क्सवाद से ही नहीं, बल्कि मार्क्सवाद के व्यावहारिक प्रयोग में अक्टूबर क्रान्ति द्वारा प्रदान किये गये अनुभव से भी लैस थी।

इस ढंग से, सारे अन्तरविरोधों का पूरा-पूरा फायदा उठाते हुए, पार्टी अपने इर्द-गिर्द आबादी के विशाल बहुसंख्यक किसान समुदाय को, पूंजीपति वर्ग के एक काफी बड़े हिस्से को, और राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग को भूस्वामियों एवं विदेशी साम्राज्यवादियों के खिलाफ लामबन्द कर लेने, मुख्य दुश्मन को अलगाव में डाल देने, और जनता के बीच के अन्तरविरोधों का कुशल संचालन करते हुए एकता को संघर्ष के साथ जोड़ने में समर्थ हो गयी।

इस प्रकार, जैसे-जैसे समाजवादी क्रान्ति दुनिया में फैलती जा रही है, वैसे-वैसे जो देश अभी भी साम्राज्यवाद द्वारा शोषित हैं—उन देशों के सर्वहारा वर्ग के छोटे आकार की भरपायी वर्ग-अन्तरविरोधों की बढ़ती प्रचण्डता और जमा होते क्रान्तिकारी अनुभव से होती जा रही है। इन्हीं सब बातों को मिलाकर 'माओ त्से-तुङ विचारधारा' निर्मित हुई है जो अभी तक मुक्ति-संघर्ष में लगे हुए अफ्रीका और लातिनी अमेरिका के लोगों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण बनी हुई है।

सशस्त्र संघर्ष का सिद्धान्त

ये सारी की सारी उपलब्धियां गतिरोधी धक्कों और गलतियों के बगैर ही नहीं हासिल हुई हैं। 1949 की राष्ट्रव्यापी विजय पूर्ववर्ती वर्षों के सशस्त्र संघर्ष और मुक्त क्षेत्रों को प्रशासित करने के अनुभव के बगैर सम्भव नहीं हो सकती थी। यह पार्टी नेतृत्व के ही अन्तर्गत हुआ कि जन-मुक्ति सेना ने अपना स्वरूप ग्रहण किया और सशस्त्र संघर्ष का एक नया सिद्धान्त विकसित किया, जिसे निरन्तर आजमाया गया, जांचा-परखा गया तथा संघर्ष की बढ़ती कार्यवाहियों में विजयों और पराजयों से गुजरते हुए विकसित किया गया। यह जन-मुक्ति सेना एक ऐसी ताकत थी जो पहले मुक्त क्षेत्रों में और फिर पूरे देश में, शान्तिपूर्ण निर्माण के कामों के लिए भी अनुकूलित थी, जो सिर्फ उत्पादक श्रम में ही नहीं बल्कि अपनी मिसालें कायम करती हुई समूची जनता के विचारधारात्मक और नैतिक स्तर को उन्नत करने में भी सक्रिय थी।

और फिर, अनुभव की कमी और अति विश्वास के चलते जनता के कम्यूनों के निर्माण में गलतियां भी हुईं, जिनमें वस्तुगत कठिनाइयां भी कारण थीं, लेकिन जन-दिशा (*मास लाइन*) के इस्तेमाल से इन गलतियों को चिन्हित और ठीक कर लिया गया। ये जन कम्यून ही थे जो 1956-61 के दुर्दिन भरे वर्षों में, अर्थव्यवस्था को बिना किसी जान-माल की क्षति के, खड़े रहने में समर्थ बना सके; लेकिन इसी के साथ उन वर्षों की कठिनाइयों ने कम्यूनों की कमजोरियों को भी उजागर कर दिया, जिसके नाते यह आवश्यक हो गया कि उन्हें दूर किया जाये। इस ढंग से खराब चीज अच्छी चीज में तब्दील कर ली गयी।

विचारधारात्मक संघर्ष को जारी रखना

लेकिन, निश्चय ही इससे यह नहीं मान लेना चाहिए कि चीन में वर्ग-संघर्ष खत्म हो गया है। बेशक अर्थव्यवस्था को एक समाजवादी आधार पर पुनर्गठित कर लिया गया है, फिर भी बुर्जुआ और निम्न-बुर्जुआ और यहां तक कि सामन्ती विचार भी अभी जीवित हैं, और इसीलिए आवश्यक है कि यह संघर्ष विचारधारात्मक और आर्थिक दोनों ही स्तरों पर जारी रहे। समाजवादी व्यवस्था का सुदृढ़ीकरण और साम्यवाद में संक्रमण एक लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया है, जो विचारधारात्मक संघर्ष में कोई भी ढील दिये जाने पर अवरुद्ध हो सकती है, या यहां तक कि उलट भी सकती है। यह बात भी माओ त्से-तुङ के अन्तरविरोध के सिद्धान्त के अनुरूप ही है।

आम तौर पर, जैसा कि वह स्पष्ट करते हैं, समाज को गति देने में, विचारधारात्मक अधिरचना के विपरीत, आर्थिक मूलाधार ही अन्तरविरोध का प्रधान पहलू होता है, जबकि विचारधारात्मक अधिरचना उसका गैर-प्रधान पहलू; परन्तु कुछ निश्चित दशाओं में अन्तरविरोध का यह गैर-प्रधान पहलू ठीक वैसे ही उसके प्रधान पहलू में तब्दील हो सकता है, जैसे एक गैर-शत्रुतापूर्ण अन्तरविरोध, गलत ढंग से संचालित होने पर, शत्रुतापूर्ण बन सकता है।

पुराने विचार अपनेआप ही नहीं खत्म होते : इसके विपरीत, वे बरकरार रहते हैं, और अगर उनसे लड़ा न जाये तो वे पुनः आर्थिक मूलाधार को प्रभावित करने के बिन्दु तक भी प्रभावी बन सकते हैं, और इस तरह पुराने वर्ग-विभाजनों को फिर से प्रकट भी कर सकते हैं।

इस मामले में, युवाओं की देख-रेख पर खास तौर पर ध्यान दिया जा रहा है। एक तरफ, युवा लोगों को अपने मां-बाप से अधिक अनुकूल स्थिति तो प्राप्त हुई है कि उनकी परवरिश और शिक्षा-दीक्षा एक समाजवादी वातावरण में हो रही है। लेकिन, दूसरी तरफ, इसी के नाते यह भी है कि उनके पास वर्ग-उत्पीड़न या तकलीफ झेलने का वैसा कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है जैसा उनके बाप-दादाओं को समाजवाद के लिए संघर्ष करते हुए झेलना पड़ा था।

स्कूलों में विशेष उपाय यह सुनिश्चित करने के लिए किये जा रहे हैं कि वे उस संघर्ष से पूरी तरह वाकिफ होते हुए पलें-बढ़ें जो उनको सुलभ हुए इन अवसरों को पैदा करने के लिए करना पड़ा था। फैक्टरियों में, ऐसे उम्रदराज मजदूरों को, जिन्होंने ऐसे संघर्षों में भाग लिया था, विशेष ओहदे दिये जाते हैं—मसलन फैक्टरी लाइब्रेरी का काम—और अपने अनुभवों को दूसरों तक पहुंचाने के लिए उन्हें विशेष अवसर भी सुलभ कराये जाते हैं। जनता के कम्यूनों में, जब नये घर बनते हैं तो एक या दो पुरानी मड़इयों को जस का तस रहने दिया जाता है, ताकि बड़े-बूढ़े लोग उनकी ओर देखकर यह कह सकें कि ''यही वह जगह है जहां हम मुक्ति से पहले रहा करते थे।'' इन सबका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि क्रान्तिकारी भावना नवोदित पीढ़ी में रिसती रहे।

विचारधारात्मक संघर्ष बहस-मुबाहसों के रूप में चलाया जाता है—कामगार समूह के सदस्यों के बीच बहस, फैक्टरी अखबार में बहस, स्थानीय प्रेस में बहस, और राष्ट्रीय प्रेस में बहस। हर जगह बहसें चलती रहती हैं, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय दोनों ही मुद्दों पर और सिर्फ चालू मुद्दों पर ही नहीं, बल्कि वैसे सैद्धान्तिक सवालों पर भी, जिनकी चर्चा मैं इस व्याख्यान में करता आ रहा हूं। अब आगे मैं इन्हीं सैद्धान्तिक बहसों की चर्चा करूंगा, जो खासतौर से मार्क्सवाद के अध्ययन से सम्बन्धित है।

''सिद्धान्त जनसमुदायों को ओतप्रोत कर देता है''

मार्क्स ने कहा था कि जब सिद्धान्त जनसमुदायों को ओतप्रोत कर देता है तो वह एक भौतिक शक्ति बन जाता है। आज पूरे चीन में यही हो रहा है।

इसके साथ-साथ इतना और कहा जा सकता है कि जब सिद्धान्त मजदूर वर्ग के समुदायों को ओतप्रोत कर देता है, तब बुद्धिजीवी फिर से

व्यवहार के साथ जुड़ने लगते हैं, और इस प्रकार शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम के बीच का विभाजन, जो कि वर्ग-समाज की अभिलाक्षणिक विशिष्टता है, गायब होने लगता है।

दस वर्ष पहले मैंने चीनी भाषा का अध्ययन करने के सिलसिले में छः माह पीकिङ युनिवर्सिटी में गुजारे। मेरे कमरे की देखभाल एक मजदूर किया करता था जो करीब तीस वर्ष का था, जिससे मैं खूब अच्छी तरह परिचित हो गया था कारण कि हम दोनों रोजाना कई-कई बार मिलते रहते थे। वह सायंकालीन कक्षाएं करता था, जिनमें वह पढ़ना और लिखना सीखता था, और हम दोनों लिपि पर पूरा अधिकार कर लेने के अपने संघर्ष में एक दूसरे की मदद भी किया करते थे।

जहां तक मार्क्सवाद की बात है, तो वह यही कहा करता था कि वह मार्क्सवाद में यकीन करता है—भला वह ऐसा क्यों नहीं कहता, वह देख रहा था कि पार्टी इसमें यकीन करती थी, और पार्टी ने ही उसके लिए इतना सब कुछ किया भी था, फिर वह अपने आंखों में आंसू भरकर, पुराने चीन में अपनी जिन्दगी का बयान करता और उन परिवर्तनों की चर्चा करता जो मुक्ति के बाद हो चुके थे, इन सबका श्रेय वह पार्टी को ही देता, लेकिन जहां तक मार्क्सवाद की बात थी, तो वह इसे समझने की आशा नहीं कर सकता था, कारण कि उसने अभी-अभी तो पढ़ना सीखने की शुरुआत की थी। पिछली सितम्बर में मैंने फिर पीकिङ यूनिवर्सिटी का दौरा किया और उससे मुलाकात की। अब वह मार्क्सवाद का अध्ययन कर रहा था।

वर्ग-चेतना और शैक्षिक स्तर

बुद्धिजीवियों की तुलना में वहां के मजदूरों और किसानों की वर्ग-चेतना ऊंची है, परन्तु उनका शैक्षिक स्तर नीचा है। इसके कारण लम्बे समय तक उनके लिए मार्क्सवादी सिद्धान्त का अध्ययन करना कठिन बना रहा, लेकिन अब यह कठिनाई दूर होती जा रही है।

1958 में जहाज के कारखाने में काम करने वाले कुछ मजदूरों ने स्वयं अपनी पहलकदमी पर शंघाई में दर्शन पर एक कक्षा का आयोजन किया, और यह बहुत ही सफल रहा। इसकी रिपोर्ट प्रेस में प्रकाशित हुई, और उनके इस उदाहरण का अनुसरण पूरे देश के मजदूरों और किसानों के समूहों ने किया। वैसे इस अभियान को 1959-61 के वर्षों में एक गतिरोधी धक्का भी लगा, परन्तु उसके बाद इसने अपनी रफ्तार फिर पकड़ ली और अब तो यह पहले हमेशा से कहीं अधिक वेगवान और व्यापक बन चुका है।

पिछले वर्ष के आरम्भ में, पार्टी की केन्द्रीय कमेटी के एक सदस्य याङ सिएन-चेन ने एक अखबार में द्वंद्ववाद पर एक आलेख प्रकाशित किया, जिसको लेकर एक राष्ट्रव्यापी विवाद उठ खड़ा हुआ है। इस आलेख में याङ सिएन-चेन ने क्लासिकीय चीनी दर्शन के एक सूत्र 'दो एक में शामिल' को लेकर अपनी बात की शुरुआत करते हुए इसकी ऐसी व्याख्या की थी कि इससे यह नतीजा निकलता था कि द्वंद्ववाद का मुख्य काम अन्तरविरोधों को विरोधों के बीच उभाड़ना नहीं, बल्कि इसके विपरीत उन विशिष्टताओं पर जोर देना है जो उनमें उभयनिष्ठ हैं। दूसरे शब्दों में, उसका दावा यह था कि विरोधों की एकता प्राथमिक है और विरोधों के बीच संघर्ष गौण।

इस दृष्टिकोण को तत्काल चुनौती दी गयी। देश के सभी भागों से सैकड़ों लेख प्रेस में प्रकाशित हुए, जिनमें से ज्यादातर मजदूरों और किसानों के लेख थे। शुरू-शुरू में जो विचार प्रकट हुए वे कमोबेश समान रूप से दो दृष्टिकोणों में बंट गये, और विवाद इस रूप में हो गया कि 'दो-एक में या एक-दो में,' परन्तु उसके बाद सन्तुलन बदलने लगा, और पिछले कुछ महीनों से इस विवाद में शिरकत करने वालों का भारी बहुमत दूसरे दृष्टिकोण का समर्थक बन चुका है, जो द्वंद्ववाद पर लेनिन की इस व्याख्या के अनुरूप है कि विरोधों के बीच सम्बन्ध के मामले में संघर्ष निरपेक्ष है और एकता सापेक्षिक।

पहले कभी भी दर्शन के इतिहास में एक सैद्धान्तिक सवाल को लेकर इतने बड़े पैमाने पर जनसमुदायों के बीच बहस नहीं हुई थी।

सैद्धान्तिक ज्ञान को उत्पादन में लगाना

पिछले कुछ वर्षों के दौरान, एक लगातार बढ़ते पैमाने पर, फैक्टरियों में, खेतों में, और जन मुक्ति सेना की यूनिटों में, मजदूर और किसान अपने सैद्धान्तिक ज्ञान को सीधे उत्पादन की समस्याओं के समाधान में लगाने लगे हैं। और यह बार-बार देखने में आ रहा है कि मार्क्सवादी दर्शन पर कक्षाओं का एक सिलसिला चलने के बाद उत्पादन में बढ़ोत्तरी हो जा रही है।

वहां, *व्यवहार के बारे में, अन्तरविरोध के बारे में,* और *जनता के बीच अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में* सबसे लोकप्रिय पाठ्यपुस्तकें हैं। मुझे एक ऐसे फैक्टरी मजदूर के बारे में बताया गया जो, *अन्तरविरोध के बारे में* का अध्ययन कर लेने के बाद वह जिस फैक्टरी में काम करता था उसमें, उत्पादन-प्रक्रिया में प्रधान अन्तरविरोध को पहचानने के काम में लग गया और कुछ ऐसी-ऐसी समस्याओं को हल कर लेने में सफल हो गया जिन्हें पहले वह मशीनों के इंचार्ज तकनीशियनों के जिम्मे छोड़ चुका था। उसने अपने निष्कर्षों पर अपने कामगार साथियों के साथ विचार-विमर्श किया और उसके कामगार समूह ने प्रस्ताव बनाकर तर्कसंगत निरूपण के लिए अग्रसारित कर दिया, जिन्हें प्रबन्धतंत्र ने स्वीकार कर लिया।

मुझे एक किसान औरत के बारे में बताया गया जो पांच बच्चों की मां थी, और खेतों में काम करती थी। अपने काम से फुरसत के समयों में उसने माओ त्से तुङ की सारी रचनाओं और अन्तरराष्ट्रीय विवाद के मुद्दों पर पक्ष-विपक्ष के सारे मुख्य दस्तावेजों का अध्ययन कर डाला। उसके बाद से तो उसे अपने कम्यून के अन्य हिस्सों में तथा दूसरे कम्यूनों में भी खुली बहसों में भाग लेने और यह बताने के लिए आमंत्रित किया जाने लगा है कि कैसे वह सिद्धान्त और व्यवहार को इस ढंग से समेकित करने में सफल हुई कि उत्पादन का स्तर बढ़ सके।

इस तरह लोग अपने सैद्धान्तिक स्तर को उन्नत करके अपने व्यवहार को उन्नत कर रहे हैं, और ऐसा करते हुए अपने उन मजदूर-साथियों के लिए एक मिसाल कायम कर रहे हैं जो इसका अनुसरण करते हुए और भी व्यापक अध्ययन समूहों के नाभि-केन्द्र बनते जा रहे हैं, और उत्पादन में और सुधार करते हुए क्रमशः पूरे समुदाय के विचारधारात्मक और नैतिक स्तर को उन्नत करते जा रहे हैं।

इस प्रकार, माओ ने व्यवहार, ज्ञान, फिर व्यवहार और फिर ज्ञान की जो चक्रीय प्रक्रिया बतायी, वह अब पूरे चीन में फैलती जा रही है। और यह तो अभी शुरुआत भर है।

शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम के बीच की खाई को पाटना

मैंने जिन मजदूरों का जिक्र किया है, उनके अलावा, मेरे सबसे घनिष्ठ मित्र पीकिङ युनिवर्सिटी के शिक्षक समुदाय के सदस्य थे, जिनमें से ज्यादातर युवा थे, और एक को छोड़कर सभी के सभी निम्न बुर्जुआ और बुर्जुआ वर्ग से आये हुए थे, एक अपवाद था जो एक भूतपूर्व भूस्वामी परिवार का था। वे सभी के सभी मार्क्सवाद को खूब अच्छी तरह पढ़े हुए थे, परन्तु मजदूरों से उनका कोई सम्पर्क न था। यह उनके लिए एक भारी समस्या थी। उनके लिए यह प्रस्ताव रखा गया था कि वे मार्क्सवाद पर मजदूरों की कक्षाएं लें, परन्तु जब ऐसी कक्षाओं का प्रयोग आजमाया गया तो सफल नहीं हुआ, कारण कि उनकी समझ में ही नहीं आता था कि मजदूर क्या चाहते थे। हमने भी इस समस्या पर कई बार विचार-विमर्श किया परन्तु कोई हल न निकल सका।

(शेष पृष्ठ 83 पर)

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, फेदेरिको गार्सिया लोर्का और पॉल रॉबसन की जन्मशताब्दी के अवसर पर विशेष

क्या जुल्मतों के दौर में भी गीत गाये जायेंगे ?
हां, जुल्मतों के दौर के ही गीत गाये जायेंगे !

— बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट
जन्म : 10 फरवरी 1898
मृत्यु : 14 अगस्त 1956

फेदेरिको गार्सिया लोर्का, जिस गोली ने तुम्हें अपने गांव की पत्थर की दीवार के पास गिराया था, उसने कुछ हासिल नहीं किया। लोगों की ताकत, जिन्हें तुम प्रेम करते थे, तुम्हारे शब्दों को जिन्दा रखेगी।

— ओडिसिस इलाइटिस

फेदेरिको गार्सिया लोर्का
जन्म : 4 जून 1898
मृत्यु : अगस्त 1936

''सूरज हमारा है। धरती हमारी होगी।
ओ महासागर की मीनार, तुम गाते रहोगे,
गाते चले जाओगे।''

— पाब्लो नेरूदा
('पॉल रॉबसन की शान में गीत' से)

पॉल रॉबसन
जन्म : 9 अप्रैल 1898
मृत्यु : 23 जनवरी 1976

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट और उनका थियेटर

●

राजीव शाह

''लेखन के जरिए लड़ो! दिखाओ कि तुम लड़ रहे हो! ऊर्जस्वी यथार्थवाद! यथार्थ तुम्हारे पक्ष में है, तुम भी यथार्थ के पक्ष में खड़े हो! जीवन को बोलने को! इसकी अवहेलना मत करो! यह जानो कि बुर्जुआ वर्ग इसे बोलने नहीं देता! लेकिन तुम्हें इजाजत है। तुम्हें इसे बोलने देना चाहिए। चुनो उन जगहों को जहां यथार्थ को झूठ से, ताकत से, चमक-दमक से छुपाया जा रहा है। अन्तरविरोधों को उभारो!... अपने वर्ग के लक्ष्य को, जो सारी मानवता का लक्ष्य है, आगे बढ़ाने के लिए सब कुछ करो, लेकिन किसी भी चीज को सिर्फ इसलिए छोड़ मत दो, क्योंकि वह तुम्हारे निष्कर्षों, प्रस्तावों और—आशाओं के साथ मेल नहीं खाती बल्कि ऐसे निष्कर्ष को छोड़ ही दो, बशर्ते सच्चाई आड़े न आये, लेकिन ऐसा करते हुए भी इस बात पर जोर दो, कि उस भंयकर लग रही कठिनाई पर जीत हासिल कर ली गई है। तुम अकेले नहीं लड़ रहे हो, तुम्हारा पाठक भी लड़ेगा, यदि तुम उसमें लड़ाई के लिए उत्साह भरोगे। तुम अकेले ही समाधान नहीं ढूंढ़ोगे, वह भी उन्हें ढूंढ़ेगा।''[1] जर्मन नाटककार व कवि बेर्टोल्ट ब्रेष्ट का यह उद्धरण 1940-41 में साहित्य में यथार्थवाद की एक अवधारणा को सूत्रबद्ध करने के उनके प्रयासों का एक अंग है। ऐसे साहसिक प्रयास बुर्जुआ आलोचकों के गले के नीचे नहीं उतर सकते और जैसा कि जाहिर था, इसके बाद साहित्य व कला में यथार्थवाद को लेकर उनके दृष्टिकोण को ''व्यक्ति की पराधीनता की विचारधारा''[2] की श्रेणी का बताकर सिरे से खारिज कर दिया गया। एक आलोचक के अनुसार तो यथार्थवाद की ब्रेष्ट की अवधारणा ''समाजवादी यथार्थवाद नामक सपाट क्षुद्रता'' के सिवा और कुछ नहीं है।

इस किस्म के आलोचक, यदि उन्हें आलोचक कहा भी जा सकता हो तो, यहीं नहीं रुकते। वे एक कदम आगे जाते हैं और मानवतावादी ब्रेष्ट को कम्युनिस्ट ब्रेष्ट से अलग करने की कोशिश करते हैं। उनमें से एक तो ब्रेष्ट को एक ऐसा ज्यादा चतुर मार्क्सवादी'' बताने की हद तक चला जाता है, जो अपनी ''उच्चतर मेधा के दम पर कम्युनिस्ट शासन के सांस्कृतिक नौकरशाहों से काफी स्वतंत्रता खींच निकालता है...।''[3] यही आलोचक आगे फरमाते हैं, ''ब्रेष्ट ने मार्क्सवादी खरदिमागों को मार्क्स के नाम पर बेवकूफ बना डाला जब उन्होंने द्वन्द्ववादी सिद्धान्त को अपने थियेटर का एकमात्र मान्य सूत्र बना लिया और अपने समस्त सैद्धान्तिक काम को इस विचार के मातहत कर दिया।''[4] यहां हमें पहली बार यह भेद पता चलता है कि द्वन्द्ववादी सिद्धान्त मार्क्सवाद के लिए पराया है।

''असली'' ब्रेष्ट, यानी कलाकार और ''छद्म'' ब्रेष्ट, यानी दबाव में रह रहे विचारवादी को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा करने के ऐसे भोंड़े प्रयासों के बावजूद, बुर्जुआ आलोचक अपने किसी भी तर्क को सही ठहराने में बुरी तरह असफल रहे हैं। बेर्टोल्ट ब्रेष्ट को मालूम था कि वह क्या बात कर रहे हैं जब उन्होंने ये शब्द कहे थे; ''सभी देशों की मेहनतकश जनता के हित में, लेखकों को एक लड़ाकू यथार्थवाद को अपनाने के लिए ललकारा जाना चाहिए। केवल एक समझौताहीन यथार्थवाद, जो सच्चाई पर, यानी शोषण-उत्पीड़न पर पर्दा डालने के सभी प्रयासों से जूझेगा, केवल वही शोषण और उत्पीड़न की कड़ी निन्दा कर उनकी कलई खोल सकता है।''[5]

बाद में जब ब्रेष्ट ने सामाजिक यथार्थवाद पर एक थीसिस की रचना की तो यथार्थवाद के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण और स्पष्ट हो गया। जैसा कि सोवियत आलोचक आई. फ्रादकिन ने कहा है, यह थीसिस थिएटर से जुड़े बिन्दुओं तक सीमित नहीं है, इसके वृहत्तर अर्थ हैं और यह कला व साहित्य की सभी विधाओं का सन्दर्भ लेती है।[6] इसमें ब्रेष्ट कहते हैं, ''समाजवादी यथार्थवाद समाजवादी दृष्टिकोण से नि:सृत कला के माध्यम से जीवन व मानवीय सम्बन्धों का तथ्यपरक प्रतिनिधित्व है। यह प्रतिनिधित्व सामाजिक प्रगति के सार तक पहुंचने का अवसर देता है और समाजवादी प्रकार की बौद्धिक प्रतिक्रियाओं को उत्प्रेरित करता है। ''पूंजीवादी विश्व में व्याप्त संकीर्ण भाग्यवाद पर चोट करते हुए वह कहते हैं, ''समाजवादी यथार्थवाद के आधार पर सृजित कोई भी कलाकृति सामाजिक विकास के द्वन्द्वात्मक नियमों को उद्घाटित करती है, जिनका ज्ञान समाज द्वारा मनुष्य की नियति के निर्धारण में मदद करता है।'' इस प्रकार अपनी थीसिस की भाग्यवाद विरोधी प्रकृति पर बल देते हुए वह आगे कहते हैं, ''(यह) चरित्रों व घटनाओं को ऐतिहासिक रूप से निर्धारित, परिवर्तनशील और अपनी प्रकृति में ही अन्तरविरोधी रूप में चित्रित करता है।'' सबसे बढ़कर ब्रेष्ट ने इस बात पर जोर दिया कि समाजवादी यथार्थवाद की नई अन्तर्वस्तु के फलदायी ढंग से उपयोग के लिए अभिव्यक्ति की नई पद्धतियों की तलाश और उनमें निपुणता हासिल की जानी चाहिए।

ऐसे भी आलोचक हैं जिनके मुताबिक ब्रेष्ट की ''सर्वाधिक आकर्षक उपलब्धियों'' में से एक यह है कि ''वह पार्टी लाइन के अंधानुकरण के लिए अपने भीतर के कलाकार को मारने में असफल रहे''।[7] लेकिन उन्हें यह जानकर निराशा होगी कि समाजवादी यथार्थवाद पर अपनी थीसिस में ब्रेष्ट ने कला व साहित्य में पक्षधरता की लेनिनवादी अवधारणा का स्पष्ट समर्थन किया है। वह कहते हैं : ''समाजवादी यथार्थवाद के आधार पर सृजित कोई कलाकृति मजदूर वर्ग के दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करती है और सभी अच्छे लोगों की ओर निर्देशित होती है।'' इस प्रकार ब्रेष्ट ने समाज के क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण में मजदूर वर्ग और उसकी विचारधारा की भूमिका को पहचाना और कला व साहित्य को इस आदर्श की पूर्ति की दिशा में निर्दिष्ट करना उन्होंने कलाकार का पहला कर्तव्य माना।

ब्रेष्ट का महत्वपूर्ण लेख '*ए शार्ट आर्गेनम फॉर थिएटर*'—जिसकी ''राजनीतिक विचारधारा'' को आलोचक पीटर हिमेत्ज़ ''पुराना'', ''अमान्य'' और ''बौद्धिक इतिहास के संग्रहालय में रखे जाने लायक''[8] मानते हैं— ''वैज्ञानिक युग के थियेटर'' की जरूरत पर जोर देता है, एक ऐसा थिएटर जो ''स्वयं को उन लोगों के साथ जोड़ता है जो महान परिवर्तन लाने के लिए अनिवार्यत: सर्वाधिक अधीर हैं।'' वह कहते हैं कि ऐसे थिएटर को उन लोगों का सार्थक मनोरंजन करना चाहिए''

जो प्राकृतिक विज्ञानों से इतना दूर दिखाई देते हैं, पर वे इनसे दूर केवल इसलिए हैं क्योंकि उन्हें बलपूर्वक दूर रखा जाता है। इन तक पहुंच पाने के पहले उन्हें समाज का एक नया विज्ञान विकसित और लागू करना होगा। ये वैज्ञानिक युग की सच्ची संतानें हैं और अगर थिएटर को आगे बढ़ना है तो केवल ये ही उसे गति दे सकते हैं।''[9]

निश्चित रूप से इस, और इस जैसी अनेक उद्घोषणाओं को ''सपाट क्षुद्रता'' या ''ज्यादा चतुर मार्क्सवादी'' के तर्क अथवा ''बौद्धिक इतिहास के संग्रहालय में रखे जाने लायक'' कहकर खारिज नहीं किया जा सकता।

II.

ब्रेष्ट ने वैज्ञानिक युग के अपने थिएटर को एपिक 'थिएटर' का नाम दिया। उनके मुताबिक, एपिक थियेटर को घटनाओं का बयान करना चाहिए और दर्शक को उन्हें समझने के लिए बाध्य करना चाहिए। ऐसा थिएटर पारम्परिक थिएटर के विपरीत है जिसे ब्रेष्ट ने ''अरस्तूवादी'' की संज्ञा दी। उन्होंने अरस्तूवादी थिएटर को खारिज किया क्योंकि वह दर्शक को भावनात्मक प्रतिक्रियाओं की कड़ी में बांध लेता है। एपिक थिएटर का मुख्य कार्य दर्शक की बुद्धिमत्ता को संबोधित करना है। उन्होंने ''निर्णयों की टकराहट, निगमनात्मक तर्कों के संघर्ष और विश्व में जो भी गलत और अहमकाना है, उसकी सचेत पहचान को, घृणित व बुरी चीजों की भावनात्मक पहचान''[10] के मुकाबले अधिक महत्व दिया।

लेकिन ब्रेष्ट भावना को पूरी तरह खारिज नहीं करने के मामले में सावधान थे। उन्होंने अपने सिद्धान्त की ऐसी किसी व्याख्या के प्रति चेतावनी दी थी : ''हालांकि कई बार ऐसा कहा जाता है, पर यह सही नहीं है कि एपिक थिएटर (जो कतई अनाटकीय थिएटर नहीं है, जैसाकि प्राय: कहा जाता है) यह नारा देता है : 'तर्क इस पाले में, भावना (संवेदना) उस पाले में।' यह किसी भी तरह भावना को रद्द नहीं करता। न्यायभावना, आजादी की चाह और न्यायसंगत क्रोध आदि को खारिज करने से तो यह इतनी दूर है कि यह न केवल उनकी उपस्थिति को मानकर चलता है बल्कि उन्हें जगाने या मजबूत करने का प्रयास करता है।''[11]

अरस्तूवादी थिएटर को खारिज करने के ब्रेष्ट के कारण वास्तविक थे। उन्होंने कहा, ''प्राचीन युग में, अरस्तू का अनुसरण करते हुए, लोग त्रासदी से इससे ज्यादा या कम कुछ नहीं चाहते थे कि उसे लोगों का मनोरंजन करना चाहिए। और अरस्तू जो लिखता है उसका विरेचन,... एक शुद्धिकरण है जिसे न केवल आनन्ददायी ढंग से प्रस्तुत किया जाना चाहिए बल्कि उसका उद्देश्य ही आनन्द होना चाहिए।''[12] इसके अलावा, प्राचीन युग की त्रासदियों में ''कथा के सम्मोहक संवेग का दृष्टिभ्रम'' ही सबकुछ था और यह हर प्रकार के काव्यात्मक एवं नाटकीय साधनों से किया जाता था।''[13] उस युग के चरित्र आलोचना से परे थे। ''अपने समय के समाज के कुछ आधारभूत नियमों की अवहेलना करने वाले ओडियस को मृत्युदण्ड दिया जाता है। देवगण इसे सुनिश्चित करते हैं। वे आलोचना से परे हैं। शेक्सपियर के महान एकाकी व्यक्तित्व, अपनी छाती पर अपने भाग्य का सितारा लिये हुए अप्रतिरोध्य शक्ति के साथ अपना निरर्थक एवं घातक भावावेग जारी रखते हैं; वे अपने ही पतन की तैयारी करते हैं, उनके धराशायी होने में मृत्यु नहीं बल्कि जीवन ही अश्लील लगने लगता है; पर यह ध्वंस आलोचना से परे होता है।''[14]

इतना ही नहीं। ब्रेष्ट मानते हैं कि समकालीन बुर्जुआ थिएटर में सोफोक्लीज़, रासीन या शेक्सपियर की सटीक प्रस्तुति करने की न तो क्षमता है और न ही इच्छा। ब्रेष्ट यह भी ध्यान दिलाते हैं कि प्राचीन नाटकों का आनन्द लेने की हमारी क्षमता भी कमजोर हुई है क्योंकि हम पुरानी कृतियों को सापेक्षिक रूप से नई पद्धतियों—जैसे तदनुभूति (आत्म-तादात्म्य)* से समझने की कोशिश करते हैं, जिनका प्राचीन लोग कम ही सहारा लेते थे।

शेक्सपियर के *कोरियोलेनस* (प्रथम अंक) पर अपने नोट्स में ब्रेष्ट बताते हैं कि बुर्जुआ थिएटर कैसे शेक्सपियर को तोड़ते-मरोड़ते हैं। ज्यादातर बुर्जुआ थिएटर प्रथम अंक के कोरियेलेनस को एक देशभक्त के रूप में पेश करते हैं जिसके हाथ स्वार्थी प्लेबियंस (साधारण जन) तथा कायर और कमजोर सीनेट के कारण बंधे हुए हैं। शेक्सपियर सोचता था कि उसका नाटक पैट्रीशियंस (कुलीनों) के प्रति आलोचनात्मक तेवर रखता है और वह ''पैट्रीशियंस द्वारा मक्के की जमाखोरी को भी मुद्दा बनाता है'', जबकि बुर्जुआ थियेटरों की प्रस्तुति आम तौर पर पैट्रीशियंस के प्रति सहानुभूति रुख अपनाती है। इसी तरह, जहां शेक्सपियर मूलत: प्लेबियंस के साथ सहानुभूति रखता है'' और उनके विद्रोह को एक मूर्खतापूर्ण गलती के रूप में पेश करने से बचता है'', वहीं बुर्जुआ थिएटर उन्हें ''हास्यास्पद और दयनीय'' रूप में पेश करता है।[15]

इन्हीं कारणों से ब्रेष्ट द्वारा किये गये *कोरियोलेनस* के रूपांतरण के साथ एक स्पष्ट निर्देश भी है : ''नायक और त्रासदी के तत्व का आनन्द लेने के लिए हमें नायक के साथ तदनुभूति की भावना से आगे जाना होगा... हमें कम से कम केवल कोरियोलेनस की ही नहीं बल्कि रोम की और खासकर प्लेबियंस की भी त्रासदी को 'अनुभव' करना होगा।''[16]

*Empathy (Self- identification)

ऐसे सिद्धान्तों के आधार पर ब्रेष्ट ने एपिक थिएटर की अपनी अवधारणा को विकसित किया और इस पर आधारित कई नाटक लिखे। जैसा कि यह नाम ही इंगित करता है, ब्रेष्ट के नाटक आख्यानात्मक शैली में लिखे गये हैं। इनका ढांचा पहली नजर में ढीला-ढाला लगता है जिसमें अलग-अलग दृश्यों की एक कड़ी होती है। नाटकीय-आख्यानात्मक लहजे को स्थापित करने के लिए ब्रेष्ट कई तकनीकें अपनाते हैं, जैसे मंच पर मौजूद कथावाचक (*काकेशियन चॉक सर्किल* में), दृश्यों के पूर्व प्रस्तुत किये जाने व्याख्यात्मक पद्यांश (*लाइफ ऑफ गैलीलियो* में) और आने वाले दृश्यों की पूर्व-सूचना देने वाले बैनर आदि। हालांकि इस तरह नाटक में होने वाले एक्शन को पहले ही बताकर ब्रेष्ट सस्पेंस के आकर्षण को (जो अरस्तूवादी नाटक का आवश्यक अंग है) छोड़ देते हैं, फिर भी उनकी नाटकीय प्रतिभा, ऊर्जस्विता और नवीनता लगातार उत्सुकता और जीवंत रुचि जगाए रखती है।

इससे भी बढ़कर, एक्शन के साथ दर्शक के पारम्परिक तादात्म्य को तोड़ डालने के लिए ब्रेष्ट ने अपना विख्यात पार्थक्य प्रभाव (एलिएनेशन इफेक्ट) विकसित किया और दर्शक को एक आलोचनात्मक दूरी पर रखने की तकनीकें निकालीं। इसके तहत ऐसी छवि का प्रयोग किया गया जो अचानक सुपरिचित चीजों को भी देखने वाले के लिए विचित्र बना देती है, और वह चौंककर इसके महत्व को पहचानता है। ब्रेष्ट के एपिक थिएटर में पार्थक्य प्रभाव की चर्चा लेख के अगले खंडों में विस्तार से की गई है।

एपिक थिएटर का मूलभूत लक्ष्य इसका मुक्तिकारी मिशन है। इस सम्बन्ध में ब्रेष्ट को उद्धृत करना बेहतर है : ''हमारे थिएटर को चीजों को समझने में होने वाले रोमांच को प्रोत्साहित करना चाहिए और लोगों को यथास्थिति को बदलने में आनन्द लेने के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए। हमारे दर्शकों को केवल यही नहीं सुनना चाहिए कि प्रोमीथियस कैसे मुक्त हुआ, बल्कि उन्हें उसे मुक्त कराने के आनन्द में स्वयं को प्रशिक्षित भी करना चाहिए। उन्हें यह सिखाया जाना चाहिए कि वह हमारे थिएटर में आविष्कारक और अन्वेषक द्वारा अनुभव किये जाने वाले संतोष व आनन्द को महसूस करें, मुक्तिदायक के विजय के गौरव को महसूस करें।''[17]

III.

ब्रेष्ट के ज्यादातर नाटकों में इस तथ्य को देखा जा सकता है कि उनके नाटक भाग्यवाद विरोधी होते हैं और उनके चरित्र व घटनाएं ऐतिहासिक रूप से निर्धारित, अन्तरविरोधी प्रकृति के और परिवर्तनशील होते हैं। फिर भी ब्रेष्ट के नाटकों की कुछ गम्भीर गलत व्याख्याओं के कारण

इस मुद्दे पर विवाद होता रहा है। आलोचक और ब्रेष्ट के नाटकों के अनुवादक एरिक बेंटली ने एक जगह कहा है : ''एक के बाद एक नाटक में, ब्रेष्ट ने मानव स्वभाव की मानवीयता को अमानवीयता द्वारा कुचले जाते देखा। पहले वे इस अमानवीयता के स्रोत के रूप में संसार को देखते थे पर बाद में उन्होंने पूंजीवादी समाज के रूप में इसे पहचाना। ब्रेष्ट के ज्यादातर नाटकों का अन्त इस निर्दयता की पूर्ण विजय के साथ होता है... *ब्रेष्ट की दुनिया में बुराई सक्रिय रहती है जबकि अच्छाई आमतौर पर निष्क्रिय रहती है*... ब्रेष्ट के नाटकों में निर्दयता के बारे में और चाहे जो कुछ कहा जाये, पर इस निर्दयता का स्वरूप और मात्रा, दर्शक द्वारा तटस्थ रहने के किसी भी प्रयास को असफल कर देती है, जिस पर ब्रेष्ट का सैद्धान्तिक लेखन बल देता है'' (जोर मूल में)।[18] एक अन्य आलोचक वाल्टर एच. सोकेल ने कहा है कि ब्रेष्ट के नाटकों में त्रासदी का तत्व दो छद्म रूपों में आता है : ''इच्छा और वास्तविकता के बीच अनिवार्य टकराव के रूप में और लक्ष्यों व साधनों के बीच विरोधाभास के रूप में।'' सोकेल की नजर में यदि और नहीं तो कम से कम ''मदर करेज, कातरिन व शेन ते निस्संदेह हमें उसी तरह भावनात्मक रूप से आलोड़ित करते हैं, जैसे अरस्तूवादी नाटकों के पात्र करते हैं।''...[19]

यहां हम सोकेल द्वारा *गुड वुमन ऑफ शेजुआन* की शेन ते के विश्लेषण की चर्चा यह दिखाने के लिए करेंगे कि वह किस प्रकार उसके चरित्र को और नाटक की थीम को गलत ढंग से समझे हैं। सोकेल महसूस करते हैं कि नाटक की मुख्य पात्र शेन ते ब्रेष्ट के *श्री पेनी ऑपेरा* के श्री पीचम के इस कथन के दायरे में आती है :

''कौन नहीं चाहेगा एक अच्छा और दयालु व्यक्ति बनना?...
पर परिस्थितियां ऐसा नहीं होने देतीं।''

सोकेल का इस नाटक का विश्लेषण इस प्रकार है :

दयावान वेश्या शेन ते को अन्यायपूर्ण व्यावसायिक समाज में जिन्दा रहने के लिए सख्त मालिक और मुनाफाखोर शुई ता के भेस में रहना पड़ता है। ''उदार होने की शेन ता की इच्छा शुई ता की मुनाफाखोर नीचता के जरिए ही पूरी हो सकती है, वरना वह भली बनने के साधनों से वंचित हो जायेगी....'' इस विश्लेषण के बाद सोकेल इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि इस नाटक का त्रासद सन्देश यह है : ''भलाई हासिल करने के लिए मनुष्य को अपनी भलाई का त्याग करना होगा। उसकी त्रासदी यही है कि वह प्रभावी तौर पर वह कभी नहीं बन पाता जो वह स्वाभाविक रूप से है।''[20] शायद बेंटली बेझिझक यहां यह जोड़ देते : ''यह रहा निर्दयता की पूर्ण विजय का एक उदाहरण।''

यदि ब्रेष्ट के नाटकों का विश्लेषण करते समय उनकी प्रस्तुति-तकनीकों को ध्यान में न रखा जाए तो सोकेल और बेंटली के निष्कर्षों को माना जा सकता है। लेकिन ब्रेष्ट के नाटक इब्सन या स्ट्रिंडबर्ग के नाटकों की तरह सीधे कथानक नहीं हैं। ब्रेष्टियन थिएटर दर्शकों को किसी फैसले पर पहुंचने में मदद करने के लिए कई मंचीय व नाटकीय तकनीकों का इस्तेमाल करता है। उनके कथानकों में ''जिंदगी का एक टुकड़ा'' मार्का यथार्थ नहीं होता, न ही उनमें भावात्मकता हावी होती है जो केवल ''संत्रस्त, सहज विश्वासशील, सम्मोहित'' दर्शक बनाती है। वास्तव में वे जीवन का विस्तृत परिदृश्य दिखाते हैं जिसका उद्देश्य होता है कि दर्शकों को सामाजिक विकास के द्वंद्वात्मक नियमों का ज्ञान कराया जाये।

इसी उद्देश्य से ब्रेष्ट पार्थक्य प्रभाव की अपनी विख्यात तकनीक इस्तेमाल करते हैं। ब्रेष्ट ने पार्थक्य प्रभाव को इस रूप में परिभाषित किया है : ''एक ऐसी प्रस्तुति जो अलगाव (पार्थक्य प्रभाव) पैदा करती है, वह होती है जिसमें हम उसका विषय पहचान सकते हैं, लेकिन साथ ही वह हमें अपरिचित सा लगता है।''[21] *शॉर्ट ऑर्गेनम* में वह हमें स्पष्टत: बताते हैं कि ऐसी तकनीक का प्रयोग कैसे किया जाये : ''किसी चीज को अपरिचित बनाने का एक सरल तरीका प्रथाओं और नैतिक सिद्धान्तों से सम्बन्धित है। किसी का आना, किसी शत्रु की प्रस्तुति का 'ट्रीटमेण्ट', प्रेमियों की मुलाकात, राजनीतिक या व्यापारिक समझौता—इन सबको इस तरह चित्रित किया जा सकता है जैसे वह सामान्य सिद्धान्तों के उदाहरण मात्र हों। इस तरह दिखाये जाने पर वह विशिष्ट और एक ही बार हुई घटना परेशान करने वाली लगने लगती है क्योंकि वह ऐसी दीख पड़ती है मानो कोई आम बात हो, कोई ऐसी बात हो जो सिद्धान्त रूप ले चुकी है। जैसे ही हम यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या वास्तव में इसे ऐसा ही होना चाहिए था, या इसे किस तरह होना चाहिए था, हम उस घटना को अपरिचित के रूप में देख रहे होते हैं।''[22]

यह ब्रेष्ट के नाटकों में पार्थक्य प्रभाव हासिल करने का सबसे महत्वपूर्ण और सामान्य तरीका है। शेन ते का उदाहरण जारी रखते हुए, हम देखेंगे कि ब्रेष्ट ने किस तरह इस तकनीक को नाटक के चौथे दृश्य में लागू किया। दृश्य चार में धनी नाई ने भिश्ती वोंग के हाथ पर अपनी गर्म छड़ दे मारी है। इससे वोंग का हाथ हमेशा के लिए बेकार हो गया है। नाई से मुआवजे की मांग करने जज के पास जाने के लिए उसे एक गवाह चाहिए। नाटक की भली महिला शेन ते, जो एक वेश्या है, घटना के समय मौजूद नहीं थी। इसलिए वह घटना के समय मौजूद रहे हरेक से अदालत में गवाही देने के लिए कहती है। पर कोई किसी न किसी बहाने से उसका अनुरोध टाल देता है। ऐसी उदासीनता से क्षुब्ध होकर वह कहती है :

''तुम्हारे भाई पर हमला होता है,
और तुम आंखें मूंद लेते हो?
वह पिटता है, दर्द से चीखता है,
और तुम खामोश रहते हो?
हिंसक पशु घात लगाता है
और अपने शिकार को दबोच लेता है
और तुम कहते हो :
'हमने नाराजगी नहीं दिखाई,
इसलिए उसने हमें बख्श दिया'।''

नाई द्वारा भिश्ती के हाथ पर चोट किया जाना एक मामूली घटना मानी जा सकती है। लेकिन यहां देखा जा सकता है कि ब्रेष्ट कैसे, प्रतिभाशाली ढंग से, न केवल इस घटना को बल्कि उसके प्रति उदासीनता को भी सामान्यीकृत करते हैं और उसे ''अपरिचित'' सा बना देते हैं। यह घटना तब और सामान्यीकृत हो जाती है जब कुछ संवादों के बाद शेन ते दर्शकों को संबोधित करते हुए उदासीनता पर टिप्पणी करती है :

''उन्होंने जवाब देना छोड़ दिया है
वे जस का तस रहते हैं
जैसा बताया जाए वैसा करते हैं
उन्हें कोई परवाह नहीं
कोई भी चीज उन्हें नजर उठाने को
बाध्य नहीं कर सकती
सिवाए भोजन की गंध के।''

इस टिप्पणी के द्वारा नाटककार ने उदासीनता के रवैये पर प्रश्न उठाया है और यही कारण है कि यह एक पृथक्कारी उपकरण के रूप में काम करती है। यह सही है कि यहां ''बुराई सक्रिय है जबकि भलाई निष्क्रिय है'', लेकिन इसी स्थिति पर तो प्रश्न उठाया गया है। नाटक ''निर्दयता की पूर्ण विजय'' को स्वीकार नहीं कर रहा है, बल्कि इस ''विजय'' पर प्रश्न उठा रहा है। सोवियत आलोचक निकोलाई लीजेरोव नाटक के सार को सही परिप्रेक्ष्य में समझते हुए कहते हैं : ''*गुड वुमन* की पूरी नाटकीय संरचना अनिवार्यत: इस निष्कर्ष की ओर ले जाती है कि मनुष्य को विरूप करने वाले संसार को बदलना आवश्यक है। हालांकि लेखक इस नतीजे तक पहुंचना खुद दर्शकों के ऊपर छोड़ देता है और उनकी सक्रिय भागीदारी जगाने के लिए प्रयास करता है।''[23]

नाटक से एक और उदाहरण यह स्पष्ट करेगा कि संवादों के जरिए भी कैसे पार्थक्य प्रभाव पैदा किया जाता हैं। दसवें दृश्य में (नाटक के अंत के करीब) पृथ्वी पर उन्हें मिले ''एकमात्र अच्छे व्यक्ति''— शेन ते के बारे में निर्णय सुनाने

के लिए तीन देवता फिर से मंच पर आते हैं। लेकिन उन्हें निराशा होती है जब शेन ते, शुई ता की सच्चाई बयान करती है :

''आपकी आज्ञा
कि भली बनो और फिर भी जियो
एक वज्रपात थी
इसने मुझे दो टुकड़ों में फाड़ दिया है...''

इस तरह वह इस नतीजे पर पहुंचती है कि देवताओं के नियम धरती पर पालन करने योग्य नहीं हैं।

फिर वह एक सामान्य प्रश्न उठाती है :

''क्यों?
क्यों होते हैं बुरे काम पुरस्कृत
और दंडित होते हैं भले काम करने वाले?''

इसका जवाब नहीं मिलने पर, वह यह नतीजा निकालती है :

''जो कुछ भी मैंने किया वह था
अपने पड़ोसी की मदद के लिए
अपने प्रेमी को प्रेम करने के लिए
अपने बच्चे की जरूरतें पूरी करने के लिए
आपके महान, भले कार्यों के लिए,
मैं बहुत गरीब थी और बहुत छोटी।''

शेन ते ने देवताओं को जो बताया उससे स्पष्ट है कि देवताओं को जो एकमात्र भला व्यक्ति मिला वह भी उनके स्वर्णिम नियमों का पालन नहीं कर सकता। फिर भी देवता कहते हैं :''और इस नियम-विधान का क्या होगा—हम अपने नियमों का परित्याग तो नहीं कर सकते? क्या संसार को बदला जाना चाहिए? कैसे? किसके द्वारा? नहीं, संसार को *नहीं* बदला जाना चाहिए।'' यहां देवता जो कहते हैं, दर्शकों पर उसका ठीक उल्टा प्रभाव होता है और ब्रेष्ट यही चाहते हैं। देवताओं के स्वर्णिम नियम एक शोषक समाज में नहीं चल सकते —नाटक इसे साबित करता है और देवता यह जानते हैं। लेकिन विडम्बना यह है कि देवता अपने नियमों को बनाये रखने पर आमादा हैं। इसलिए यही निष्कर्ष नजर आता है : दुनिया को बदल डालो। नाटक का भरतवाक्य (उपसंहार) बड़ी चतुराई से इस बात को कहता है :

''आप सोच रहे हैं, है न, कि जो नाटक
आज आपने देखा
उसका ये तो कोई नतीजा नहीं हुआ?
एक शानदार, चमत्कारी कहानी के बाद
एक गंदा अंत हम पर दिया गया लाद....
लेकिन इससे बेहतर अंत
हम कैसे दिखा सकते हैं?
क्या दुनिया बदल सकती है?
क्या लोग बदल सकते हैं?
क्या नये देवताओं से काम बनेगा?
या नास्तिकता से?
अच्छे लोगों के अच्छे दिन आयें
इसका रास्ता निकालोगे तुम,
यही हम बतायें।
रास्ता निकलेगा, रास्ता निकलेगा,
रास्ता निकल के रहेगा!
नाटक का सुखान्त *तुम्हारे* हाथों लिखेगा!''[24]

ऐसे अनेक उदाहरणों से हम इसी नतीजे पर पहुंचते हैं कि समग्रता में ब्रेष्ट दर्शकों को आशावादी ढंग से सोचने की दिशा में प्रेरित करते हैं।

इसी तरह **मदर करेज** को लेकर जे.ए. स्ट्यान जैसे बुर्जुआ आलोचक यह शोर मचाते हैं कि कम से कम *मदर करेज* में ब्रेष्ट ने, सम्भवत: अनजाने में, ''नाटक के द्वन्द्ववाद को खत्म हो जाने दिया है'', कि नाटक के अन्तिम दृश्य ''अपनी ही बनाई जेल में कैद नहीं बल्कि त्रासद भाग्य के हाथों कैद'' मां की छवि पेश करते हैं, और यहां ब्रेष्ट की पार्थक्य प्रभाव की तकनीक ''फायर ब्रिगेड की तरह'' (बेंटली के शब्द) काम में लाई जाती है।[25] ऐसे नतीजे अन्य नाटकों के भी सम्बन्ध में निकाले गये हैं। लेकिन यह हमेशा याद रखा जाना चाहिए कि ब्रेष्ट की मंचीय तकनीकों के सही ढंग से विश्लेषण और नाटक में उनके उचित ढंग से उपयोग के बिना स्ट्यान, बेंटली या सोकेल के निष्कर्षों तक पहुंचने का खतरा रहता है।

IV.

ब्रेष्ट हमेशा यह ध्यान दिलाते थे कि पार्थक्य प्रभाव की तकनीक तब तक अधूरी रहेगी जबतक अभिनेता अपनी भूमिका के प्रति सचेत नहीं होंगे। ब्रेष्ट के शब्दों में : ''पार्थक्य प्रभाव पैदा करने के लिए अभिनेता को वह सब कुछ छोड़ देना पड़ेगा जो उसने अपने द्वारा निभाये जा रहे पात्र के साथ दर्शकों का तादात्म्य स्थापित कराने के बारे में सीखा है। दर्शकों को पूरी तरह तन्मय कर देने के प्रयास में उसे खुद ही तन्मय नहीं हो जाना चाहिए। उसकी मांसपेशियां ढीली रहनी चाहिए, क्योंकि गर्दन की कसी मांसपेशियों के साथ सिर घुमाने पर, जादुई ढंग से दर्शकों की आंखें और सिर भी उसके साथ-साथ घूमेंगे, और यह उस भंगिमा पर होने वाली सोच या प्रतिक्रिया से ध्यान ही बंटायेगा।

उसके बोलने का ढंग न तो धर्मसभाओं के भाषणों जैसा एकसुरा होना चाहिए और न ही उसे ऐसे आरोह-अवरोहों से भरा होना चाहिए जो दर्शक को इस तरह मंत्रमुग्ध कर दें कि वह होश खो बैठे। यदि वह किसी जुनूनी आदमी का किरदार अदा कर रहा है तो उसे खुद ही जुनूनी नहीं लगना चाहिए क्योंकि यदि ऐसा होगा तो दर्शक कैसे समझेगा कि किरदार पर काहे का जुनून सवार है''[25] उनका कहना था कि नाट्य समीक्षकों द्वारा किये जाना वाला यह फैसला अभिनेता के लिए एक सांघातिक चोट होगी – ''वह (किंग) लियर का अभिनय नहीं कर रहा था, वह खुद ही लियर था।''

ब्रेष्ट ने बुर्जुआ थिएटर की इस ''निन्दनीय आदत'' के विरुद्ध भी चेतावनी दी कि प्रधान अभिनेता—स्टार—केन्द्र में होता है और बाकी सारे अभिनेता उसके लिए काम करते हैं। ऐसे फूहड़पन से बचने के लिए उन्होंने सलाह दी कि अभिनय को इस तरीके से विकसित किया जाना जरूरी है कि जिससे हर किरदार का सामाजिक दृष्टिकोण सुदृढ़ हो।

इस सिलसिले में ब्रेष्ट ने 'जेस्टस' (gestus) की अवधारणा विकसित की, जिसका अर्थ है ''भंगिमा (gesture)और सार (gist), मुद्रा (attitude) और दृष्टिकोण (point) साथ-साथ विकसित करना : दो लोगों के बीच सम्बन्ध के एक पहलू का अलग से अध्ययन करके उसकी बुनियादी चीजें तय करना और उसे शारीरिक या मौखिक रूप से अभिव्यक्त करना।''[27] जैसा कि इस परिभाषा से स्पष्ट है, यह तकनीक हर अभिनेता को अपने किरदार के मुताबिक एक शारीरिक मुद्रा, बोलने का लहजा और मौखिक भाव-भंगिमा अपनाने में मदद करती थी। चूंकि 'जेस्टस' की अभिव्यक्तियां ''अत्यन्त जटिल और अन्तरविरोधी'' प्रकृति[28] की हैं, इसलिए ब्रेष्ट ने इस बात पर बल दिया कि अभिनेता अपने किरदार में महारत हासिल करने के लिए उसके विभिन्न कथनों के साथ ही उसके सहयोगी किरदारों के कथनों पर भी पूरा ध्यान दे।

किसी नाटक में किस तरह का 'जेस्टस' होना चाहिए, इसे प्रदर्शित करने के लिए ब्रेष्ट अपने नाटक *लाइफ ऑफ गैलीलियो* (शुरुआती दृश्यों) का उदाहरण लेते हैं। पहले दृश्य में, हम देखते हैं कि गैलीलियो (उम्र छियालिस वर्ष) सुबह-सुबह दूध पीते हुए अपने शरीर का ऊपरी भाग धो रहा है और आंद्रिया सार्ती नाम के बच्चे को सिखाने के लिए उत्सुक है। हम यह भी देखते हैं कि गैलीलियो और आंद्रिया बेझिझक एक-दूसरे से बातें कर रहे हैं—एक उत्सुकता से प्रश्न पूछता है जबकि दूसरा तत्परता से उत्तर देता है। ब्रेष्ट यह याद दिलाते हैं कि इसे अभिनीत करते समय इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि नाटक जिस दृश्य के साथ समाप्त होता है, उसमें गैलीलियो अठहत्तर वर्ष का है और अपने उसी शिष्य आंद्रिया को विदा करने के बाद रात का खाना खा रहा है। इस उम्र में गैलीलियो ''बुरी तरह बदल चुका'' है; वह, ''असंयमित

लालच के साथ भोजन पर टूट पड़ता है और उसके दिमाग में दूसरा कोई विचार नहीं होता''। अपने शैक्षणिक मिशन से अब उसका कोई सरोकार नहीं है जिसका उसने ''शर्मनाक हालात में'' परित्याग कर दिया है ''जैसे वह कोई बोझ हो''। इस अंत के साथ 'कंट्रास्ट' पैदा करने के लिए यह जरूरी है कि आरम्भिक दृश्य में गैलीलियो को आनन्द के साथ दूध पीते और शरीर को धोते हुए दिखाया जाए— ''आनन्द, जो उसे नये विचारों से मिलता है।'' अपने प्रति उसकी आसक्ति को अच्छे रूप में दिखाया जाना चाहिए— ''क्योंकि इस समय आपको नाटक में ऐसा कुछ नहीं मिलेगा जो समाज को नुकसान पहुंचाए।'' लेकिन यह नहीं भूला जाना चाहिए कि कई भंयकर चीजें घटित होने जा रही हैं— जिनमें से एक यह है कि ''वह व्यक्ति जो नये युग का अभिनन्दन करता है, अंत में इस युग से यह अनुनय करने को विवश कर दिया जायेगा कि उसे एक निन्दनीय व्यक्ति के रूप में अस्वीकार कर दिया जाये।'' इसके अलावा, आरम्भिक दृश्य में गैलीलियो और आंद्रिया को बेझिझक बात करते दिखना चाहिए— ''ऐसा करीबी बंधन ध्यान खींचेगा क्योंकि एक दिन यह झटके से टूट जाने वाला है।''[29]

इस तरह के अनेक उदाहरण देने के बाद ब्रेष्ट निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं : ''ऐसी सामग्री को विखंडित करके एक के बाद एक 'जेस्टस' में ढालते हुए, अभिनेता पहले अपने कथानक में महारत हासिल करने के जरिए अपने किरदार में महारत हासिल कर लेता है। पूरे दृश्यबंध पर ठीक से काम करने के बाद ही वह मानो एक छलांग में अपने किरदार को, उसकी सभी विशिष्ट खूबियों के साथ, पकड़ सकता है।''[30]

V.

'जेस्टस' पर अपने निष्कर्ष के बाद ब्रेष्ट कहते हैं : सबकुछ कथानक पर निर्भर करता है; यह नाटक के प्रदर्शन की धड़कन है।'' क्योंकि कथानक ही अभिनेता को चर्चा करने, आलोचना करने और परिवर्तन करने का मौका देता है। ''कथानक थियेटर की बड़ी कार्रवाई है : घटनाओं की वह समूची संरचना जो प्रत्येक 'जेस्टस' के साथ, सम्प्रेषणों और संवेदों को समेटते हुए, दर्शकों का मनोरंजन करती है।''[31]

इसलिए कथानक की अलग-अलग घटनाओं का एक विशेष महत्व है। उन्हें आपस में इस तरह जोड़ा जाना चाहिए कि जोड़ आसानी से नजर आ जाएं। साथ ही, एक के बाद दूसरा प्रसंग एक उचित क्रम में आना चाहिए और इसे दर्शकों को एक फैसले पर पहुंचने का पूरा मौका देना चाहिए। हर प्रसंग के शीर्षक का अपने से पहले और बाद वाले प्रसंग के साथ ढांचागत जुड़ाव होना चाहिए। इसे एक सामाजिक दृष्टिकोण को भी दर्शाना चाहिए—इसे लोकप्रिय पुट देने के लिए इसमें अखबारी शैली या लोकगान या दृष्टांत का इस्तेमाल किया जा सकता है। यह सब नाटक में ज्यादा प्रभावशाली ढंग से पार्थक्य प्रभाव पैदा करने में मदद करते हैं। ब्रेष्ट के शब्दों में, ''कथानक का प्रस्तुतिकरण और उचित तरीकों से इसका सम्प्रेषण थिएटर का मुख्य कार्य है। सबकुछ अभिनेता पर निर्भर नहीं करता। अभिनेता, मंच सज्जाकार, रूप सज्जाकार, वेषभूषाकार और नृत्य निर्देशक—इन सबके सम्मिलित प्रयास से थिएटर कथानक को सामने लाता है और खोलकर दिखाता है।''[32]

इसके अलावा पार्थक्य प्रभाव पैदा करने में संगीत एक प्रमुख भूमिका निभाता है। ब्रेष्ट के अनुसार, उनके एपिक थिएटर में संगीत सशक्त टिप्पणी के रूप में मौजूद होता है। ब्रेष्ट ने अपने नाटकों में संगीत देने वाले अपने साथियों हंस आइसलर और कुर्ट वेइल की खूब सराहना की है। *लाइफ आफ गैलीलियो* में घटनाओं को आपस में जोड़ने में आइसलर ने किस तरह मदद की, इसकी चर्चा करते हुए ब्रेष्ट कहते हैं : ''*गैलीलियो* के कार्निवाल वाले दृश्य में उन्होंने गिल्डों (दस्तकार संघों) के जुलूसों के लिए एक विजयी और भयकारी संगीत तैयार किया जो निचले तबकों द्वारा विद्वान (गैलीलियो) के खगोलशास्त्रीय सिद्धान्तों को दिये गये एक हद तक क्रान्तिकारी मोड़ को जाहिर करता है।''[33]

अन्त में, ब्रेष्ट ''नाटक की सभी सहयोगी कलाओं'' को आमंत्रित करते हैं, एक ऐसी एकीकृत कलाकृति की रचना करने के लिए नहीं ''जिसमें वे सब अपने को अर्पित करके विलीन हो जायें'', बल्कि इसलिए कि वे नाटक के साथ मिलकर ''साझा कार्यभार की दिशा में अपने-अपने ढंग से आगे बढ़ें।...'' जाहिरा तौर पर, साझा कार्यभार ''वैज्ञानिक युग की संतानों का मनोरंजन करना, और इस काम को ऐन्द्रिकता और परिहास (ह्यूमर) के साथ करना'' है। और थिएटरों के जरिए, ''उन्हें (मेहनतकश जनता को) अपना जीवन सरलतम ढंग से प्रस्तुत करने दिया जाना चाहिए; क्योंकि जीने का सरलतम ढंग कला के साथ जीना है।''[34]

सन्दर्भ

1. ब्रेष्ट, 'थीसिस फार प्रोलेतारियन लिटरेचर', **क्लासिकल रीडिंग्स फ्राम जर्मन लिटरेचर,** बाम्बे, 1969, पृ. 341

2. 'इण्ट्रोडक्शन', पीटर देमेत्ज़ (सं), **ब्रेष्ट : ए कलेक्शन ऑफ क्रिटिकल एसेज्**, प्रेण्टिस हाल, इं., एन.जे., पृ. 7

3. हंस इगॉन हाल्यथुसेन, 'ब्रेष्ट्स ड्रामाटिक थियरी', देमेत्ज़ (सं.), पूर्वोक्त, पृ. 114

4. उपरोक्त, पृ. 112

5. 'थीसिस ऑन आर्गनाइजिंग दि वाचवर्ड ''फाइटिंग रियलिज़्म'' ', **क्लासिकल रीडिंग्स फ्राम जर्मन लिटरेचर,** पृ. 341

6. आई. फ्रादकिन, 'ऑन दि आर्टिस्टिक ओरिजिनैलिटी ऑफ बेर्टोल्ट ब्रेष्ट ड्रामा', देमेत्ज़ (सं.), पूर्वोक्त, पृ. 98 समाजवादी यथार्थवाद पर ब्रेष्ट के लेख 'समाजवादी यथार्थवाद और थिएटर' से उद्धरण आई. फ्रादकिन द्वारा उद्धृत, पृ. 97

7. गुंथर रोह्रमोज़र, 'ब्रेष्ट्स **गैलीलिया',** देमेत्ज़ (सं.), पूर्वोक्त, पृ. 119

8. 'इण्ट्रोडक्शन', देमेत्ज़ (सं.), पूर्वोक्त, पृ. 7

9. ब्रेष्ट, **ए शॉर्ट आर्गेनम फार दि थिएटर** (आगे **शार्ट आर्गेनम** के रूप में उल्लिखित), पैरा 23

10. सर्जी त्रेतियाकोव, 'बर्ट ब्रेष्ट', देमेत्ज़ (सं.), पूर्वोक्त, प. 24

11. 'फार्मल प्रॉब्लम्स एराइजिंग फ्राम दि थिएटर्स न्यू कंटेंट', **ब्रेष्ट ऑन थिएटर** (अनु. जॉन विलेट), लंदन, 1964, पृ. 227

12. **शार्ट आर्गेनम,** पैरा 4

13. उपरोक्त, पैरा 9

14. उपरोक्त, पैरा 33

15. रैल्फ मैनहीम और जॉन विलेट (अनु.), **बेर्टोल्ट ब्रेष्ट: संकलित नाटक,** खण्ड 9, 'कोरिएलेनस : टेक्स्ट्स बाइ ब्रेष्ट', पृ. 382-83

16. उपरोक्त, पृ. 374

17. अर्न्स्ट फिशर द्वारा उद्धृत, **दि नेसेसिटी ऑफ आर्ट,** पेंग्विन, 1970, पृ. 10

18. एरिक बेंटली का लेख, देमेत्ज़ (सं.) पूर्वोक्त, पृ. 55-56

19. वाल्टर एच. सोकेल, 'ब्रेष्ट्स स्प्लिट करेक्टर्स एंड हिज़ सेन्स ऑफ दि ट्रैजिक', देमेत्ज़ (सं.), पूर्वोक्त, पृ. 128, 134

20. उपरोक्त, पृ. 128-129

21. **शार्ट आर्गेनम**, पैरा 42

22. उपरोक्त, पैरा 67

23. निकोलाई लीज़ेरोव, 'दि स्कोप एंड लिमिट्स ऑफ रियलिज्म', **प्राब्लम्स ऑफ मार्डन एस्थेटिक्स** (ए कलेक्शन आफ आर्टिकल्स), प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, 1969, पृ. 314

24. **गुड वुमन** के सभी उद्धरण **पैराबल्स आफ थिएटर : टू प्लेज़ बाई ब्रेर्टोल्ट ब्रेष्ट** (अनु. एरिक बेंटली), पेंग्विन, 1975 से उद्धृत।

25. जे. एल. स्टायन, **दि डार्क कामेडी,** कैम्ब्रिज, 1968, पृ. 186-87

26. **शार्ट आर्गेनम**, पैरा 47

27. जान विलेट की परिभाषा

28. **शार्ट आर्गेनम**, पैरा 61

29. उपरोक्त, पैरा 63. 30. उपरोक्त, पैरा 64

31. उपरोक्त, पैरा 65. 32. उपरोक्त, पैरा 70

33. उपरोक्त, पैरा 71. 34. उपरोक्त, पैरा 74, 75, 77

('मार्क्सिस्ट मिससेलैनी' से साभार)

अनुवाद : **सत्यम वर्मा**

लोर्का की चार कविताएं

नये गीत

तीसरा पहर कहता है : मैं छाया के लिए प्यासा हूं
चांद कहता है : मुझे तारों की प्यास है ।
बिल्लौर की तरह साफ झरना होंठ मांगता है
और हवा चाहती है आहें ।

मैं प्यासा हूं खुशबू और हंसी का
मैं प्यासा हूं चन्द्रमाओं, कुमुदिनियों
और झुर्रीदार मुहब्बतों से मुक्त
गीतों का ।

कल का एक ऐसा गीत
जो भविष्य के शान्त जलों में हलचल मचा दे
और उसकी लहरों और कीचड़ को
आशा से भर दे।

एक दमकता, इस्पात-जैसा ढला गीत
विचार से समृद्ध
पछतावे और पीड़ा से अम्लान
उड़ान भरे सपनों से बेदाग़ ।
एक गीत जो चीजों की आत्मा तक
पहुंचता हो, हवाओं की आत्मा तक
एक गीत जो अन्त में अनन्त हृदय के
आनन्द में विश्राम करता हो ।

नारंगी के सूखे पेड़ का गीत

लकड़हारे,
मेरी छाया काट ।
मुझे खुद को फलहीन देखने की यन्त्रणा से
मुक्त कर ।

मैं दर्पणों से घिरा हुआ क्यों पैदा हुआ?
दिन मेरी परिक्रमा करता है,
और रात अपने हर सितारे में
मेरा अक्स फिर बनाती है ।

मैं खुद को देखे बगैर
जिन्दा रहना चाहता हूं
और मैं सपना देखूंगा कि
चींटियां और गिद्ध मेरी पत्तियां और चिड़िया हैं ।

लकड़हारे
मेरी छाया काट ।
मुझे खुद को फलहीन देखने की यन्त्रणा से
मुक्त कर ।

अलविदा

अगर मैं मरूं
तो छज्जा खुला छोड़ देना ।

बच्चा नारंगी खा रहा है
(छज्जे से मैं उसे देखता हूं)

किसान हंसिये से बाली काट रहा है
(छज्जे से मैं उसे सुन रहा हूं)

अगर मैं मरूं
तो छज्जा खुला छोड़ देना ।

अनुवाद : **विष्णु खरे**

घुड़सवार का गीत

काली चांदनी में राहज़न के
झनझना रहे हैं रकाब ।
काले घोड़े
कहां लिये जा रहे हो पीठ पर
मुर्दा असवार ?

राहजन बेजान
कड़े करख़्त रकाब
हाथ से जिसकी छूट चुकी हो लगाम
सर्द घोड़े
फूल गन्ध चाकू की, क्या खूब!

काली चांदनी में
बाजुओं से मोरिना पर्वतमाला के
होता है रक्तपात ।

काले घोड़े
कहां लिये जा रहे हो पीठ पर
मुर्दा असवार ?

सर्द घोड़े
फूल गन्ध चाकू की, क्या खूब!

काली चांदनी में
चीरती हुई चीख और अलाव की धार

काले घोड़े
कहां लिये जा रहे हो
अपना मुर्दा असवार?

अनुवाद : **शानी**

(कविताएं 'आलोचना' से साभार)

लोगों की ताकत लोर्का के शब्दों को जिन्दा रखेगी!

● **ओडिसिस इलाइटिस***

'' . . . हां, कविता कभी झूठ नहीं बोलती। उन आदमियों पर दया आती है जो लड़ाई के लिए खंदक खोदते हैं या रात के अंधेरों में खुशी की तलाश के लिए निकलते हैं। कौन-सा नष्ट होना ज्यादा खराब है —क्या आप जानते हैं, क्या आप कह सकते हैं? हमें प्राप्त होने वाले बहुमूल्य समय में धरती की गंध और भव्यता छुपी हुई है। आदमी की कहानी चलती ही जाती है पेड़ की छालों, मुस्कराते हुए बादलों, सघन होते लोहे और भयंकर ज्वालामुखियों के विस्फोटों के बीच, उन हजारों-हजार प्रतिरूपों के बीच जो प्रकृति हमें चौंकाने के लिए रचती है। तारों के पीछे छिपे अर्थ जानते ही एक स्त्री की छाती खुशी से धड़क उठती है।

जैसे ही वह अटपटा विचार एक वैज्ञानिक, संत या विद्रोही के दिमाग में घर करता है, दूर से दिखने वाला समुद्र चोटिल बैंगनी रंग अख़्तियार कर लेता है और किनारे तक आती-आती मछली पकड़ने वाली नौकाओं को आच्छादित कर देता है, और उसी समय प्रकृति और प्रेम के अंतर्सम्बन्ध अनन्त तक जाते नजर आते हैं। प्रेम—तुम नवयुवकों को मस्तूल से अलग करो, नाविकों के बन्द हुए कान खोलो क्योंकि दुनिया की सबसे विनम्र नन के ईश्वरीय काम से बेहतर होगा एक सायरन का बजना।

जीवन अपना ताज अलग तरह से पहने दिखाई देगा अगर हम महसूस कर सकें कि हत्या, धोखाधड़ी, झूठ और वो सब जिसे हम पाप कहते हैं, सिर्फ एक बहुत कड़वी, कड़वी पराजय से उपजते हैं। जबतक कि चेतना पदार्थ में वापस नहीं लौटती हमें दोहराते रहना होगा कि दुनिया में कोई छोटे और बड़े कवि नहीं—सिर्फ मनुष्य हैं, कुछ ऐसे मनुष्य जो कविताएं ऐसे लिखते हैं जैसे वो पैसा कमाते हैं या वेश्याओं के साथ सोते हैं और कुछ ऐसे मनुष्य हैं जो ऐसे लिखते हैं जैसे प्रेम के चाकू ने उनका दिल चीर दिया हो या वो विशाल हरे खेत में एक घोड़े पर सवारी करते जा रहे हों, आंखें बंद किये हुए, प्यासे.....

फेदरिको गार्सिया लोर्का, जिस गोली ने तुम्हें अपने गांव की पत्थर की दीवार के पास गिराया था, उसने कुछ हासिल नहीं किया। लोगों की ताकत, जिन्हें तुम प्रेम करते थे, तुम्हारे शब्दों को जिन्दा रखेगी। तुम अच्छी तरह जानते हो कि एक किसान की आंख से टपका आंसू बड़े से बड़े अकादमिक पुरस्कार से बड़ा होता है, कि कुहासों से भरी सुबह में उत्तरी दिशा की ओर चलने वाली हवा के साथ उड़ते हुए पत्ते संघर्षशील विद्रोहियों के लिए जीवन के ज्यादा मायने रखते हैं—सोने से भी ज्यादा।

(निबंध-संग्रह 'ओपन पेपर्स' में संकलित लेख 'फेदरिको गार्सिया लोर्का' का अंतिम अंश)

**** बीसवीं सदी के प्रमुख यूनानी कवि। '41 से '45 तक नात्सी आधिपत्य के खिलाफ यूनानी प्रतिरोध मोर्चे के नेता। 1940 से कुल 11 कविता-संग्रह और तीन निबंध-संग्रह प्रकाशित। '79 में साहित्य के लिए नोबल पुरस्कार।***

फेदेरिको गार्सिया लोर्का की शान में गीत

● **पाब्लो नेरूदा**

यदि मैं रो पाता भय से जकड़कर कैद-तनहाई की कोठरी में
यदि मैं निकाल पाता अपनी आंखें और उन्हें खा सकता
तो यह करता मैं काले कपड़ों से ढंकी तुम्हारी नारंगी आवाज़
के लिए,
और तुम्हारी कविता के लिए जो सामने आती है चीखती हुई।

इसलिए कि तुम्हारे लिए वे रंगते हैं अस्पतालों को चटख
नीला,
और पैदा हो जाते हैं स्कूल और जहाजियों की बस्तियां,
और घायल फरिश्तों को पंखों से ढंक दिया जाता है,
और विवाहोत्सव की मछलियों को शल्कों से ढंक दिया जाता है,
और साहियां उड़ती हुई आकाश में चली जाती है :
तुम्हारे लिए दरज़ीखाने अपनी काली चमड़ी सहित
चम्मचों और रक्त से भरे हुए,
और वे लाल रिबन निगल जाते हैं और मृत्यु तक एक-दूसरे को
चूमते चले जाते हैं,
और सफेद कपड़े पहन लेते हैं।

जब तुम उड़ते हो कपड़े पहने आड़ू के वृक्ष की तरह,
जब तुम हंसते हो तूफान में फूटते लावों सी हंसी,
जब गाना हो, तुम हिलाते हो धमनियों को, दांतों को,
गले और उंगलियों को,
यदि मैं मर सकता कि तुम कितने सुन्दर हो
यदि मैं मर सकता उन लाल झीलों के लिए
जहां तुम रहते हो शरद के दौरान
एक मृत जंगी घोड़े और एक रक्तरंजित ईश्वर के साथ,
यदि मर सकता मैं क़ब्रगाहों के लिए
जो गुजरते हैं पानी और मक़बरों वाली
भस्मवर्णी नदियों की तरह,
रात में, डूबी हुई घण्टियों के बीच :
नदियां उतनी ही सघन भरी हुई जैसे कि
बीमार सैनिकों के वार्ड, जो अचानक बढ़ते हैं
नदियों में मृत्यु की ओर,संगमरमरी संख्याओं
और जीर्ण-शीर्ण राजमुकुटों और अंत्येष्टि-क्रिया के तेलों के
साथ:
यदि मैं मर सकता तुम्हें रात में
डूबे हुए सलीबों के सामने से गुजरते हुए, देखते हुए उन्हें
और खड़े होते हुए और रोते हुए देखने के लिए
इसलिए कि मृत्यु की नदी के सामने तुम रोते हो
असहाय और घायल,
तुम रोते हो, रोते हुए तुम्हारी आंखें भरी होती हैं
आंसुओं से, आंसुओं से, आंसुओं से ।

यदि रात के समय, एकदम जंगली एकाकीपन में, मैं
इकट्ठा कर पाता विस्मृति और छाया और धुंआ
रेलमार्गों और जहाजों के ऊपर,
एक काली कुप्पी लिए हुए
राख को काटते हुए
तो मैं यह करता उस पेड़ के लिए जिसमें तुम पैदा हुए हो,
सुनहरी झीलों के उन घोंसलों के लिए, जो तुमने इकट्ठा
किये हैं,
और अंगूर की उन लताओं के लिए, जिन्होंने तुम्हारी हड्डियों
को ढंक रखा है
रात का भेद तुम्हारे सामने खोलते हुए ।

गीले प्याज की गंध वाले शहर
इंतज़ार करते हैं कि तुम गुजरो गाते हुए फटी आवाज में,
और चुपचाप शुक्राणु-नौकाएं तुम्हारा पीछा करती हैं,
और हरी अबाबीलें तुम्हारे बालों में घोंसला बनाती हैं,
और घोंघे और हफ्ते भी,
लिपटे मस्तूल और चेरी के पेड़
जरूर ही चल पड़ते हैं जैसे ही उन्हें झलक मिलती है
पन्द्रह आंखों वाले तुम्हारे पीले सिर की
रक्तप्लावित तुम्हारे मुंह की ।

यदि मैं भर पाता नगर के सभागारों को कालिख से ,
और सिसकियों से, और यदि मैं गिरा पाता घड़ियों को,
तो ऐसा करता मैं यह देखने के लिए जब तुम्हारे घर

आती हैं गर्मियां अपने फटे हुए होठों के साथ,
जब आते हैं बहुतेरे लोग अपने मरणासन्न वस्त्रों के साथ,
जब आते हैं उदास वैभव के इलाके,
जब आते हैं मृत हल और पोस्ते ,
जब आते हैं कब्र खोदने वाले और घुड़सवार
जब आते हैं ग्रह और रक्त से बने मानचित्र,
जब आते हैं राख से ढंके बाज,
जब आते हैं नकाबपोश लोग घसीटते हुए युवतियों को,
जिन्हे बड़े चाकुओं से गोद दिया गया रहता है,
जब आती हैं जड़ें, शिराएं, अस्पताल,
बसन्त, चींटियां ,
जब आती है रात उस बिस्तर के साथ
जिसपर अकेला मर रहा होता है एक हुस्सार, मकड़ों के बीच,
जब आता है नफरत का एक गुलाब और आलपिनें,
जब आता है एक पीताभ जलपोत,
जब आता है एक तूफानी दिन एक बच्चे के साथ,
जब मैं आता हूं ओलिवेरियो, नोरा,
विसेन्ते अलिक्सान्द्रे, देलिया,
मारुसा, मालवा मरीना, मारिया लुइजा, और लार्को
सफेद बालों वाले रफाएल उगार्ते,
कोतापोस, रफाएल अलबर्ती,
कार्लोस, बेबे, मनोलो अल्तोलागुइर्रे,
मोलिनारी,
रोजालिस, कोंचा मेंदेज़,
और उन तमाम दूसरे लोगों के साथ जिनके नाम मुझे याद नहीं
आ रहे हैं।

आओ, मैं तुम्हारा अभिषेक करूं, आरोग्य और
तितलियों की तरुणाई, तरुणाई उतनी ही शुद्ध
जैसे अनवरत मुक्त होती काली बिजली की कौंध,
और ठीक तुम्हारे और मेरे दरम्यान,
अब, जब और कोई नहीं बचा है चट्टानों के बीच
और सीधे-सादे ढंग से बात करें, जैसे कि एक आदमी दूसरे से
करता है :
कविताएं क्या हैं यदि ये ओस के लिए नहीं हैं?
क्या हैं कविताएं यदि ये उस रात के लिए नहीं हैं
जिसमें एक तीखा खंजर हमें ढूंढ़ निकालता है,
और यदि उस दिन के लिए नहीं है
उस झुटपुटे अंधेरे के लिए नहीं है और उस टूटे कोने के लिए
नहीं हैं
जहां इंसान का पराजित हृदय मृत्यु के लिए तैयार होता है ।

सबसे ऊपर यह कि रात में ,
रात में बहुतेरे सितारे हैं,
सभी एक नदी के भीतर
जैसे कि एक रिबन गरीब लोगों से भरे हुए घरों की
खिड़कियों के पास ।

उनका कोई मर गया है, शायद
दफ्तरों में ,
अस्पतालों में, लिफ्टों में, खदानों में,
उनकी नौकरियां छूट गई हैं,
आदमी तकलीफ उठा रहा है, कठिन ढंग से जख्मी
और हर जगह विरोध है और रुदन है :
जब तारे तैरते हैं एक अन्तहीन नदी के भीतर
और अधिक रुदन होता है खिड़कियों पर,
रुदन से सड़-गल गई हैं दहलीजें,
शयन-कक्ष भीग गये हैं रुदन से
जो लहरों की तरह आ रहा है कालीनों को काटने के लिए।

फेदेरिको,
तुम देखते हो दुनिया को, सड़कों को,
सिरके को,
स्टेशनों पर विदाइयों को
जब धुंआ अपने फैसलाकुन पहियों को उठाता है
उस ओर जहां और कुछ भी नहीं है सिवाय कुछ
जुदाइयों, पत्थरों और रेल की पटरियों के ।

इतने सारे लोग हैं सवाल पूछते हुए
चारो ओर ।
वह कमबख्त अंधा, और वह क्रुद्ध व्यक्ति और
वह हताश आदमी,
और वह अभागा कंटीला पेड़,
वह डाकू अपनी पीठ पर लादे हुए ईर्ष्या ।
तो यह है ज़िन्दगी का ढंग-ढर्रा, फेदेरिको, यहां तुम्हारे पास
वे चीजें हैं जो मेरी दोस्ती तुम्हें दे सकती है,
एक उदास, मनुष्योचित मनुष्य की दोस्ती,
तुम स्वयं पहले से ही जानते हो बहुतेरी चीज़ें
और दूसरी तमाम भी जान जाओगे धीरे-धीरे ।

●

पीकस्किल में पॉल रॉबसन

• चार्ल्स एच. राइट

1949 के पहले कुछ थोड़े से लोगों ने ही **न्यूयार्क** के **पीकस्किल** नामक जगह का नाम सुना होगा। उस वर्ष 27 अगस्त और 4 सितम्बर को घटी दो नाटकीय घटनाओं ने हडसन घाटी की इस बस्ती की ओर पूरी दुनिया का ध्यान आकर्षित कर दिया और उसके बाद से, इसका नाम भीड़ द्वारा हिंसा का समानार्थी-सा हो गया।

पीकस्किल के आयोजन के नायक **पॉल रॉबसन** थे। वे उस जगह पहले भी जा चुके थे और वहां के परिदृश्य से भलीभांति परिचित थे। अब, लेकिन, समय और परिस्थितियां एक-दूसरे से मिलकर एक ऐसा मिश्रण तैयार कर चुकी थीं, जिनके चलते 1949 की उनकी प्रस्तुतियां स्मरणीय बन गईं। उत्तरवर्ती घटनाओं से यह बात साफ हो गई कि नागरिक अधिकार आंदोलन से पीकस्किल का कुछ वैसा ही रिश्ता बन चुका है जैसा कि गृहयुद्ध से **फोर्ट सुम्टर** का था।

पीछे मुड़कर देखें, तो कहा जा सकता है कि अमेरिकी व्यवस्था से रॉबसन का टकराव, काफी पहले, 1934 में ही शुरू हो चुका था। 1934 के दिसंबर महीने में पहली बार **सोवियत संघ** जाते समय **बर्लिन** रेलवे स्टेशन के बाहर नात्सी स्टॉर्मट्रुपर्स ने उन्हें नस्लवादी गालियां और धमकियां दीं। यहीं से फासीवाद के विरुद्ध रॉबसन के शाश्वत युद्ध की शुरुआत हुई। कुछ ही घण्टों बाद उन्होंने रूसी सीमा पार की और बर्लिन के अनुभव के ठीक विपरीत रूसी लोगों ने बांहें फैलाकर उनका स्वागत किया । इन दो घटनाओं ने रॉबसन की जिन्दगी के ढर्रे को बदल दिया। और उन्होंने इसकी मंहगी कीमत चुकाई।

इस बारे में लोगों के मत अलग-अलग हैं कि कब से ऐसा हुआ कि पीकस्किल-टकराव अपरिहार्य-सा हो गया। *'पाल रॉबसन'* (ड्रॉबसन प्रेस लि.) की लेखिका **मैरी सेटन** के मुताबिक भावी टकराव का सांचा 1947 में ही ढाला जा चुका था जब रॉबसन ने **उटा विश्वविद्यालय के अपने कंसर्ट (संगीत-समारोह) में *''जोए हिल''* गीत को शामिल किया। इसके पहले किसी ने भी उस इलाके में उस भाग्यहीन मजदूर संगठनकर्त्ता जोसेफ हिलस्ट्राम** को समर्पित यह शोकगीत गाने की जुर्रत नहीं थी, उटा के एक फायरिंग स्क्वाड के द्वारा जिसकी मौत ने इस शताब्दी के शुरू में एक अंतरराष्ट्रीय संकट की स्थिति पैदा कर दी थी। रॉबसन को जरूर ही यह बात पता रही होगी कि श्रोताओं में *''कॉपर बॉस''* लोग (तांबा उद्योग के पूंजीपति) भी बैठे हैं। इस गीत की रॉबसन द्वारा शोकपूर्ण प्रस्तुति ने बहुतेरे श्रोताओं की अशान्त अंतरात्माओं को झकझोर कर रख दिया। स्तंभित कर देने वाले सन्नाटे के कुछ अंतराल के बाद, कुछ दर्शकों ने जोर से तालियां बजाईं। दूसरों ने अपनी मुट्ठियां भींच ली। इसके बाद रॉबसन के लिए कुछ भी ठीक-ठाक नहीं रहा।

इसके ठीक बाद उनके संगीत-समारोहों की श्रृंखला टूटने लगी। **प्योरिआ** (इलियनॉय) और **अल्बैनी** (न्यूयार्क) से इसकी शुरुआत हुई। सारी तैयारियां हो चुकने और सभी टिकट बिक चुकने के बाद, उनके अस्सी से भी अधिक कंसर्ट रद्द कर दिये गये। हालांकि जनता के दबाव ने अल्बैनी के अधिकारियों को झुकने के लिए मजबूर कर दिया, लेकिन उस समय तक न्यूयार्क सिटी के कैथोलिक छात्रों के बीच और पीकस्किल के सेवानिवृत्त सैनिकों के संगठनों में रॉबसन-विरोधी ताकतें उभरकर सामने आ चुकी थीं।

1947 के पहले, रॉबसन मजदूरों के अधिकारों के एक हिमायती के रूप में राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित हो चुके थे। लगभग एक दर्जन यूनियनों ने आजीवन सदस्यता देकर उन्हें सम्मानित किया था। वे नियमित रूप से उनके राष्ट्रीय सम्मेलनों में अतिथि कलाकार के रूप में भाग लेते थे, उनके धरना-प्रदर्शनों में शामिल होते थे और उनके उद्देश्य के समर्थन में 'बेनिफिट कंसर्ट्स' भी देते थे। शीतयुद्ध की राजनीति ने, जो चालीस के दशक के अंतिम वर्षों की तौरे-जिन्दगी थी, और उसकी वफादार न्यायपालिका ने संगठित मजदूरों के अधिकांश हिस्से के साथ रॉबसन के रिश्तों में अहम बदलाव ला दिया। राष्ट्रपति **हैरी ट्रूमन** की कम्युनिस्ट-विरोधी विदेश-नीति के अमल और *टाफ्ट-हार्टले कानून* जैसे श्रम- कानूनों ने मजदूर संगठनों को 1947 में कठिन फैसले लेने के लिए विवश कर दिया। उन्हें या तो ''कम्युनिस्ट-निरोध'' की विदेश-नीति का समर्थन करना था और उन रैडिकल तत्वों को अपने भीतर से निष्कासित कर देना था जो उनके अबतक के सांगठनिक अभियानों में अहम भूमिका निभाते आये थे, या फिर उन्हें दमन, निलम्बन या सम्भवित तोड़-फोड़ का सामना करना था। मजदूर-आंदोलन के भीतर इस नये नजरिये ने रॉबसन-मार्का रैडिकल यूनियनवाद को चलन से बाहर कर दिया। सरकारी नीतियों के प्रति तालमेलवादी यूनियनों के सभागारों में अब रॉबसन का स्वागत नहीं होता था। कुछ ग्रुपों ने यह भी कोशिश की कि उनकी आजीवन सदस्यता रद्द कर दी जाये। चालीस के दशक के अंत और पचास के दशक की शुरुआत में केवल ''गद्दार'' यूनियनें ही अपनी सभाओं में रॉबसन को आमंत्रित करने का साहस करती थीं।

1948 में रॉबसन द्वारा *प्रोग्रेसिव पार्टी* को समर्थन दिये जाने से *डेमोक्रेटिक पार्टी* के भीतर के सत्ता के दलालों से, उनकी दुश्मनी पैदा हो गई। *ट्रांसपोर्ट वर्कर्स एसोसिएशन* के अध्यक्ष **माइकेल क्विल** ने उस दौरान इस जमात में पैदा हुई रॉबसन-विरोधी भावनाओं को एक हद तक प्रकट किया। 1948 में न्यूयार्क राज्य में *रिपब्लिकन पार्टी* के हाथों डेमोक्रेटिक पार्टी की हार के लिए उसने रॉबसन और प्रोग्रेसिव पार्टी वालों पर आरोप मढ़ा। 1949 में *नेशनल मैरिटाइम यूनियन* के राष्ट्रीय सम्मेलन में बोलते हुए क्विल ने यह भविष्यवाणी की कि रॉबसन न्यूयार्क से सीनेट का चुनाव लड़ सकता है। इन ''अलोकप्रिय'' गतिविधियों के अतिरिक्त *एण्टी-पोल टैक्स* और *एण्टी-लिंच लेजिस्लेशन* को समर्थन देते हुए राष्ट्रपति ट्रूमन को खुलेआम चुनौती देकर रॉबसन ने स्वयं को डेमोक्रेटिक पार्टी का कोपभाजन बना लिया।

अपनी इन ''अलोकप्रिय'' राजनीतिक अवस्थितियों के अतिरिक्त कतिपय अन्य गतिविधियों में रॉबसन की संलिप्तता ने उसके दुश्मनों की संख्या कई गुनी अधिक कर दी। **विंस्टर-सलेम, एन.सी.** के जो अश्वेत मजदूर उन्हीं दिनों *आर. जे. रेनाल्ड्स टोबैको कं.* के खिलाफ हड़ताल कर रहे थे, उनकी अपील पर रॉबसन ने अनुकूल प्रतिक्रिया दी और उनका उत्साहवर्धन किया तथा उनके समर्थन में आर्थिक सहयोग भी जुटाया। इसके कुछ ही समय बाद एक रूसी रेडियो-प्रसारण ने रॉबसन से लिया गया एक साक्षात्कार प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने तम्बाकू उद्योग में काम करने वाले अश्वेत मजदूरों के काम करने की नारकीय परिस्थितियों की आलोचना की थी। स्थनीय अधिकारी अपने ''अन्दरूनी मामलों'' में रॉबसन के हस्तक्षेप से पहले से ही नाखुश थे। उन्होंने रॉबसन के उपरोक्त साक्षात्कार का पूरा फायदा उठाकर उन्हें बदनाम किया और हड़ताल की कोशिशों को भी कमजोर करने का काम किया। नतीजतन, सिर्फ यही नहीं हुआ कि यूनियन की कोशिशें नाकाम हुईं, बल्कि आर.जे. रेनाल्ड्स

टोबैको कं. के मजदूर आज तक असंगठित हैं।

साथ ही, 1948 में रॉबसन ने *लांगशोरमेन्स' एण्ड वेअरहाउसमेन्स' यूनियन* के समर्थन में **हवाई द्वीप** की यात्रा की, जो गन्ना मजदूरों और अनन्नास मजदूरों की पितृ-यूनियन थी। *''पांच बड़ों''* ने रॉबसन की उपस्थिति की कोई ज्यादा परवाह नहीं की। रॉबसन पर कम्युनिस्टों की मदद करने का आरोप लगाया गया और तमाम हलकों से उन्हें धमकियां भी दी गईं।

युनाइटेड पब्लिक वर्कर्स (यू.पी. डब्ल्यू.) और उसके मातृ-संगठन *कांग्रेस ऑफ इण्डस्ट्रियल ऑर्गनाइजेशंस (सी.आई.ओ.)* के बीच की दरार उस समय बढ़ गयी जब *यू.पी. डब्ल्यू.* ने रॉबसन को 1947 में 'सिल्वर-रोल वर्कर्स' के समर्थन में पनामा नहर क्षेत्र में भेजा। सरकारी अधिकारी पहले से ही इस यात्रा से नाराज थे और रॉबसन ने जब पनामा नहर क्षेत्र के अश्वेत कर्मचारियों के प्रति किये जाने वाले दुष्टतापूर्ण नस्लवादी व्यवहार की खुली आलोचना की तो उन्हें काफी शर्मिन्दगी और उलझन का सामना करना पड़ा।

....और दबाव बढ़ता गया

1949 का वर्ष अनिष्टकारी भविष्य की सूचना लेकर आया। रॉबसन को पूंजीपतियों की जमात और सरकार के अलावा मजदूरों के भी कुछ हिस्सों के भारी दबाव का सामना करना पड़ा। उनके रिकार्डिंग के अनुबंध रद्द होने लगे, उनपर लगातार सरकारी निगरानी रखी जाने लगी और उनके सभी रेडियो प्रसारणों तथा अन्य सार्वजनिक प्रस्तुतियों पर रोक लगा दी गई। उनकी आमदनी पहले के मुकाबले बहुत कम हो गई। फरवरी 1949 में रॉबसन देश से बाहर गये। इंगलैण्ड में और यूरोप के अन्य देशों में उन्होंने भारी श्रोता-समुदाय के बीच गायन के कार्यक्रम प्रस्तुत किये। हालांकि आर्थिक दृष्टि से उनका यह दौरा सफल था, और इसने उनके आत्मगौरव को बढ़ाने का काम किया लेकिन अमेरिका में उनकी सार्वजनिक छवि को इससे काफी नुकसान पहुंचा और यहां तक कि एक अमेरिकी नागरिक के रूप में उनके भविष्य पर भी प्रश्नचिह्न उठ खड़ा हुआ।

रॉबसन ने इंगलैण्ड में यह बयान देकर अपनी समस्या खुद ही और अधिक बढ़ा ली कि अमेरिका लौटने के बाद वे उन कम्युनिस्ट नेताओं के पक्ष में गवाही देंगे जिनपर न्यूयार्क सिटी के फॉली स्क्वायर कोर्ट हाउस में मुकदमा चलाया जा रहा है। जैसे कि इतना ही कम नहीं था, वे पेरिस में शान्ति के पक्षधर लोगों द्वारा आयोजित *वर्ल्ड पीस कांग्रेस* में भी शामिल हुए।

रॉबसन ने अमेरिकी सरकार की नस्लवादी कार्रवाइयों की आलोचना की और दो टूक शब्दों में यहां तक कहा कि उसके और नात्सी जर्मनी की फासीवादी सरकार के बीच बहुत कम अन्तर है। उन्होंने राष्ट्रपति ट्रूमन के औपनिवेशिक विकास के *प्वाइण्ट फोर प्रोग्राम* को, खास तौर पर अफ्रीकियों के लिए **''नये किस्म की दासता''** की संज्ञा दी। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर विवादास्पद हो जाने वाला उनका एक बयान यह था :

''यह सोचा भी नहीं जा सकता कि जिस सोवियत संघ ने महज एक पीढ़ी के दौरान ही हमारे लोगों को सम्पूर्ण मानवीय गरिमा प्रदान की है, उसके खिलाफ युद्ध में अमेरिकी अश्वेत उन लोगों की तरफ से शामिल होंगे जिन्होंने पीढ़ियों से हमारा उत्पीड़न किया है।'' (द न्यूयार्क टाइम्स, 21अप्रैल, 1949)

हालांकि *न्यूयार्क टाइम्स* ने रॉबसन को सही-सही और पूरा-पूरा उद्धृत किया था, लेकिन सम्पादकीय टिप्पणियों की बाद में जो लहर सी आई, उसमें रॉबसन के बयान को यह शक्ल दे दी गई थी : **''अमेरिकी अश्वेत, रूस के विरुद्ध कत्तई नहीं लड़ेंगे।''**

अमेरिका में रॉबसन के विरुद्ध घोर घृणा की लहर नई ऊंचाइयों तक जा पहुंची। अमेरिकी विदेश नीति के सूत्रधार लोग कोरियाई युद्ध से महज एक वर्ष दूर थे। उन्होंने यह तय किया कि अब रॉबसन के मामले से निपट ही लिया जाना चाहिए। परेशान संघीय अधिकारियों ने अश्वेत नेताओं की एक लम्बी-चौड़ी सूची तैयार करके उन्हें वाशिंगटन बुलाया तथा उनपर यह दबाव डाला कि वे रॉबसन पर कीचड़ उछालें और यह आश्वासन दें कि अश्वेत आबादी व्यवस्था की हिफाजत के लिए संघर्ष करेगी। अधिकांश नेताओं ने वही कहा, जो व्यग्र राजनीतिज्ञ सुनना पसन्द करते।

यूरोप के दौरे से रॉबसन 16 जून, 1949 को स्वदेश लौटे। उनकी अगवानी करने वाले दल में 20 वर्दीधारी पुलिस के सिपाही भी शामिल थे। यह आने वाले दिनों का एक संकेत था। कुछ ही दिनों बाद रॉबसन ने **रॉकलैण्ड पैलेस,** न्यूयार्क सिटी में तनावग्रस्त लोगों की एक भारी भीड़ को सम्बोधित किया। पूरे हार्लेम में यह बात फैल गई थी कि ''बिग'' पॉल पगला गया है। ऊंचे स्तर पर चल रही राजनीति और कुत्सा- प्रचार से अप्रभावित आम अश्वेत मजदूरों की भारी भीड़ घरलौटे अपने नायक का स्वागत करने और उसे दुश्मनों को फटकारते-धज्जियां उड़ाते सुनने के लिए उमड़ पड़ी। और उन्हें निराश नहीं होना पड़ा। हवा में चेतावनी उछालते हुए, रॉबसन के हमलों के आवेश ने किसी को नहीं बख्शा। लेकिन उसके सबसे तीखे हमले उन अश्वेतों के खिलाफ केन्द्रित थे जिन्होंने उन्हें बदनाम करने की कोशिश की थी। तूफान जब शान्त हुआ, तो ऊंचे ओहदे वालों के बीच अब रॉबसन के दोस्त बहुत कम रह गये थे। अब उनका समर्थन सिर्फ वामपंथी राजनीतिक धारा के लोग और वह गैरराजनीतिक अश्वेत जनसमुदाय कर रहे थे जिन्होंने तमाम बदगोइयों और डराने-धमकाने की कोशिशों के बावजूद रॉबसन का साथ नहीं छोड़ा।

अब संघीय सरकार ने, रॉबसन पर और उन वामपंथी संगठनों पर, जिनसे उन्हें जोड़कर देखा जाता था, अभूतपूर्व रूप से घेरा कसना शुरू किया। सरकार की कार्यपालिका के शासकीय विभागों, विधायिका के दोनों सदनों और सहयोगी न्यायपालिका को गोलबन्द किया गया कि वे कम्युनिस्ट-विरोधी विदेशनीति के साथ राष्ट्रीय स्तर पर अनुरूपता-अनुकूलता कायम करने के लिए काम करें। **'हाउस अन-अमेरिकन ऐक्टिविटीज कमेटी'** के सामने रॉबसन को दो सौ से भी अधिक बार तलब किया गया। कमेटी के सामने पेशियों के दौरान जब उनसे यह पूछा गया कि क्या वह एक कम्युनिस्ट हैं तो उन्होंने पहली बार तो इन्कार किया, लेकिन इसके बाद उन्होंने आगे कभी भी इस सवाल का जवाब न देने की कसम खा ली क्योंकि उनका मानना था कि किसी आदमी के राजनीतिक विश्वास के बारे में ऐसे प्रश्न असंवैधानिक हैं।

पीकस्किल में हिंसा

इस तरह तूफान के बादल नीचे आते चले गये और वे उस समय पूरे कोप के साथ टूट पड़े जब *'सिविल राइट्स कांग्रेस'* के हार्लेम चैप्टर ने जुलाई के अंत में यह घोषणा की कि आगामी 27 अगस्त 1949 को रॉबसन उसके लाभार्थ एक कंसर्ट करेंगे। *जन कलाकार संघ* के प्रतिनिधियों ने इस आयोजन के लिए लेकलैण्ड्स एकड़ सार्वजनिक मैदान को किराये पर ले लिया। पीकस्किल जूनियर चैम्बर ऑफ कॉमर्स के सदस्यों ने तत्काल इस कंसर्ट की भर्त्सना करते हुए बयान जारी किया और इसे रोकने के लिए सामूहिक कार्रवाई का आह्वान किया। लेकिन आयोजकों ने इसकी कोई परवाह नहीं की। जाहिरा तौर पर,वे इस बात को भूल रहे थे कि यह अमेरिकी सैनिकों का वही पीकस्किल पोस्ट है, जिसने दो साल पहले अल्बैनी में रॉबसन पर हमला किया था। 1948 में भी उन्होंने रॉबसन के पीकस्किल कंसर्ट का विरोध करते हुए बयान जारी किया था। उस समय भी स्थनीय अखबारों ने भविष्य में कोई और ऐसा कंसर्ट आयोजित करने के खतरों से आगाह किया था।

कंसर्ट की तारीख जैसे-जैसे नजदीक आती जा रही थी, रॉबसन विरोधी भावनाओं के सुलगते कोयलों से, पीकस्किल स्थित विदेशी युद्धों के सेवानिवृत्त फौजियों, यहूदी सेवानिवृत्त फौजियों

और कैथोलिक सेवानिवृत्त फौजियों के संगठनों और जूनियर चैम्बर ऑफ कामर्स की कोशिशों द्वारा लगातार हवा देने के चलते, लपटें उठने लगी थीं। मुद्दे को लगातार जिन्दा बनाये रखने के लिए स्थनीय प्रेस और रेडियो का भी इस्तेमाल किया गया। पीकस्किल और न्यूयार्क सिटी के कई ग्रुपों ने स्थानीय और ऊपर के अधिकारियों को हिंसा के खतरे के प्रति आगाह किया। रॉबसन-विरोधी शक्तियों ने कंसर्ट के विरुद्ध निषेधाज्ञा जारी करवाने की भी कोशिश की, पर वे असफल रहे। स्थानीय ग्रुपों ने सेवानिवृत्त फौजियों के ग्रुपों को समझाने की कोशिश की कि वे टकराव के कोशिशों से बाज आयें। पर उन्हें भी कोई सफलता नहीं मिली। *गवर्नर डेवी* अन्य ''अधिक अहम'' मसलों से निपटने में मशगूल थे और उन्होंने इस समस्या को हल करने का जिम्मा अपने मातहतों पर डाल दिया। किसी मजबूत, सार्थक, निरोधात्मक कार्रवाई के अभाव में हिंसा वस्तुतः निश्चितप्राय हो गई।

इसी बीच अमेरिकी महाधिवक्ता ने 'सिविल राइट्स कांग्रेस' को एक कम्युनिस्ट मोर्चा संगठन और रॉबसन को उसका मुख्य समर्थक बताकर राजनीतिक ध्रुवीकरण की ख़तरनाक रफ्तार को और अधिक तेज कर दिया। पीकस्किल में सार्वजनिक रूप से प्रचारित होने वाली बातों में से एक यह भी थी कि कैलिफोर्निया के एक ''वफादार'' ग्रुप ने जन कलाकार संघ पर एक ''लाल मोर्चा'' संगठन होने का लेबल चस्पां कर दिया है। इन दो रिपोर्टों के सामने आने का समय रॉबसनपंथी-विरोधियों के लिए सर्वथा अनुकूल था। इनके चलते उनके उद्देश्यों का महिमा-मण्डन हुआ और उनकी कोशिशों पर खोखली देशभक्ति का मुलम्मा चढ़ गया।

सेवानिवृत्त फौजियों और उनके सहयोगियों ने कंसर्ट के लिए निर्धारित जगह के आसपास के रास्तों पर ठीक कंसर्ट के समय ही एक परेड निकाली। उसमें शामिल अधिकांश लोग फौजी वर्दी में थे और उनके हाथों में अलग-अलग साइज के डण्डे और पत्थर थे। ऐसा साफ लग रहा था कि कानून व्यवस्था संभालने वाले स्थानीय अधिकारियों से उनके ताल्लुकात काफी अच्छे थे। कंसर्ट सुनने वाले जब वहां पहुंचे तो पाया कि पिकनिक ग्राउण्ड्स की ओर जाने वाली सभी सड़कों को रिटायर्ड फौजी जाम किये हुए थे। बहुसंख्यक श्रोताओं को न सिर्फ लौट जाने के लिए मजबूर होना पड़ा बल्कि भागते हुए लोगों पर पत्थरों और यहूदी-विरोधी, कम्युनिस्ट विरोधी, अश्वेत-विरोधी गालियों की बौछार-सी कर दी गई। कुछ ऐसे कम सौभाग्यशाली लोग भी थे जो किसी तरह कंसर्ट-एरिया तक पहुंच गये। उनपर फौजियों ने जब चौतरफा हमला बोल दिया तो अपनी स्त्रियों-बच्चों को बीच में करके सभी पुरुष हाथ मिलाकर सुरक्षात्मक घेरा बनाकर खड़े हो गये। इस सुरक्षात्मक घेरेबन्दी से असफल हमलावरों ने मंच को टूटी लकड़ियों के ढेर में बदल दिया, संगीत के सरंजाम को तहस-नहस कर दिया और इन सबमें आग लगा दी। इत्तफाक से, घिरे हुए लोग हमलावरों से बचकर तितर-बितर होकर वहां से भाग निकले।

यह अच्छा ही हुआ कि रॉबसन उस दिन पिकनिक ग्राउण्ड्स पहुंचे ही नहीं। कंसर्ट क्षेत्र में नफरत का जो सैलाब उमड़ रहा था, उससे एकदम अनजान, अकेले ही वे उसदिन पीकस्किल रेलवे स्टेशन पहुंचे। वहां उन्हें एक औरत तथा दस और बारह साल के दो बच्चे मिले। इसके पहले कि रॉबसन को कोई पहचान पाता, औरत ने तुरत उन्हें अपनी कार में धकेला और वहां से हटा ले गई।

रॉबसन का बेटा पॉल जूनियर भी वहां नहीं पहुंच सका, क्योंकि रवाना होने से ऐन पहले उसकी पत्नी की तबीयत खराब हो गई और उसे रुक जाना पड़ा। अभी ढाई महीने पहले ही उसकी शादी हुई थी। यह भी अच्छा ही हुआ। जिस कार में उसे जाना था उसे पत्थर फेंक-फेंककर उस दिन तोड़ दिया गया था।

पीकस्किल के रॉबसन-विरोधी अपने इस सैनिक अभियान की सफलता पर खुशी से फूले नहीं समाये। उन्होंने एक-दूसरे को इसके लिए बधाइयां दी कि पूरे देश के सामने वे एक बेहतरी का मिसाल पेश करने में सफल रहे कि ''घरेलू कम्युनिस्टों'' से कैसे निपटा जाये।

इस घटना से आतंकित होने के बजाय, कुछ ही दिनों बाद हार्लेम में एक जनसभा का आयोजन हुआ। रॉबसन ने यह शपथ ली कि वे जल्दी से जल्दी पीकस्किल वापस लौटेंगे। भीड़ ने सम्मान में खड़े होकर तालियां बजाकर रॉबसन के इस फैसले का समर्थन और स्वागत किया। पीकस्किल के प्रतिक्रियावादियों ने हार्लेम के इस निर्णय को मानो अपने इलाके पर एक और आक्रमण के रूप में लिया और क्रोधोन्मत्त होकर इसके प्रतिरोध के मंसूबे बांधने लगे। उनकी पहली कोशिश यह थी कि कंसर्ट के लिए दुबारा पिकनिक ग्राउण्ड्स उपलब्ध न हो सके और वे इसमें सफल रहे। तब जन कलाकार संघ ने 4 सितम्बर 1949 के लिए एक मैदान की बुकिंग उसके मालिक **स्टीफन स्जेगो** से कर ली। यह मैदान पहले *हॉलो ब्रुक कण्ट्री क्लब* था। यह मैदान पीकस्किल के ठीक बाहर **कार्टलैण्ड** में स्थित था। जाहिर है, स्जेगो की इस कार्रवाई से पीकस्किल के कुछ नागरिक नाराज थे। जन कलाकार संघ के साथ करारनामे पर दस्तखत के कुछ ही समय बाद उसके घर पर कुछ गोलियां दागी गईं। बाद में, उसके घर में आग लगा देने की कुछ और कोशिशें भी हुईं। जब उसने आग से हुए नुकसान का हरजाना लेने की कोशिश की तो उसके बीमा-अनुबंध को ही रद्द कर दिया गया।

पीकस्किल और आसपास के शान्तिप्रेमी नागरिक इस बात को लेकर एक बार फिर गवर्नर डेवी से मिले कि उनके इलाके में आने वाले लोगों की सुरक्षा सुनिश्चित की जाये। प्रतिनिधि **वीटो मर्सेण्टोनियो** और पॉल रॉबसन ने गवर्नर से मुलाकात करके उन सभी अधिकारियों को बर्खास्त करने की मांग की जो एक सप्ताह पहले हुई हिंसा के लिए जिम्मेदार थे। डेवी ने कानून व्यवस्था लागू करने वाले अपने अधिकारियों के साथ आपात-बैठकें कीं और कंसर्ट की जगह और आसपास के इलाके की सुरक्षा के लिए 904 आदमी तैनात कर दिये गये। डेवी ने जनता को आश्वस्त किया कि स्थिति उसके लोगों के नियंत्रण में है।

चार सितम्बर बेहतर मौसम के नाते न्यूयार्क सिटी से पीस्किल की 50 मील की दूरी मोटर से तय करने के लिए एक आदर्श दिन था। हजारों लोगों ने इस अवसर का लाभ उठाया। रॉबसन-विरोधी शक्तियां भी इस बार पहले की अपेक्षा अधिक संख्या में थीं, अधिक तैयार थीं और अधिक बड़े पैमाने पर हथियारबंद थीं। अपने सैनिक अनुभवों का फायदा उठाते हुए सेवानिवृत्त फौजियों ने बिना ज्यादा नुकसान पहुंचाये, आगंतुकों को मैदान तक पहुंचने दिया। उनपर सिर्फ कुछ टूटे शीशे फेंके गये और कुछ नस्लवादी गालियां दी गईं। एक बार जब भीड़ कंसर्ट-स्थल पर इकट्ठी हो गई, तब बाहर निकलने के कुछ रास्तों को बंद कर दिया गया और ऐसी स्थिति पैदा की गई कि वापस लौटते लोग कुछ तयशुदा संकरी गलियों से होकर ही गुजरें। इस बाहरी ताकत के विरुद्ध ढाई हजार प्रतिबद्ध रॉबसन समर्थक थे जिन्होंने रॉबसन की हिफाजत के लिए एक दीवार बना ली थी और 25,000 श्रोता थे। इनमें से अधिकांश, ट्रेडयूनियनों के— खासकर *फूरियर्स, युनाइटेड इलेक्ट्रिकल्स, कपड़ा उद्योग* और *न्यूजपेपर गिल्ड* की यूनियनों के लोग थे।

कंसर्ट की शुरुआत होते ही रॉबसन ने चौकन्ने और तने हुए चेहरों वाले मजदूरों से घिरे हुए आयोजन-स्थल पर प्रवेश किया। उन्होंने एक पेड़ के सामने खड़े होकर गाना शुरू किया। उनके आजू-बाजू बलिष्ठ मांसपेशियों और कठोर दृढ़निश्चयता का एक दुर्जेय घेरा था। शुरुआत उन्होंने अपने प्रसिद्ध गीत *''गो डाउन मोजेज''* से किया और सबसे अंत में *''ओल मैन रिवर''* गीत प्रस्तुत किया। जैसे ही वे आयोजन-स्थल से रवाना हुए, उनके सुरक्षा-गार्डों ने उन्हें मानो एक सुरक्षात्मक खोल में कस लिया। कोई जबर्दस्त आत्मघाती रुझान वाला आदमी ही उस समय उनपर सीधे हमले का दुस्साहस कर सकता था। ''ऑनर गार्ड'' ने रॉबसन को सुरक्षित न्यूयार्क वापस पहुंचा

दिया, लेकिन पत्थरों की बौछार से उनकी कार को काफी नुकसान पहुंचा।

रॉबसन के प्रस्थान के बाद जल्दी ही, लगभग साढ़े तीन बजे कंसर्ट समाप्त हो गया। श्रोताओं ने जैसे ही मैदान से बाहर निकलना शुरू किया, हिंसा भड़क उठी। लोगों को पहले ही बाध्य किया जा चुका था कि वे पूर्वनियोजित रास्तों से ही होकर गुजरें। उनकी खिल्ली उड़ाई गई तथा दोनों ओर से डण्डों-पत्थरों आदि की बौछार-सी कर दी गई। अखबारों की रिपोर्ट के अनुसार 145 लोग घायल हुए और सैकड़ों कारें क्षतिग्रस्त कर दी गईं, कुछ तो एकदम बर्बाद कर दी गईं। घायलों का कहना था कि पुलिस इन सारे फसादों की मूक दर्शक बनी रही। कुछ का आरोप था कि उसने भी हिंसा में हिस्सा लिया। ये आरोप साबित नहीं किये जा सके क्योंकि कानून-व्यवस्था के अधिकारी उस समय तेज कार चलाने के आरोप में उनलोगों का चालान करने में व्यस्त थे जो हमलों से बचकर भागने की कोशिश कर रहे थे। जो लोग इन हमलों से बच नहीं सके, उनका चालान खिड़कियों और सामने व पीछे के टूटे शीशों वाली कारें चलाने के आरोप में किया गया। अखबारों में छपे चित्रों ने इस आरोप को सही ठहराया कि हिंसा में पुलिस की भी भागीदारी थी। चरमोत्कर्ष के दौरान करीब 10 वर्ग किलोमीटर का दायरा हिंसा की चपेट में था और दक्षिण में यह **यांकर्स** तक फैला हुआ था। हिंसा के फैलते जबड़ों के शिकार वे निर्दोष लोग भी हुए जिन्हें पता ही नहीं था कि इस इलाके में क्या हो रहा है! एक ऐसा ही ग्रुप था जो **हाइड पार्क** स्थित **फ्रैंकलिन रूजवेल्ट** की समाधि से लौट रहा था। इस ग्रुप के कई लोग घायल हो गये और कई घण्टों तक इसे रोक रखा गया।

दुनिया भर के अखबारों में पीकस्किल-हिंसा के ब्यौरे मुखपृष्ठ की चौंकाऊ सुर्खियां बने। विदेशों से अधिकांशत: जो मत उभरकर सामने आया वह कानून-व्यवस्था लागू करने वाले लोगों की भूमिका और हिंसक भीड़ के प्रति आलोचनात्मक था। ऐसे अधिकांश लोगों ने पीकस्किल के उन शांतिप्रेमी नागरिकों की प्रशंसा की थी जिन्होंने इस विध्वंस को रोकने की हरचंद कोशिशें की थीं और इनमें असफल होने के बाद अपने सह-नागरिकों की अमानवीयता की कड़ी भर्त्सना की थी।

अमेरिका में इस घटना पर लोगों की राय बुरी तरह बंटी हुई थी। यह कोई ताज्जुब की बात नहीं कि उस समय की परिस्थितियों में बहुमत की हमदर्दी रॉबसन-विरोधी शक्तियों के साथ थी। रॉबसन को कम्युनिस्टों का एजेण्ट बताया जा रहा था जो एक ऐसे समय में फूट पैदा करने का काम कर रहा था जबकि ''हमारी राष्ट्रीय सुरक्षा दांव पर लगी हुई'' थी। उदारवादी और वामपंथी प्रेस ने और उन यूनियनों की न्यूजशीट्स ने, जो सरकार की वफादार नहीं थीं, रॉबसन का समर्थन किया। पीकस्किल में हिंसा की तुलना उन्होंने यूरोप में नात्सियों की मारकाट और खून-खराबे से की। इस ग्रुप ने यह मांग की कि गर्वनर डेवी उक्त घटना की पूरी जांच एक विशेष ग्रैण्ड ज्यूरी द्वारा कराने के निर्देश जारी करें।

पीकस्किल के दंगों में ट्रेड यूनियनों के बहुत से लोगों को चोटें आईं और सम्पत्ति का भी नुकसान उठाना पड़ा। *फूरियर्स यूनियन* के एक पदाधिकारी **इर्विंग पोटाश** की कार के शीशों को तोड़कर एक भारी पत्थर ने उन्हें घायल कर दिया। उनकी एक आंख सदा के लिए जाती रही, दूसरी आंख में भी चोट आई तथा जबड़ा, नाक की हड्डी और गाल की हड्डी टूट गई। इन चोटों के बावजूद पोटाश ने **मैनहटन** के उस विरोध-प्रदर्शन और नुक्कड़ सभाओं में हिस्सा लिया जिनका आयोजन *युनाइटेड इलेक्ट्रिकल* की और अन्य यूनियनों ने मिलकर किया था। मजदूर नेताओं ने पीकस्किल दंगों के लिए जिम्मेदार लोगों पर मुकदमा चलाने की महाधिवक्ता **हावर्ड मैकग्राथ** से मांग की। *न्यूयार्क न्यूजपेपर गिल्ड* के सदस्यों ने गवर्नर डेवी से हिंसा की पूरी जांच की तथा उन सभी प्रान्तीय तथा स्थानीय अधिकारियों को हटाने की मांग की जो इसके लिए जिम्मेदार थे।

20 सितम्बर 1949 को, सीधे गर्वनर के सामने अपना आक्रोश प्रकट करने के लिए 300 लोग न्यूयार्क सिटी से राजधानी अल्बैनी के लिए ट्रेन पर सवार हुए। ट्रेन की हिफाजत के लिए सशस्त्र गार्डों का एक विशेष दस्ता भी साथ था क्योंकि ट्रेन को पीकस्किल से भी होकर गुजरना था। यह प्रतिनिधिमण्डल जब अल्बैनी में सड़कों से गुजर रहा था तो पटरियों पर खड़े 5,000 लोगों की भीड़ को रोककर अल्बैनी पुलिस खड़ी थी। यहां कोई हिंसा नहीं होने पाई, सिर्फ कुछ टमाटर व अण्डे फेंके गये, पर वे भी निशानों पर लगे नहीं। लेकिन वास्तव में, इस पूरे मामले में किसी भी तरह की कार्रवाई नहीं हुई। गर्वनर के बजाय उनके सहायक सलाहकार ने प्रतिनिधिमण्डल से मुलाकात की। उसने उनकी बातें गौर से सुनीं, किसी प्रकार का कोई वायदा नहीं किया और वापस लौटा दिया।

पीकस्किल दंगे के शिकार 83 लोगों ने कुल 20,345 डॉलर की सम्पत्ति के नुकसान को लेकर **वेस्चेस्टर-काउण्टी** के अधिकारियों के खिलाफ लापरवाही बरतने का अभियोग लगाते हुए मुकदमें दायर किये। इन अभियोगों को खारिज कर देने की कई कोशिशें हुईं और अन्ततोगत्वा इसमें सफलता भी प्राप्त हुई। संघीय न्यायालय ने अभियुक्तों के खिलाफ सभी आरोपों को खारिज कर दिया।

रॉबसन और प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखक **हावर्ड फास्ट** ने सितम्बर, 1949 में 26 अन्य वादियों के साथ वेस्चेस्टर काउण्टी के अधिकारियों और रिटायर्ड फौजियों के दो संगठनों के खिलाफ 2,020,000 डालर के हरजाने के लिए 'सिविल सूट' दाखिल किया। यह मुकदमा 23 जनवरी 1952 तक चलता रहा। इसके बाद संघीय न्यायालय ने सभी आरोपियों के खिलाफ सभी आरोपों को खारिज कर दिया। जांच और कानूनी कार्रवाइयों से याचियों को कोई महत्वपूर्ण राहत नहीं मिली।

4 सितम्बर 1949 के पीकस्किल दंगों के बाद वहां के लोगों में अफवाहों की लहर-सी चल पड़ी। स्जेगो की रिपोर्ट के मुताबिक, फासिस्टों के हाथों में पूरा प्रशासन आ जाने के भय के कारण बहुतेरे लोग पीकस्किल क्षेत्र से बाहर जाने के बारे में सोचने लगे थे। दूसरी अफवाह यह थी कि सम्पत्ति के नुकसान के एवज में मिलने वाली बीमा रकम के दर में काफी इजाफा होने वाला है। 27 सितम्बर को नगर के संस्थापकों के सम्मान में होने वाले *जान पीक समारोह* को पीकस्किल के व्यापारियों के एक ग्रुप ने स्थगित कर दिया। उनका मानना था कि ऐसे समय में किसी तरह के जन-समागम का आयोजन अविवेकपूर्ण होगा। तमाम अन्य सामाजिक और नागरिक गतिविधियां भी या तो रद्द कर दी गईं या फिर स्थगित कर दी गईं।

रॉबसन ने जिहाद जारी रखा

दूसरी ओर, रॉबसन ग्रुप ने पूरे देश के कई शहरों में रॉबसन की प्रस्तुतियों के कार्यक्रम तय किये। उनकी दृष्टि में यह दौरा शांति के लिए तथा विश्व-कम्युनिज्म के साथ असामरिक मेल-मिलाप (तनाव-शैथिल्य) के प्रचार के उनके अलोकप्रिय जिहाद के लिए एक वाहक का काम कर रहा था, बावजूद इसके कि कोरिया में युद्ध का खतरा बढ़ता ही जा रहा था।

जब दौरे का कार्यक्रम प्रकाशित हुआ तो सेवानिवृत्त सैनिकों के ग्रुपों ने भरपूर कोशिश की कि **न्यू हैवेन, पिट्सबर्ग, शिकागो** और अन्य शहरों में रॉबसन की मीटिंगें रद्द हो जायें। जब वे इसमें सफल नहीं हुए तो अपने सभी सदस्यों पर रॉबसन के कार्यक्रमों में शामिल होने से रोक लगा दी।

9 अक्टूबर 1949 को रॉबसन ने **डेट्रॉयट** में अपना कार्यक्रम प्रस्तुत किया। लगभग 50,000 लोगों ने फॉरेस्ट स्ट्रीट और हेस्टिंग्स स्ट्रीट के पूरे इलाके को जाम कर दिया। भीड़ खचाखच भरे फारेस्ट क्लब से बाहर चारो ओर ठंसी हुई थी और तीन ब्लाकों के लिए आने-जाने वालों की भीड़ को दूसरी दिशाओं में मोड़ देने के लिए मजबूर होना पड़ा। एक हजार पुलिस के जवान चारो ओर से तथा आसपास की खिड़कियों और छतों से भीड़ पर निगाह रखे हुए थे। जासूसी विभागों और

एफ. बी. आई. के लोग भीड़ में घुलमिल गये थे और आगे के इस्तेमाल के लिए अपने रिकार्ड तैयार कर रहे थे। व्यवस्था के सदस्यों—श्वेत-अश्वेत दोनों की ही—अनुपस्थिति वहां साफ-साफ दिख रही थी।

डेट्रॉयट के एक निर्भीकतम मुक्ति-सेनानी **रेवरेण्ड चार्ल्स हिल** ने तमाम ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं की मदद से रॉबसन के इस कार्यक्रम की तैयारी की थी। रॉबसन के वहां रुकने के दौरान उन लोगों ने खुद तगड़ी सुरक्षा का इन्तजाम किया था और रॉबसन के खिलाफ किसी भी तरह की हिंसा की निगरानी रखने, पता लगाने और उससे निपटने के लिए अपना खुद का निगरानी-नेटवर्क खड़ा किया था। डेट्रॉयट के अधिकारियों ने भारी राहत की सांस ली जब बिना किसी तरह की दुर्घटना के रॉबसन वहां से रवाना हो गये।

कुछ चीजें जो पहले से ही चल रही थी, पीकस्किल की घटना ने उनकी गति तेज कर दी और कुछ अन्य आशंकाओं को संभव बना देने का भी काम किया। सरकार के प्रति गैरवफादार यूनियनों की पीकस्किल में सक्रियता ने **सी.आई.ओ.** के भीतर के विभाजन को चौड़ा कर दिया। राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर कांग्रेस और सीनेट दोनों की ही जांच-पड़ताल कमेटियों की ताकत और बजट में बढ़ोत्तरी कर दी गई। सीनेटर **जोसेफ आर. मैकार्थी** (**विस्कांसिन** के डेमोक्रैट सीनेटर) पहले से ही अपनी कम्युनिस्ट-विरोधी लाइन का परीक्षण करने में लगे हुए थे जिसके द्वारा आने वाले दिनों में, चाहें थोड़े समय के लिए ही सही, पर आतंककारी सफलता के साथ वे पूरे राष्ट्र का गला घोटने वाले थे। संदिग्ध संवैधानिकता वाले तरह-तरह के संघीय, प्रान्तीय और स्थानीय कानूनों के निर्माण से नागरिक स्वतंत्रता के लिए चौतरफा खतरा पैदा हो गया था।

इस राष्ट्रीय टकराव और विवाद ने पीकस्किल घटना पर रॉबसन के खुद के बयान को लगभग दबा दिया। **''मेरा जवाब''**—इस शीर्षक के अन्तर्गत रॉबसन ने अपनी अवस्थिति तथा अपनी दलीलें प्रस्तुत की तथा कुछ भविष्यवाणियां कीं :

''... अपने लोगों के लिए तथा सभी वंचित लोगों के लिए, चाहे वे जहां भी रहते हों, सर्वोच्च स्तर की लड़ाई लड़ने के लिए मैं अब पूरी तरह तैयार हूं, हालांकि ऐसा हमेशा नहीं था। यहां, मैं उस साहसी, कदापि न झुकने वाले नेतृत्व की ओर से बोल रहा हूं, जिसे अपने पीछे चलने वाले अवाम के लिए सच्ची आजादी लाने के उद्देश्य से न तो विचलित किया जा सकता है, न ही डराया-धमकाया जा सकता है।

''यह चीज मेरे भीतर जल रही है, और डर जाना न तो मेरा स्वभाव है न ही प्रवृत्ति।

''... उन्होंने मुझे गालियां दीं, मेरी बदनामी की, मेरे ऊपर वे चारो ओर से चीखे-चिल्लाये। ठीक है। कोई बात नहीं। वे ऐसा करते रहें। मेरी आवाज सेना के बैण्ड के गाजे- बाजे और भाड़े के उन गुण्डो की हूटिंग के शोर के ऊपर रही है, जो सिविल राइट्स फोरम की हार्लेम शाखा के लिए हो रहे मेरे कंसर्ट को भंग करने की कोशिश कर रहे थे। असहिष्णु लोगों की चीख-चिल्लाहट के ऊपर मेरी आवाज हमेशा सुनाई देगी।

''मेरे हथियार शान्तिपूर्ण हैं, शांति के द्वारा ही शांति को हासिल किया जा सकता है। मुक्ति का गीत जारी रहना चाहिए।''

रॉबसन के पोजीशन-पेपर से उनके दुश्मनों का गुस्सा पहले हमेशा से अधिक तेज धधक उठा। वे उनके खिलाफ और अधिक सूझबूझ के साथ नई-नई हिंसात्मक कार्रवाइयां संगठित करने के बारे में सोचने लगे। रॉबसन की भविष्यवाणियां और दलीलें जमाने की हवा के खिलाफ थीं, इसलिए उनकी उपेक्षा की गई।

पीकस्किल की घटना की पहली सालगिरह अभी दो माह दूर थी, जब अमेरिका की सेना ने दक्षिण-पूर्व एशिया के दुस्साहसिक अभियान के कोरियाई चरण में प्रवेश किया जिसमें दसियों लाखों लोग मारे गये, खरबों डालर राख हो गये और वह गति तेज हो गई जिसने अंततः अमेरिका को वित्तीय और नैतिक दिवालियेपन में सिर के बल ले जाकर धंसा दिया। सत्तासीन तत्कालीन आधुनिक ओझा लोगों ने कम्युनिज्म के तगड़े भूत की झाड़फूंक शुरू कर दी, नतीजतन एक वर्ष का समय बीतने से पहले ही सी.आई. ओ. के भीतर की विदारक दरार एक ऐसी गहरी खाई बन गई जिसे पाटना सम्भव नहीं रहा। **बर्मिंघम, बोगालुसा** और **सेल्मा** के यथास्थितिवादियों को पीकस्किल के उपद्रवियों को छुट्टा छोड़ दिये जाने से उत्साह मिला। वे अपने समय का इंतजार करते रहे और खुद को पूरी तरह तैयार रखा।

एक वर्ष से भी कम समय के भीतर रॉबसन का पासपोर्ट दण्डस्वरूप विदेश विभाग द्वारा रद्द कर दिया गया। देश में उन्हें आजीविका जुटाने के अवसर उपलब्ध नहीं थे और विदेश वे जा नहीं सकते थे। इस तरह राजनीतिक दमन और आर्थिक रूप से गला घोंटकर उन्हें धीमी मौत मारने की कोशिश की गई। लेकिन रॉबसन ने, स्वाभाविक ही था *कि अपने दुश्मनों के प्रति* सहयोगी रवैया नहीं अपनाया। उन्होंने मरने से इन्कार किया और वे यह देखने के लिए जीवित रहे कि उनके ''अलोकप्रिय'' उद्देश्य रोजमर्रा की अमेरिकी जीवन-शैली के अंग बन गये।

समय और परिस्थितियों द्वारा न्यायसंगत ठहराये जाने के बावजूद रॉबसन अपने देश में हमेशा ही एक असम्मान्य पैगम्बर बने रहे। उनके असम्मान का यह भी एक ज्वलन्त उदाहरण है कि कालेज फुटबाल के 'हाल ऑफ फेम' से उनका नाम नदारद है। दो-दो बार अखिल अमेरिकी टीम में खेल चुके वे एकमात्र ऐसे खिलाड़ी हैं, जिनकी ऐसी उपेक्षा की गई। इस स्थिति में बदलाव की लम्बे समय से प्रतीक्षा है। इसके बाद ही इस विवादास्पद अमेरिकी का समयानुकूल पुनर्मूल्यांकन किया जा सकेगा और उसके दारुण दुर्भाग्य के पलटने की शुरुआत हो सकेगी।

■

''इस युग के इतिहास की अभिलाक्षणिकता है मेरे लोगों का अपमान और अपकर्ष। उनकी जमीनें लूट ली गईं, उनकी संस्कृति तबाह कर दी गई, सिर्फ एक देश (सोवियत संघ) को छोड़कर सभी देशों में उन्हें कानून की समान सुरक्षा देने से इनकार कर दिया गया, तथा अन्य नागरिकों के समकक्ष समाज में उनके न्यायोचित स्थान से उन्हें वंचित कर दिया गया। किसी अंधी आस्था या दबाव के जरिए नहीं, बल्कि अपने मार्ग के संज्ञान के जरिए मैं आपके साथ खड़ा हूं। स्पेन के वैध बेटे-बेटियों द्वारा विधिसम्मत और नियमनिष्ठ ढंग से चुनी गई स्पेन की सरकार के दृढ़ समर्थन में मैं आपके साथ खड़ा हूं ... ब्रिटिश साम्राज्य के हरेक अश्वेत आदमी को रिपब्लिकन स्पेन के पक्ष में लामबन्द हो जाना चाहिए... क्योंकि फासिस्ट प्रतिक्रियावादियों के उत्पीड़न से स्पेन की मुक्ति केवल स्पेनवासियों का निजी मामला नहीं है, यह समूची उन्नत और प्रगतिशील मानवता का साझा लक्ष्य है।''

— पॉल रॉबसन, 'डेली वर्कर' 4 नवम्बर 1937

(रॉबसन ने यह बयान उस समय दिया था जब मैड्रिड पर फासिस्ट सेना का खतरा मंडरा रहा था, स्पेन उस समय फासिज्म-विरोधी विश्वव्यापी प्रतिरोध-युद्ध की अग्रिम पंक्ति तथा फासिज्म के विरुद्ध विश्व-जनता की अन्तरराष्ट्रीय एकजुटता का प्रतीक-चिह्न बना हुआ था)

पॉल रॉबसन से

• नाज़िम हिकमत

वे हमें अपने गीत नहीं गाने देते हैं, रॉबसन,
ओ गायकों के पक्षिराज नीग्रो बन्धु,
वे चाहते हैं कि हम अपने गीत न गा सकें।
डरते हैं रॉबसन,
वे पौ के फटने से डरते हैं।
देखने,
सुनने,
छूने से
डरते हैं।
वैसा प्रेम करने से डरते हैं
जैसा हमारे फरहाद ने प्रेम किया
(निश्चय ही तुम्हारे यहां भी तो कोई फरहाद हुआ,
रॉबसन, नाम तो उसका बताना जरा)
उन्हें डर है
बीज से,
पृथ्वी से,
पानी से,
और वे
दोस्त के हाथ की याद से डरते हैं–
जो हाथ कोई डिसकाउण्ट, कमीशन या सूद नहीं मांगता
जो हाथ उनके हाथों में किसी चिड़िया-सा फंसा नहीं।
डरते हैं नीग्रो बन्धु,
वे हमारे गीतों से डरते हैं रॉबसन ।

(अंग्रेजी से अनुवाद : चन्द्रबली सिंह)

''अरबों मेहनतकश लोगों पर अपनी सत्ता जमाये रखने और श्रम का निरंकुश शोषण करने की अपनी स्वतंत्रता को कायम रखने के लिए दुनिया के पूंजीपति पूरा जोर लगाकर फासिज्म का संगठन कर रहे हैं। फासिज्म जर्जर बुर्जुआ समाज के शारीरिक और नैतिक रूप से अस्वस्थ—शराबखोरी और सिफलिस के शिकार पूंजीपतियों और उनकी विक्षिप्त संतान का, जो सन् 1914-18 के अनुभवों से पीड़ित है, निम्न-मध्यवर्ग के बच्चों का, पराजय का 'प्रतिशोध' लेने वालों तथा उन लोगों के मिलकर संगठित होने का परिणाम है, युद्ध में जिनकी सफलताएं भी बुर्जुआ वर्ग के लिए कम विनाशकारी नहीं थीं।...

जिन्होंने भी फासिस्टों की परेडें देखी हैं वे जानते हैं कि ये परेडें उन नौजवानों की होती हैं जिनकी रीढ़ें रोग से सूजी हुई हैं, किन्तु जो बीमार आदमियों के उन्माद से जीवित रहना चाहते हैं और जो ऐसी किसी भी चीज को अपनाने के लिए तैयार रहते हैं जो उनके विषाक्त रक्त की सड़ांध को बिखरने की उन्हें आजादी देती है। इन हजारों कान्तिहीन और रक्तहीन चेहरों में स्वस्थ और चमकते चेहरे दूर से ही नजर आ जाते हैं क्योंकि उनकी संख्या इतनी नगण्य है। निश्चय ही ये थोड़े से चमकते हुए चेहरे सर्वहारा वर्ग के सचेत दुश्मनों के हैं या दुस्साहसी टुटपूंजियों के हैं जो कल तक सोशल-डेमोक्रेट थे या छोटे व्यापारी थे और अब बड़े व्यापारी बनना चाहते हैं और जिनके वोट जर्मनी के फासिस्ट नेता किसानों और मजदूरों के हिस्से की लकड़ी या आलू उन्हें मुफ्त में देकर खरीद लेते हैं। होटलों के हेड वेटर चाहते हैं कि वे अपने-अपने रेस्तरां के मालिक हों, छोटे चोर चाहते हैं कि शासन बड़े चोरों को लूटमार और चोरी करने की जो छूट देता है वह उन्हें भी दी जाये—ऐसे लोगों की पांत में से फासिज्म अपने रंगरूट भरती करता है। फासिस्टों की परेड एक साथ ही पूंजीवाद की शक्ति और उसकी कमजोरियों की परेड होती है।

हमें आंखें बंद नहीं कर लेनी चाहिए : फासिस्टों की जमात में मजदूरों की संख्या भी कम नहीं है—ऐसे मजदूरों की संख्या जो अभी तक क्रान्तिकारी सर्वहारा की निर्णयकारी शक्ति से बेखबर हैं। हमें अपनेआप से यह तथ्य भी नहीं छिपाना चाहिए कि संसार का उपजीवी—पूंजीवाद—अभी भी काफी मजबूत है, क्योंकि मजदूर और किसान अभी भी उसके हाथ में हथियार और भोजन देते जाते हैं। इस विप्लवी जमाने का यह सबसे क्षोभजनक और शर्मनाक तथ्य है।''

— मक्सिम गोर्की : 'सर्वहारा का मानववाद' (1934)

अध्याय 15

ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा किफायती परिणामों के साथ समाजवादी उत्पादन का विकास करो

समाजवादी उत्पादन की प्रकृति एवं लक्ष्य और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन

समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व प्रणाली की स्थापना के परिणामस्वरूप उत्पादन, विनिमय और वितरण की प्रक्रियाओं में लोगों के बीच सामाजिक सम्बन्धों में बुनियादी परिवर्तन आ गया है। अव्वलन तो, सामाजिक उत्पादन की प्रकृति ही बदल गई है। साथ ही सामाजिक उत्पादन का लक्ष्य और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन भी बदल गये हैं। इस तरह, समाजवादी उत्पादन का विकास उन नियमों के अनुसार चलता है जो पूंजीवादी उत्पादन के नियमों से भिन्न होते हैं। इन नियमों को सही ढंग से समझकर और लागू करके ही समाजवादी उत्पादन को ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा किफायती परिणामों के अनुसार विकसित किया जा सकता है।

समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व ने सामाजिक उत्पादन की प्रकृति को बुनियादी तौर पर बदल डाला है

समाजवादी श्रम का उत्पाद एक साथ प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पाद और माल, दोनों होता है

भौतिक सम्पदा का उत्पादन मानव समाज के अस्तित्व और विकास की आवश्यक शर्त है। लेकिन भिन्न-भिन्न सामाजिक व आर्थिक व्यवस्थाओं में, सामाजिक उत्पादों की अभिलाक्षणिकताएं भिन्न-भिन्न होती हैं।

उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व की प्रणाली के तहत उत्पादन एक निजी मामला होता है। उत्पाद व्यक्तिगत उत्पादक का होता है। इसलिए, उत्पादन हमेशा ही निजी उत्पादन के रूप में दिखाई देता है। उत्पाद भी निजी उत्पाद के रूप में दिखाई देते हैं। जब यह उत्पाद उत्पादक के निजी उपभोग के लिए नहीं बनता है बल्कि इसका उद्देश्य विनिमय होता है तो वह माल बन जाता है। माल के रूप में निजी उत्पाद की एक सामाजिक प्रकृति भी होती है। लेकिन यह सामाजिक प्रकृति निजी स्वामित्व की प्रणाली के द्वारा छुपी होती है और प्रत्यक्षत: अभिव्यक्त नहीं होती। केवल विनिमय के जरिए, जिसमें उत्पादित माल की समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता सिद्ध होती है, उत्पाद की सामाजिक प्रकृति पुष्ट होती है। पूंजीवादी समाज में सभी उत्पाद एक साथ निजी उत्पाद और माल दोनों होते हैं। पूंजीवादी उत्पादन निजी माल उत्पादन का सर्वाधिक विकसित रूप है।

समाजवादी चीन में, उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के समाजवादी रूपान्तरण के मूलत: पूरा हो जाने के बाद समस्त सामाजिक उत्पादन (कम्यून तथा ग्रामीण सामूहिक अर्थव्यवस्था के सदस्यों द्वारा अपनी वैयक्तिक जरूरत की चीजें उगाने के लिए रखी गई थोड़ी सी भूमि को छोड़कर) उत्पादन के साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व की प्रणाली की बुनियाद पर खड़ा किया गया है। समग्रता में, समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित और देशव्यापी नियोजन के अनुसार संगठित किया गया राजकीय अर्थव्यवस्था और सामूहिक अर्थव्यवस्था का उत्पादन समाज की जरूरतों, यानी सर्वहारा और मेहनतकश जनसमुदाय की जरूरतों को प्रत्यक्षत: पूरा करने पर लक्षित है। इस प्रकार का उत्पादन पूंजीवादी निजी उत्पादन से मूलभूत रूप से भिन्न है। इसके प्रधान पक्ष की दृष्टि से यह प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादन बन गया है। श्रम के उत्पाद शुरू से ही सामाजिक रूप से उपयोगी होते हैं, और इसलिए वे निजी उत्पाद नहीं रह जाते बल्कि प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पाद होते हैं। यह कहने की जरूरत नहीं कि प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादों का सृजन करने के लिए प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादन में लगने वाला श्रम निजी श्रम नहीं रह जाता बल्कि प्रत्यक्ष सामाजिक श्रम बन जाता है। एंगेल्स ने एक जगह कहा है, ''जिस क्षण से समाज उत्पादन के साधनों का स्वामित्व ग्रहण करता है और उनका उत्पादन के लिए उपयोग करता है, उसी क्षण से प्रत्येक व्यक्ति का श्रम, उसके विशिष्टत: उपयोगी चरित्र में कितनी ही भिन्नता क्यों न हो, तत्काल और प्रत्यक्षत: सामाजिक श्रम बन जाता है।''[1]

ऐतिहासिक रूप से, मानव समाज की विकास प्रक्रिया में प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादन का अस्तित्व एक बार रहा है—आदिम कम्यून के समय में। उस समय में, ''समुदाय के सदस्य उत्पादन के लिए प्रत्यक्षत: सम्बद्ध रहते थे।''[2] वे साथ मिलकर श्रम करते थे और प्रथा एवं जरूरत के अनुसार उत्पादों का आपस में वितरण करते थे। यह गोत्र कम्यून के सार्वजनिक स्वामित्व की प्रणाली पर आधारित एक प्रकार का प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादन था। यह ऐसी परिस्थितियों में सामने आया था जब उत्पादक शक्तियां निम्न स्तर पर थीं और सामाजिक श्रम विभाजन अल्पविकसित था। यह आदिम सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित अर्थव्यवस्था थी जिसमें माल उत्पादन और विनिमय नहीं था।

समाजवादी प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादन बड़े पैमाने का सामाजिक उत्पादन है जो श्रम विभाजन और सहकार की ऐसी प्रणाली पर आधारित है जिसमें लाखों-करोड़ों लोग शामिल होते हैं। मानव समाज के विकास के दृष्टिकोण से समाजवादी प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादन आदिम कम्युनिज्म के दिनों के मुकाबले प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादन का एक उन्नत रूप है। लेकिन भविष्य के कम्युनिस्ट प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादन की तुलना में समाजवादी प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादन प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादन का एक अपरिपक्व रूप ही है; अभी भी पुराने समाज की परम्पराओं और जन्मचिन्हों ने इसका पीछा नहीं छोड़ा है और न ही यह माल उत्पादन से मुक्त हुआ है।

समाजवादी समाज की काफी लम्बी ऐतिहासिक अवधि में, सार्वजनिक

स्वामित्व की समाजवादी प्रणाली में दो प्रकार के समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व निहित होते हैं—और समाजवादी उत्पादन स्वामित्व के इन दो रूपों के आधार पर चलता है। उत्पादों पर, क्रमशः समाजवादी राज्य, और सामूहिक स्वामित्व की प्रणाली के अधीन विभिन्न इकाइयों एवं उद्यमों का मालिकाना होता है। इससे यह तय होता है कि हालांकि समाजवादी उत्पादन प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादन होता है, फिर भी इसे माल उत्पादन होना होता है। समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व प्रणाली के राजकीय और सामूहिक सेक्टरों के बीच और उद्योग एवं कृषि के बीच सामान्य आर्थिक सम्बन्ध कायम करने, और मजदूर-किसान संश्रय के सुदृढ़ीकरण में सहायता करने के लिए एक पर्याप्त लम्बी अवधि तक माल उत्पादन और विनिमय को बनाये रखना और तदनुरूप विकसित करना जरूरी होता है। इसे अपनी मर्जी से नहीं बदला जा सकता। लेनिन ने कहा है, ''माल विनिमय में उद्योग और कृषि के बीच के सम्बन्ध की परीक्षा होती है।''[3]

माल के आदिम स्रोतों का विश्लेषण करते हुए मार्क्स ने पहले ही बताया है : ''लेकिन जल्दी ही, जब उत्पाद एक बार किसी समुदाय के बाह्य सम्बन्धों में माल बन जाते हैं, तो प्रतिक्रियास्वरूप, वे इसकी आन्तरिक अन्तरक्रियाओं में भी माल बन जाते हैं।''[4] यहां मार्क्स जिस ''समुदाय'' की बात कर रहे हैं, वह आदिम कम्यून है। पर यह तर्क समाजवादी अर्थव्यवस्था पर भी लागू होता है। समाजवादी अर्थव्यवस्था अपनेआप में सम्पूर्णतः एकीकृत होती है; इसके तहत समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व की दो किस्मों के बीच के माल सम्बन्ध समस्त जनता के समाजवादी स्वामित्व की प्रणाली के भीतर के विनिमय सम्बन्धों में प्रतिबिम्बित हुए बिना नहीं रह सकते। साथ ही, सामाजिक उत्पादकता के मौजूदा स्तर के परिणामस्वरूप, और उद्यमों के प्रबन्धकीय दायित्व को सुदृढ़ करने के लिए, भौतिक स्थितियों का तकाजा होता है कि काम करने और प्रबन्धन में उद्यमों की सापेक्षिक स्वतंत्रता बनी रहे। इसलिए, हालांकि विभिन्न राजकीय उद्यम एक ही विशाल परिवार में होते हैं और उनके स्वामी भी एक ही होते हैं, फिर भी, जब इन उद्यमों को आपस में एक-दूसरे के उत्पादों की आवश्यकता होती है, तो इन उत्पादों के बदले भुगतान किये बिना ये हस्तान्तरित नहीं हो सकते। एक ही परिवार को दो अलग-अलग परिवारों के रूप में, या अलग-अलग स्वामियों के रूप में देखने की आवश्यकता होती है, जिन्हें दाम के अनुसार भुगतान किया जाता है। इस प्रकार, समाजवादी समाज में माल व्यवस्था न केवल राजकीय और सामूहिक सेक्टर (जो दो किस्म के समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित होते हैं) की इकाइयों के बीच ही नहीं चलती है, बल्कि स्वयं राजकीय उद्यम सेक्टर के भीतर भी चलती है।

समाजवादी समाज में, माल उत्पादन को जारी रखना अभी जरूरी होता है। लेकिन चूंकि यह माल उत्पादन समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व की बुनियाद पर कायम प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादन से जुड़ा होता है, इसलिए यह ऐतिहासिक रूप से मौजूद रहे माल उत्पादन से एकदम भिन्न होता है। इस माल उत्पादन की निम्नलिखित अभिलाक्षणिकताएं होती हैं :

1. यह प्रत्यक्षतः सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए होता है और मुख्यतः दो मेहनतकश वर्गों, मजदूर और किसान, के बीच विनिमय सम्बन्धों के रूप में अभिव्यक्त होता है।
2. असंगठित और अनियोजित पूंजीवादी माल उत्पादन के विपरीत, समाजवादी माल उत्पादन राजकीय नियोजन के निर्देशन में नियोजित ढंग से होता है।
3. पूंजीवादी समाज की तुलना में समाजवादी समाज में मालों का दायरा काफी छोटा हो जाता है। श्रम शक्ति अब माल नहीं रह जाती। भूमि, खनिज संसाधन और अन्य प्राकृतिक संसाधन भी अब माल नहीं रह जाते।

संक्षेप में, समाजवादी समाज पूंजीवादी समाज, जिसमें माल उत्पादन चरम पर पहुंच चुका होता है, और कम्युनिस्ट समाज, जिसमें माल उत्पादन का लोप हो चुका होगा, के बीच का संक्रमणकालीन समाज होता है। समाजवादी समाज के माल सम्बन्ध माल व्यवस्था के विलोपीकरण की अभिलाक्षणिकताओं को भ्रूण रूप में प्रदर्शित करना शुरू कर देते हैं। (अध्याय 19 में इसका और विस्तार से विश्लेषण किया गया है।)

चूंकि समाजवादी उत्पाद एक साथ प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पाद और माल दोनों होते हैं, इसलिए माल उत्पादन और वितरण से जुड़ी श्रेणियां—जैसे उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य, मूर्त और अमूर्त श्रम, मुद्रा और दाम आदि—निश्चित रूप से मौजूद रहेंगी। समाजवादी समाज में माल उत्पादन को जारी रखने की आवश्यकता को नकारना और माल उत्पादन को समय से पहले ही समाप्त कर देना निश्चित रूप से गलत कदम हैं। गद्दार और त्रात्स्कीपंथी चेन पो-ता ने चीन के ग्रामीण जनकम्यून आन्दोलन के तीव्र विकास के दौर में माल उत्पादन और वितरण को समाप्त करने के लिए खूब हो-हल्ला किया। यह क्रान्ति और आर्थिक पुनर्निर्माण के काम को रास्ते से भटकाने की एक कोशिश थी। माओ त्से-तुङ ने इस षड्यन्त्र को पहचान लिया और चेन पो-ता के विरुद्ध दृढ़ संघर्ष छेड़ दिया। माओ द्वारा बुलाये गये और उनकी अध्यक्षता में हुए चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की आठवीं केन्द्रीय कमेटी के छठे विस्तारित अधिवेशन में स्पष्ट कहा गया : ''सोचने का यह ढंग जो माल उत्पादन और विनिमय को समय से पहले समाप्त करने का प्रयास करता है तथा माल, मूल्य, मुद्रा और दाम की रचनात्मक भूमिका को समय से पहले ही नकारता है, समाजवादी निर्माण को विकसित करने में बाधक है और इसलिए गलत है।''[5] समाजवादी निर्माण के काम को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से समाजवादी माल उत्पादन को न केवल कायम रखा जाना चाहिए, बल्कि चीन के उद्योग एवं कृषि के बीच तथा शहरी एवं देहाती क्षेत्रों के बीच की आर्थिक कड़ी को सुदृढ़ करने के लिए इसे विकसित भी किया जाना चाहिए।

लेकिन, दूसरी ओर, इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि समाजवादी माल उत्पादन, निजी माल उत्पादन से भिन्न होते हुए भी, माल उत्पादन ही रहता है। माल उत्पादन की अभिलाक्षणिकताएं और इससे जुड़ी श्रेणियां उत्पादन के साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व की समाजवादी प्रणाली के भीतर से पैदा हो रही होती हैं। समाजवादी समाज में माल उत्पादन, अपने आप में पुराने समाज में होने वाले माल उत्पादन से ज्यादा भिन्न नहीं होता। इसे ठोस रूप में देखें :

1. समाजवादी समाज में, माल में उपयोग मूल्य और मूल्य बरकरार रहते हैं, यानी इसकी दोहरी प्रकृति बनी रहती है; इसलिए समाजवादी उद्यमों को, चाहे वे सामूहिक स्वामित्व के दायरे में हों या समस्त जनता के स्वामित्व के दायरे में हों, उन्हें अब भी उपयोग मूल्य के साथ ही, मूल्य (लागत मूल्य, दाम, मुनाफा आदि) को भी ध्यान में रखना पड़ता है।
2. समाजवादी समाज में, मूल्य का नियम ही माल उत्पादन का आर्थिक नियम बना रहता है; माल का मूल्य अब भी उसे पैदा करने में लगने वाले सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम-काल से निर्धारित होता है; अतः जिस उत्पादन इकाई का अपना व्यक्तिगत श्रमकाल सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल से कम है वह अधिक आय अर्जित करेगी और जिन उत्पादन इकाइयों का व्यक्तिगत श्रमकाल सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल से अधिक है वे कम आय अर्जित कर पायेंगी, और सम्भवतः उन्हें घाटा भी उठाना पड़ सकता है।
3. समाजवादी समाज में, माल उत्पादन की मौजूदगी के कारण, सामान्य तुल्यमान के रूप में मुद्रा का कार्य जारी रहता है, और मालों का मूल्य अब भी मुद्रा के रूप में, यानी दाम के रूप में अभिव्यक्त होता है। अतः, मालों का दाम अब भी मालों के मूल्य से इतर होता है, जिसके चलते समान मात्रा में श्रम खर्च करने वाले अलग-अलग माल उत्पादकों को होने वाली आय असमान होती

है।

उपरोक्त परिघटनाएं यह बताती हैं कि समाजवादी माल उत्पादन में बुर्जुआ अधिकार निहित होता है (सतह पर समानता परन्तु यथार्थ में असमानता) माल उत्पादन के क्षेत्र में इस प्रकार के बुर्जुआ अधिकार वह जमीन है जहां से पूंजीवाद और बुर्जुआ तत्व पैदा होते हैं, और सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत उनपर अंकुश लगाना जरूरी होता है। सर्वहारा वर्ग माल उत्पादन का उपयोग समाजवादी निर्माण को आगे बढ़ाने के लिए करना चाहता है जबकि बुर्जुआ वर्ग माल उत्पादन का उपयोग पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने के लिए करना चाहता है। प्राकृतिक आपदाओं के तीन वर्षों (1960-62) के दौरान ल्यू शाओ-ची गुट ने निजी स्वामित्व वाले जमीन के टुकड़ों का विस्तार करने, मुक्त बाजार के अनियंत्रित विकास और राजकीय अर्थव्यवस्था में ''हानि और लाभ के लिए आन्तरिक उत्तरदायित्व'' की प्रणाली लागू करने की बेशर्मी के साथ वकालत की। उनकी नीयत माल उत्पादन में बुर्जुआ अधिकारों का विस्तार करने की थी जिससे समाजवादी अर्थव्यवस्था को क्षरित करके तोड़ा जा सके और पूंजीवादी व्यवस्था की पुनर्स्थापना की जा सके। माओ त्से-तुङ ने सबसे पहले ल्यू शाओ-ची गुट की इस दुष्टतापूर्ण साजिश को पहचाना। उन्होंने ल्यू शाओ-ची गुट की संशोधनवादी लाइन की आलोचना और खण्डन करने में तथा माल उत्पादन में बुर्जुआ अधिकारों पर अंकुश लगाने वाली नीतियों एवं योजनाओं की एक श्रृंखला तैयार करने में पूरी पार्टी का नेतृत्व किया, जिसके बहुत अच्छे नतीजे सामने आये। लेकिन वर्ग संघर्ष की दीर्घकालिक एवं जटिल प्रकृति के चलते अंकुश लगाने और इसकी प्रतिरोधी कार्रवाइयों के बीच यह संघर्ष कई दौर के संघर्ष के बाद भी रुका नहीं है, और एक लम्बे समय तक जारी रहेगा।

समाजवादी उत्पादन श्रम प्रक्रिया और मूल्य-सृजन प्रक्रिया की एकता है

समाजवादी उत्पादों की द्वैधता इन उत्पादों को पैदा करने वाली उत्पादन प्रक्रिया की द्वैधता में परिलक्षित होती है। प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादों के उत्पादन के रूप में, समाजवादी उत्पादन एक प्रत्यक्ष सामाजिक श्रम प्रक्रिया है जो नियोजित ढंग से विभिन्न उपयोग मूल्यों का सृजन करती है जो सर्वहारा और मेहनतकश जनसमुदाय की जरूरतों को पूरा करती है। माल उत्पादन के रूप में, उत्पादक का श्रम न केवल मूर्त उपयोग मूल्यों का सृजन करता है, बल्कि विनिमय मूल्यों का भी सृजन करता है। समाजवादी उत्पादन प्रक्रिया इस प्रत्यक्ष सामाजिक श्रम प्रक्रिया और मूल्य-सृजन प्रक्रिया की एकता है। इसलिए, समाजवादी उत्पादन की अभिलाक्षणिकताएं प्रत्यक्ष सामाजिक श्रम प्रक्रिया और मूल्य सृजन प्रक्रिया की अभिलाक्षणिकताओं के सन्दर्भ में निर्धारित की जा सकती हैं। यदि हम श्रम प्रक्रिया को विशिष्ट सामाजिक स्थितियों से अलग कर लें और उत्पादन के विभिन्न बुनियादी उपादानों द्वारा किये जाने वाले कार्यों के दृष्टिकोण से इसका परीक्षण करें, तो हम पायेंगे कि श्रम प्रक्रिया महज एक साधन है जिसके द्वारा श्रम शक्ति के स्वामी लोग इस कच्चे माल में समावेश करके वांछित उत्पादों का सृजन करते हैं— यह उपयोग मूल्य के सृजन के लिए एक उद्देश्यपूर्ण गतिविधि है, लोगों और प्रकृति के बीच भौतिक रूपान्तरण की प्रक्रिया है। लेकिन, सभी उत्पादन प्रक्रियाएं निश्चित सामाजिक स्थितियों के तहत चलती हैं। इसलिए, श्रम प्रक्रियाएं न केवल लोगों तथा प्रकृति के बीच बल्कि स्वयं लोगों के बीच के सम्बन्धों को भी परिलक्षित करती हैं। यदि हम इस दृष्टिकोण से श्रम प्रक्रिया का परीक्षण करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजवाद के तहत श्रम प्रक्रिया और पूंजीवाद के तहत श्रम प्रक्रिया में मूलभूत अन्तर है।

पूंजीवादी व्यवस्था के तहत श्रम प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें पूंजीपति श्रमशक्ति का उपभोग करता है। इसकी अभिलाक्षणिकताओं में प्रमुख यह तथ्य है कि मजदूर पूंजीपति की निगरानी में काम करते हैं और श्रम के उत्पादों पर पूंजीपति का हक होता है। कहने का मतलब कि पूंजीवादी व्यवस्था के तहत श्रम भाड़े का श्रम, दासतापूर्ण श्रम... कमरतोड़ श्रम होता है जो शोषितों द्वारा किया जाता है। समाजवादी व्यवस्था के तहत, पहली बार मेहनतकश लोग राज्य और उद्यम के स्वामी बन गये। परिणामस्वरूप, समाजवादी श्रम प्रक्रिया में ऐसी नई अभिलाक्षणिकताएं सामने आती हैं, जिनका इतिहास में कोई उदाहरण नहीं मिलता। लेनिन ने कहा है: ''हर वह कारखाना जहां से पूंजीपति को बाहर कर दिया गया है, या जहां कम से कम मजदूरों के वास्तविक नियंत्रण ने उस पर अंकुश लगा दिया है, हर वह गांव जहां से शोषक भूस्वामी को निकाल बाहर किया गया है और उसकी जमीन जब्त कर ली गई है, केवल अब जाकर एक ऐसा कार्यक्षेत्र बन गया है जिसमें मेहनतकश इंसान अपनी प्रतिभा को उजागर कर सकता है, अपनी पीठ थोड़ी सीधी कर सकता है, तनकर सीधा खड़ा हो सकता है और यह महसूस कर सकता है कि वह इंसान है। सदियों तक दूसरों के लिए काम करने के बाद, शोषक के लिए किये गये बलात् श्रम के बाद पहली बार *खुद अपने के लिए काम करना* और इससे भी बढ़कर, आधुनिक प्रौद्योगिकी एवं संस्कृति की सभी उपलब्धियों को अपने काम में लगा पाना सम्भव हो गया है।''[6] समाजवादी श्रम प्रक्रिया एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें मजदूर, किसान और अन्य मेहनतकश खुद मेहनतकश वर्ग के लिए भौतिक सम्पदा का निर्माण करते हैं। इसकी अभिलाक्षणिकताओं में प्रमुख यह है कि मेहनतकश लोग, खुद अपने स्वामी के रूप में, समाजवादी उत्पादन में संगठित और नियोजित श्रम में लगे होते हैं। श्रम के समस्त उत्पाद का वितरण खुद मेहनतकश वर्ग द्वारा किया जाता है। इसलिए, समाजवादी श्रम प्रक्रिया एक नियोजित श्रम प्रक्रिया है। इसमें शोषण नहीं है, यह मेहनतकश जनता की स्वैच्छिक और सचेत श्रम प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य सामाजिक सम्पदा का सृजन करना है। यह एक प्रत्यक्ष सामाजिक श्रम प्रक्रिया है।

लेकिन, समाजवादी समाज में वर्ग मौजूद होते हैं। मेहनतकश वर्ग के साथ-साथ इसमें शोषक वर्ग भी होते हैं। पहले के शोषकों को भी समाजवादी समाज में श्रम करना पड़ता है जिसमें उपभोग श्रम पर निर्भर करता है। भूस्वामियों, धनी किसानों और अन्य शत्रुतापूर्ण वर्गों के सदस्यों को मेहनतकश वर्गों की निगरानी में श्रम करने के लिए बाध्य किया जाता है। बुर्जुआ तत्वों को उद्यम में श्रम के जरिए खुद को सुधारने का अवसर दिया जाता है। इन दो शोषक वर्गों के साथ भिन्न-भिन्न तरीके से सलूक किया जाता है, क्योंकि मेहनतकश वर्गों के साथ उनके अन्तरविरोधों की प्रकृति भिन्न है। लेकिन शोषक वर्गों के सदस्य के रूप में, उनका श्रम अलग-अलग स्तर की बाध्यता के तहत ही होता है। स्वाभाविक रूप से श्रमिक द्वारा शोषक पर थोपी गई बाध्यता शोषक द्वारा श्रमिक पर थोपी गई बाध्यता से बुनियादी तौर पर अलग है। अतीत में, शोषक श्रमिक को श्रम करने के लिए बाध्य करता था ताकि उससे अतिरिक्त मूल्य निचोड़ा जा सके। अब श्रमिक शोषक को श्रम करने के लिए बाध्य करता है ताकि उसे एक नये इंसान के रूप में ढाला जा सके। इसलिए, समाजवादी श्रम प्रक्रिया शोषकों को सुधारने की भी प्रक्रिया है। यानी, समाजवादी श्रम प्रक्रिया में केवल लोगों और प्रकृति के बीच भौतिक रूपान्तरण ही नहीं होता बल्कि सामाजिक और वर्गीय रूपान्तरण भी शामिल होता है।

जहां तक मेहनतकश जनता का ताल्लुक है, समाजवादी श्रम प्रक्रिया अपने साथ पुराने समाज की परम्पराओं और प्रभावों को लिए होती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि पूंजीवादी समाज से विरासत में प्राप्त पुराना सामाजिक श्रम विभाजन समाजवाद की पूरी ऐतिहासिक अवधि के दौरान क्रमिक रूप से ही समाप्त किया जा सकता है। समाजवादी उत्पादन में मेहनतकश लोगों की स्थिति पुराने सामाजिक श्रम विभाजन द्वारा सीमित और प्रभावित होती है। कुछ लोग मुख्यत: मानसिक श्रम करते हैं, जबकि दूसरे मुख्यत: शारीरिक श्रम करते हैं; कुछ लोग उत्पादन में नेतृत्व तथा प्रबन्धन की स्थिति में होते हैं जबकि दूसरे प्रत्यक्ष उत्पादकों की स्थिति में होते हैं। मानसिक एवं शारीरिक श्रम के बीच शत्रुतापूर्ण विरोध पूंजीवादी समाज में असमानता के सबसे महत्वपूर्ण कारणों में से एक है। समाजवादी समाज ने इस शत्रुता पर

विजय पा ली है। लेकिन मानसिक एवं शारीरिक श्रम के बीच अब भी एक मूलभूत अन्तर मौजूद है, एक ऐसा अन्तर जो किन्हीं परिस्थितियों में शत्रुतापूर्ण विरोध भी बन सकता है। सोवियत संघ में, ब्रेझनेव के गद्दार गुट के शासन में नौकरशाह एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग का राज है। ''मुट्ठीभर दिमाग वाले लोगों'' का राज है जिसमें पार्टी नौकरशाह, बौद्धिक कुलीन और तकनीकी नौकरशाह शामिल हैं। इसलिए, वह प्रक्रिया जिसके द्वारा मेहनतकश लोग समाजवादी समाज में समाज और उत्पादन के स्वामी बन जाते हैं, संघर्ष की एक लम्बी प्रक्रिया है। यह बुर्जुआ वर्ग और पार्टी के भीतर उसके एजेण्टों के साथ संघर्ष की ही प्रक्रिया नहीं है, इस प्रक्रिया में मानसिक एवं शारीरिक श्रम के बीच बुनियादी अन्तरों को क्रमशः समाप्त करते जाने के लिए अनुकूल परिस्थितियां भी निर्मित की जाती हैं। समाजवाद के दौर में, हालांकि सभी मेहनतकश लोग शोषण से मुक्त हो चुके हैं, फिर भी सभी मेहनतकशों के लिए श्रम जीवन की सर्वोपरि आवश्यकता नहीं बना है। पुराने समाज की परम्पराएं और प्रभाव श्रम पर अपनी छाप छोड़ते रहते हैं और केवल कम्युनिज्म की सर्वाधिक उन्नत मंजिल में ही इनका पूर्णतः और हमेशा के लिए सफाया हो सकेगा।

समाजवादी श्रम प्रक्रिया की ये अभिलाक्षणिकताएं मूल्य सृजन की प्रक्रिया में भी परिलक्षित होती हैं।

प्रत्येक माल में श्रम की दोहरी प्रकृति समायी होती है : मूर्त श्रम उपयोग मूल्य का सृजन करता है जबकि अमूर्त श्रम मूल्य का सृजन करता है। मूल्य कुछ निश्चित सामाजिक सम्बन्धों को परिलक्षित करता है। भिन्न-भिन्न सामाजिक-आर्थिक स्थितियों में मूल्य द्वारा परिलक्षित सामाजिक सम्बन्ध भिन्न-भिन्न होते हैं और यही बात मूल्य के निर्माण पर भी लागू होती है।

साधारण माल अर्थव्यवस्था की परिस्थितियों में किसान या दस्तकार खुद अपने उत्पादन के साधनों का प्रयोग करके उत्पादन करते हैं। श्रम उत्पाद और उनके मूल्य पर स्वाभाविक रूप से उत्पादक का हक होता है। माल के बिक जाने के बाद उत्पादक को उत्पादन प्रक्रिया में खर्च हुआ उत्पादन के साधनों का मूल्य वापस मिल जाता है। लेकिन उत्पादक को अपने श्रम द्वारा सृजित नया मूल्य भी प्राप्त हो जाता है। यह नया मूल्य श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक आजीविका के साधनों के मूल्य की भरपाई करता है। इस तरह से, उत्पादन प्रक्रिया साधारण पुनरुत्पादन के स्तर पर जारी रह सकती है। मार्क्स ने साधारण माल उत्पादन के तहत मूल्य-निर्माण प्रक्रिया को साधारण मूल्य-निर्माण प्रक्रिया कहा है।

पूंजीवाद के तहत, पूंजीपति द्वारा शुरू किये गये माल उत्पादन का लक्ष्य मजदूर से अतिरिक्त मूल्य निचोड़ना होता है। मालों के उत्पादन और बिक्री के जरिए, उत्पादन प्रक्रिया में खर्च हुआ उत्पादन के साधनों का मूल्य पूंजीपति को वापस मिल जाता है। साथ ही, मजदूर के श्रम द्वारा सृजित नया श्रम न केवल पूंजीपति द्वारा श्रमशक्ति खरीदने के लिए लगाई गई परिवर्तनशील पूंजी की भरपाई कर देता है बल्कि आधिक्य पैदा कर देता है। यह अतिरिक्त मूल्य होता है जिसे पूंजीपति हड़प लेता है। मार्क्स ने पूंजीवादी उत्पादन में मूल्य-निर्माण प्रक्रिया को मूल्य-विस्तार प्रक्रिया कहा था। यह मूल्य-विस्तार प्रक्रिया पूंजी और भाड़े के श्रम के बीच के शोषणकारी सम्बन्धों को परिलक्षित करती है।

समाजवादी उत्पादन प्रक्रिया में मजदूर का श्रम, मूर्त श्रम के रूप में उत्पादन प्रक्रिया में खर्च हुए उत्पादन के साधनों के मूल्य की भरपाई करता है। अमूर्त श्रम के रूप में यह नया मूल्य सृजित करता है। क्या उत्पादक द्वारा सृजित इस नये मूल्य पर पूरी तरह उत्पादक का ही हक होना चाहिए? नहीं। समाजवादी विस्तारित पुनरुत्पादन जारी रखने के लिए और मेहनतकशों की विविध सामान्य जरूरतें पूरी करने के लिए समाज को विभिन्न सामाजिक कोष चलाने पड़ते हैं। ये सामाजिक कोष उत्पादक द्वारा सृजित नये मूल्य से ही बन सकते हैं। यदि नव सृजित मूल्य पूरा का पूरा प्रत्यक्ष उत्पादक के पास चला जायेगा तो समाजवादी अर्थव्यवस्था विस्तारित पुनरुत्पादन जारी नहीं रख पायेगी। यह केवल साधारण पुनरुत्पादन ही चला सकेगी। मजदूरों की आम जरूरतें तब पूरी नहीं हो पायेंगी। इसलिए, समाजवादी समाज में, उत्पादक द्वारा सृजित नये मूल्य को दो भागों में बांटना जरूरी होता है। एक भाग उत्पादक के पास रहता है। यह उत्पादक का निजी उपभोग कोष होता है और उत्पादक के जीवन की व्यक्तिगत आवश्यकताओं को पूरा करने में खर्च होता है। दूसरा भाग विभिन्न सामाजिक कोषों में जाता है। यह सकल सामाजिक आय समाज की सम्पत्ति होती है और इसका उपयोग समाजवादी उत्पादन को और विकसित करने तथा मेहनतकश जनसमुदाय की विभिन्न आम जरूरतों को पूरा करने में किया जाता है। वास्तव में, यह स्थिति दर्शाती है कि समाजवादी समाज में उत्पादक का श्रम भी दो भागों में बंटा होता है। एक भाग को वह श्रम कहा जा सकता है जो सामाजिक कोष का निर्माण करता है और दूसरे भाग को वह श्रम कहा जा सकता है जो उत्पादक के निजी उपभोग कोष का निर्माण करता है।

समाजवादी व्यवस्था में उत्पादक द्वारा सृजित मूल्य का पारिश्रमिक कोष और सामाजिक कोष के रूप में विभेदीकरण पूंजीवादी व्यवस्था में मजदूर द्वारा सृजित नये मूल्य के मजदूरी तथा अतिरिक्त मूल्य के रूप में विभेदीकरण से बुनियादी तौर पर अलग है। पूंजीवादी व्यवस्था में, श्रमशक्ति एक माल है और उस पर मूल्य का नियम लागू होता है। मजदूरी का मतलब है श्रमशक्ति का दाम। नया सृजित मूल्य चाहे जितना भी क्यों न हो, मजदूर को मिलने वाला हिस्सा उतना ही होगा जितना कि श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक उपभोग के साधनों के मूल्य के बराबर होगा। शेष, यानी अतिरिक्त मूल्य, न केवल पूंजीपति द्वारा हड़प लिया जाता है बल्कि इसका इस्तेमाल मजदूर के शोषण को और बढ़ाने के लिए किया जाता है। समाजवादी व्यवस्था में श्रमशक्ति माल नहीं रह जाती है। मजदूर का शोषण नहीं होता है। उत्पादक द्वारा सृजित समस्त मूल्य मेहनतकश वर्ग की सम्पत्ति होता है। उत्पादक के रूप में, मजदूर द्वारा सृजित नये मूल्य का एक हिस्सा अलग कर सामाजिक कोष में डाल दिया जाता है। मेहनतकश जनता के अंग के रूप में उत्पादक, सामाजिक कोष द्वारा सम्भव बनाये गये सामाजिक कल्याण का लाभ लेने का पूर्ण अधिकारी होता है। नव सृजित मूल्य का उत्पादक के लिए निजी उपभोग कोष और पूरे समाज के लिए सामाजिक कोष में बंटवारा समग्रता में मेहनतकश जनता के आम और व्यक्तिगत हितों तथा दीर्घकालिक और तात्कालिक हितों को ध्यान में रखकर किया जाता है।

परिणामस्वरूप, समाजवादी व्यवस्था में मूल्य-निर्माण प्रक्रिया न केवल साधारण माल उत्पादन में साधारण मूल्य-निर्माण प्रक्रिया से, बल्कि पूंजीवादी उत्पादन में मूल्य-विस्तार प्रक्रिया से भी भिन्न होती है। यह मूल्य निर्माण की एक विशिष्ट और अनूठी प्रक्रिया है जो समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों को प्रतिबिम्बित करती है। समाजवादी उत्पादन प्रक्रिया इस प्रत्यक्ष सामाजिक श्रम प्रक्रिया और मूल्य-निर्माण प्रक्रिया की एकता होती है।

समाजवाद का बुनियादी आर्थिक नियम समाजवादी उत्पादन के सर्वाधिक बुनियादी सम्बन्धों का मूर्त रूप होता है

समाजवादी उत्पादन का लक्ष्य राज्य और जनता की निरन्तर बढ़ती आवश्यकताओं को पूरा करना है

यदि समाजवादी उत्पादन प्रत्यक्ष सामाजिक श्रम प्रक्रिया और मूल्य-निर्माण प्रक्रिया की एकता है, तो फिर इस अन्तरविरोध का प्रधान पहलू क्या है?

सामाजिक उत्पादन में अन्तरविरोध का प्रधान पहलू इस सामाजिक उत्पादन के वस्तुगत लक्ष्य का मूर्त रूप होता है और इस सामाजिक उत्पादन के सर्वाधिक बुनियादी सम्बन्धों को प्रतिबिम्बित करता है। यह लोगों की इच्छा से स्वतंत्र होता है और अन्ततः इसका निर्धारण उत्पादन के साधनों के स्वामित्व की प्रकृति से होता है। सामाजिक उत्पादन को उस वर्ग के हितों

की सेवा करनी होती है जो उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है।

उत्पादन के साधनों के पूंजीवादी स्वामित्व की व्यवस्था के तहत, श्रम प्रक्रिया उपयोग मूल्यों का भी सृजन करती है। लेकिन यह पूंजीवादी उत्पादन का लक्ष्य नहीं है। पूंजीपति कारखाने इसलिए चलाता है ताकि मजदूरों का शोषण किया जा सके और मूल्य-विस्तार प्रक्रिया के द्वारा मुनाफा कमाया जा सके। मूल्य-विस्तार पूंजीवादी उत्पादन का प्रधान पहलू है। यह पूंजीवादी उत्पादन के सर्वाधिक बुनियादी सम्बन्धों का मूर्त रूप होता है। जैसा कि मार्क्स ने कहा है, ''पूंजी का लक्ष्य निश्चित जरूरतों को पूरा करना नहीं, बल्कि मुनाफा पैदा करना है।''[7] ''पूंजी और इसका स्वत: विस्तारण उत्पादन के प्रस्थान एवं समापन बिन्दु के रूप में, इसकी एकमात्र प्रेरणा और उद्देश्य के रूप में सामने आते हैं।''[8]

उत्पादन के साधनों के समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व की प्रणाली मेहनतकश जनता को उत्पादन का स्वामी बन जाने में सक्षम बनाती है। समाजवादी उत्पादन को समग्रता में मेहनतकश जनता की जरूरतें पूरी करनी चाहिए। इसलिए, समाजवादी उत्पादन का प्रधान पहलू एक ऐसी प्रत्यक्ष सामाजिक श्रम प्रक्रिया होती है जो मेहनतकश जनता की जरूरतें पूरी करने के लिए नियोजित ढंग से उपयोग मूल्यों का सृजन करती है। यह समाजवादी उत्पादन के वस्तुगत लक्ष्य और सर्वाधिक बुनियादी समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों का मूर्तरूप होता है। मूल्य-निर्माण प्रक्रिया प्रत्यक्ष सामाजिक श्रम प्रक्रिया के अधीन होती है जो उपयोग मूल्य सृजित करती है।

समाजवादी उत्पादन प्रक्रिया में श्रम-व्यय तथा नफा-नुकसान का आकलन करना बिलकुल जरूरी होता है। लेकिन क्या और कितना उत्पादन करना है, इसका निर्धारण उत्पाद मूल्य तथा मुनाफा के परिमाण से नहीं हो सकता। क्या और कितना उत्पादन करना है, इसका निर्धारण मेहनतकश जनता की आवश्यकताओं से होना चाहिए। जिस भी चीज की मेहनतकश जनता को तत्काल आवश्यकता है, उसे अधिकतम सम्भव प्रयास से ज्यादा मात्रा में उत्पादित किया जाना चाहिए, भले ही इसमें कुछ समय के लिए घाटा ही क्यों न हो। दूसरी ओर, कोई भी ऐसी चीज, जिसकी मेहनतकश जनता को तत्काल आवश्यकता नहीं है, उसका भारी मात्रा में अन्धाधुन्ध उत्पादन नहीं किया जा सकता, चाहे उसमें अच्छा मुनाफा ही क्यों न हो। समाजवादी उद्यम को श्रम-व्यय तथा नफा-नुकसान का आकलन केवल इसलिए नहीं करना चाहिए ताकि मूल्य (व्यय) की भरपाई के लिए उत्पादन लागतें घटाई जा सकें, बल्कि इसलिए भी करना चाहिए जिससे कि उत्पादन को तेज रफ्तार से विकसित करने और सामाजिक उत्पाद की आपूर्ति बढ़ाने के लिए एक उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सामाजिक कोष को चलाया जा सके। इस प्रकार, मूल्य-निर्माण प्रक्रिया को प्रत्यक्ष सामाजिक श्रम प्रक्रिया के अधीन करने का लक्ष्य उत्तरोत्तर बढ़ती मात्रा में सामाजिक सम्पदा का सृजन करना है जो समग्रता में मेहनतकश जनता की आवश्यकताओं को पूरा कर सके। अक्टूबर क्रान्ति की विजय के पूर्व, लेनिन ने कहा था कि समाजवादी समाज में, ''साझा श्रम द्वारा सृजित सम्पदा का लाभ मुट्ठीभर धनी लोगों को नहीं बल्कि सभी काम करने वालों को मिलेगा।''[9]

समाजवादी उत्पादन का लक्ष्य समग्रता में मेहनतकश जनता की आवश्यकताओं को पूरा करना है। लेकिन मेहनतकश जनता के दीर्घकालिक हित और उसके समग्र हित केवल सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राज्य व्यवस्था के जरिए परिलक्षित और अभिव्यक्त हो सकते हैं। इसलिए, समाजवादी उत्पादन का लक्ष्य समाजवादी राज्य तथा जनता की उत्तरोत्तर बढ़ती आवश्यकताओं को पूरा करना भी कहा जा सकता है। वे आवश्यकताएं बहुमुखी होती हैं। सर्वहारा वर्ग और मेहनतकश जनता की बौद्धिक एवं भौतिक स्थिति को तथा सही-गलत की पहचान की उनकी नैतिक क्षमता को विकसित करने के लिए उनके भौतिक एवं सांस्कृतिक जीवन के स्तर को निरन्तर उन्नत करने की आवश्यकता होती है। समाजवादी देश द्वारा सर्वहारा अधिनायकत्व को सुदृढ़ करने और राष्ट्रीय सुरक्षा को मजबूत बनाने की भी आवश्यकता होती है क्योंकि वर्ग, वर्ग अन्तरविरोध, वर्ग संघर्ष, पूंजीवादी पुनर्स्थापना का खतरा तथा साम्राज्यवाद और सामाजिक साम्राज्यवाद द्वारा षड्यन्त्र और आक्रमण का खतरा समाजवादी समाज में अब भी मौजूद रहता है। और चूंकि सर्वहारा समस्त मानवता को मुक्त करके ही स्वयं को अन्तिम रूप से मुक्त कर सकता है, इसलिए समाजवादी देश को अपने अन्तरराष्ट्रीयतावादी दायित्वों का निर्वाह करते हुए दुनिया की जनता के क्रान्तिकारी संघर्षों का समर्थन करना चाहिए। इसलिए, समाजवादी उत्पादन का लक्ष्य हुआ सर्वहारा एवं मेहनतकश जनता के भौतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का स्तर उन्नत करना, सर्वहारा अधिनायकत्व को सुदृढ़ करना, राष्ट्रीय सुरक्षा को मजबूत बनाना और दुनिया की जनता के क्रान्तिकारी संघर्षों का समर्थन करना। अन्तत:, समाजवादी उत्पादन का लक्ष्य वर्गों की समाप्ति तथा कम्युनिज्म की स्थापना होता है।

''युद्ध के विरुद्ध तैयार रहो, प्राकृतिक आपदाओं के विरुद्ध तैयार रहो और सबकुछ जनता के लिए करो।'' माओ त्से-तुङ द्वारा सूत्रबद्ध यह महान दूरगामी रणनीति समाजवादी उत्पादन के वस्तुगत लक्ष्य को पूरी तरह अभिव्यक्त करती है और चीन के समाजवादी उत्पादन तथा समग्र राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास की सही दिशा निर्दिष्ट करती है। अध्यक्ष माओ की सर्वहारा क्रान्तिकारी दिशा तथा उनकी सामान्य और विशिष्ट नीतियों के मार्गनिर्देशन में, चीन का समाजवादी उत्पादन ऊर्जस्वी ढंग से विकसित हो रहा है। जनता के भौतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का स्तर लगातार उन्नत हो रहा है। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व निरन्तर सुदृढ़ और मजबूत बनाया जा रहा है। अपनी क्षमता के अनुसार, चीन ने विश्व क्रान्ति के लक्ष्य में सहायता भी दी है।

सोवियत संघ में, गद्दार ब्रेझनेव गुट के शासन में सामाजिक उत्पादन अतिरिक्त मूल्य के नियम से नियंत्रित होता है। उत्पादन का लक्ष्य मुनाफा कमाना और यह सुनिश्चित करना है कि नौकरशाह-एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग सोवियत संघ के मेहनतकश लोगों से ज्यादा से ज्यादा अतिरिक्त मूल्य निचोड़ सके। एक ओर, सोवियत संशोधनवादी गद्दार गुट यह चीख-पुकार मचाता है कि ''किसी उद्यम की उत्पादक गतिविधि का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सूचक मुनाफा तथा मुनाफे की दर है।'' लेकिन दूसरी ओर, जनता को धोखा देने के लिए यह गुट अब भी छद्म समाजवाद के साइनबोर्ड से चिपका हुआ है और समाजवादी उत्पादन के लक्ष्य को विकृत करने की जी तोड़ कोशिशें कर रहा है। यह घोषणा करता है कि, ''सर्वोच्च लक्ष्य जनकल्याण का स्तर उन्नत करना है'' या कि, ''हरेक को पर्याप्त भोजन, वस्त्र, जूते, आवास और किताबें मिलेंगी। हम इसे ही कम्युनिज्म कहते हैं।'' यह गद्दार गुट बुर्जुआ कल्याणवाद की मीठी बातों से फुसलाना चाहता है ताकि लोग वर्ग संघर्ष और क्रान्ति को भूल जाएं और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना आसान हो जाये। सोवियत संघ में बढ़िया खाने, बढ़िया पहनने और बढ़िया मकानों में रहने का विशेषाधिकार केवल नौकरशाह-एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग और उनके साथ जुड़े संशोधनवादी बौद्धिक कुलीनों को मिला हुआ है। व्यापक मेहनतकश आबादी फिर से शोषण और बदहाली के खड्ड में गिर चुकी है।

क्रान्ति पर पकड़ रखो, उत्पादन को आगे बढ़ाओ

समाजवादी उत्पादन प्रक्रिया का प्रधान पक्ष—समाजवादी उत्पादन का निर्धारण करने वाली सर्वाधिक महत्वपूर्ण चीज—राज्य तथा जनता की उत्तरोत्तर बढ़ती आवश्यकताओं को पूरा करना है। इस लक्ष्य के लिए समाजवादी उत्पादन का इस ढंग से विकास किया जाना चाहिए जिससे सकल सामाजिक उत्पादन बढ़ सके। मार्क्स-एंगेल्स ने *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* में लिखा है कि बुर्जुआ शासन को उखाड़ फेंकने के बाद सर्वहारा वर्ग अपने राजनीतिक शासन का प्रयोग पूंजीपति वर्ग के हाथों से स्वामित्व छीन लेने के लिए करेगा। ''यह अपनी राजनीतिक वरीयता का प्रयोग पूंजीपति से क्रमश: समस्त पूंजी छीन लेने, उत्पादन के सभी साधनों को राज्य, अर्थात शासक वर्ग के रूप में संगठित सर्वहारा के हाथों में केन्द्रित कर देने और सकल उत्पादक शक्तियों को यथासम्भव तेजी के साथ विकसित करने के लिए

करेगा।''[10] जब चीन में नई जनवादी क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति में संक्रमण का वक्त आया, और जब पार्टी कार्य का जोर देहात से हटकर शहरी क्षेत्रों में आ गया, तो माओ त्से-तुङ ने भी उत्पादन के पुनरुद्धार और विकास पर ध्यान देने की शिक्षा दी। उन्होंने कहा, ''किसी भी शहर पर कब्जा करने के पहले ही दिन से, हमें इसके उत्पादन को फिर से शुरू करने और विकसित करने पर ध्यान देना चाहिए।''[11]

सामाजिक उत्पादन को विकसित करने तथा सकल सामाजिक उत्पाद को बढ़ाने के आम तौर पर दो तरीके हैं। एक तरीका यह है कि उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ उत्पादन में लगे श्रम बल को बढ़ाया जाये। यह, आम तौर पर सकल सामाजिक उत्पादन को बढ़ा तो देगा लेकिन यह प्रति व्यक्ति उत्पादन को नहीं बढ़ा सकता। दूसरा तरीका श्रम उत्पादकता बढ़ाने का है। यह न केवल सकल सामाजिक उत्पादन को बढ़ाता है, बल्कि प्रति व्यक्ति उत्पादन को भी बढ़ा देता है। दूरगामी परिप्रेक्ष्य में, समाजवादी उत्पादन को विकसित करने का प्रमुख रास्ता श्रम उत्पादकता को बढ़ाने का ही है। श्रम उत्पादकता बढ़ाने के महत्व की चर्चा करते हुए लेनिन ने कहा था, ''उत्पादन बढ़ाकर तथा श्रम उत्पादकता का स्तर उन्नत करके ही सोवियत रूस विजय पाने की स्थिति में पहुंच सकता है।''[12] उन्होंने यह भी कहा, ''श्रम की उत्पादकता नई सामाजिक व्यवस्था की विजय के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रधान विषय है।''[13]

समाजवादी उत्पादन को विकसित करने के लिए श्रम उत्पादकता कैसे बढ़ायी जा सकती है?

मार्क्सवाद का मानना है कि उत्पादक शक्तियां उत्पादन सम्बन्धों के दायरे में और उन्हीं से प्राप्त उत्प्रेरण से विकसित होती हैं। वर्ग समाज में उत्पादन हमेशा सुनिश्चित वर्ग सम्बन्धों के तहत होता है। हालांकि उत्पादन शक्तियों में परिवर्तनों और उन्नयन के साथ-साथ हमेशा ही सामाजिक उत्पादन में परिवर्तन और विकास होते हैं, लेकिन उत्पादक शक्तियों का व्यापक उन्नयन हमेशा ही उत्पादन सम्बन्धों में व्यापक रूपान्तरण के बाद ही होता है। पूंजीवादी विकास की आरम्भिक अवस्थाओं में, पूंजीवादी उत्पादन सम्बन्धों को समाज का प्रधान आर्थिक आधार बनाने के लिए बुर्जुआ क्रान्ति की आवश्यकता पड़ी। इसके बाद ही उत्पादक शक्तियों का व्यापक विकास सम्भव हो सका। समाजवादी समाज में, सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना, समाजवादी क्रान्ति के गहराई तक चलने और समाजवादी राष्ट्रीकरण तथा कृषि के सामूहिकीकरण के बाद, और इस तरह से समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों को समाज के एकमात्र आर्थिक आधार के रूप में स्थापित करने के बाद ही उत्पादक शक्तियों का व्यापक विकास हो सकता है। उत्पादन के साधनों के स्वामित्व की प्रणाली के समाजवादी रूपान्तरण के मूलत: पूरा हो जाने के बाद भी क्रान्ति अभी समाप्त नहीं होती। समाजवादी उत्पादन को लगातार और तेजी के साथ तभी विकसित किया जा सकता है जब समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाया जाये, उन्हें उत्पादक शक्तियों के विकास के ज्यादा से ज्यादा अनुकूल बनया जाये, और उत्पादन सम्बन्धों के उन हिस्सों को उपयुक्त समय पर समायोजित या रूपान्तरित करते रहा जाये जो उत्पादक शक्तियों के विकास को बाधित करते हैं।

विज्ञान एवं तकनोलाजी की प्रगति और उत्पादन उपकरणों के क्षेत्र में होने वाले नये आविष्कार उत्पादन के विकास तथा श्रम उत्पादकता बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। लेकिन ''निर्णायक उपादान जनता होती है, वस्तुएं नहीं।''[14] विज्ञान और तकनोलाजी की खोजें लोग करते हैं, और उत्पादन उपकरण भी लोग भी बनाते हैं। ''दुनिया की सभी चीजों में, सबसे कीमती शय है जनता। कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में, जबतक जनता है, तबतक कोई चमत्कार असम्भव नहीं है।''[15] चीन के साधारण जनों ने इस बात को अच्छे ढंग से अभिव्यक्त किया है : ''मशीनों की कमी से डरने की जरूरत नहीं है; डर हो तो सिर्फ हौसले की कमी का। सीने में धड़कता लाल दिल और दो हाथ हों, तो आत्मनिर्भरता के जरिए सबकुछ पैदा किया जा सकता है।''

व्यापक जनता की समाजवादी सक्रियता को पार्टी के राजनीतिक और विचारधारात्मक कार्य के द्वारा जगाया जाना चाहिए। राजनीतिक और विचारधारात्मक कार्य की कुंजीभूत कड़ी को पकड़कर—महत्वपूर्ण राष्ट्रीय मुद्दों पर बहस के लिए जनता को गोलबंद करने, संशोधनवाद, कनफ्यूशियस एवं मेंशियस के प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण तथा सभी शोषक वर्गों के विश्व दृष्टिकोणों की आलोचना एवं खण्डन करने, और सर्वाधिक बुनियादी तौर पर, वर्ग संघर्ष एवं दो लाइनों के संघर्ष के प्रश्न पर व्यापक जनता की चेतना को उन्नत करने के द्वारा —ही समाजवादी उत्पादन को निरन्तर तथा तेज गति से विकसित किया जा सकता है।

इसलिए समाजवादी समाज में, उत्पादन को विकसित करने और श्रम उत्पादकता को बढ़ाने का बुनियादी तरीका है, सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत क्रान्ति को जारी रखना। सर्वहारा द्वारा राजनीतिक सत्ता पर कब्जा किये जाने के बाद, समाजवादी अधिरचना का प्रयोग करते हुए, पार्टी की सही लाइन के मार्गनिर्देशन में और सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राज्य सत्ता की सहायता से, राजनीतिक-आर्थिक एवं विचारधारात्मक मोर्चों पर गहराई तक समाजवादी क्रान्ति को चलाकर ही बुर्जुआ वर्ग द्वारा खड़ी की गई बाधाओं और तोड़-फोड़ की कार्रवाइयों को, तथा समग्रता में, बुर्जुआ प्रभाव का सफाया किया जा सकता है। केवल तभी समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों को मजबूत और बेहतर बनाया जा सकता है और सभी सकारात्मक उपादानों को तेज गति से समाजवादी उत्पादन के विकास के लिए लगाया जा सकता है। माओ त्से-तुङ द्वारा सूत्रबद्ध ''क्रान्ति पर पकड़ रखो और उत्पादन को आगे बढ़ाओ'' की नीति समाजवादी समाज के मूलभूत अन्तरविरोधों की गति को नियंत्रित करने वाले वस्तुगत नियमों की आवश्यकताओं को ठीक-ठीक परिलक्षित करती है। यह नीति हमें सिखाती है कि समस्त आर्थिक कार्य सर्वहारा राजनीति की कमान में चलना चाहिए और उत्पादन को क्रान्ति द्वारा निर्देशित और प्रेरित होना चाहिए। केवल इसी रास्ते से यह गारण्टी की जा सकती है कि चीन का समाजवादी उत्पादन लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ सही दिशा में आगे बढ़ता रहे।

सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत सतत् क्रान्ति का विरोध करने के लिए आधुनिक संशोधनवादी हमेशा ही प्रतिक्रियावादी ''उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त'' का इस्तेमाल करते रहे हैं। ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ के गद्दार गुटों ने हमेशा ही उत्पादन के विकास के बहाने क्रान्ति को जारी रखने का विरोध किया। यहां तक कि उन्होंने उत्पादन के विकास का सारा श्रेय विज्ञान एवं तकनोलाजी के विकास को तथा उत्पादन उपकरणों के सुधार का श्रेय बुर्जुआ विशेषज्ञों पर निर्भरता को दिया। ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ के गुटों द्वारा लागू कराई जा रही संशोधनवादी लाइन को उखाड़ फेंका गया है लेकिन इस ''उत्पादक शक्तियों के सिद्धान्त'' के जहर का असर अब भी मौजूद है और इसकी बार-बार आलोचना तथा खण्डन किया जाना जरूरी है।

समाजवाद का बुनियादी आर्थिक नियम समाजवादी अर्थव्यवस्था के विकास के सभी प्रमुख पहलुओं का निर्धारण करता है

सामाजिक उत्पादन का वस्तुगत लक्ष्य और उसे प्राप्त करने के साधन सामाजिक उत्पादन के विकास की बुनियादी दिशा को अभिव्यक्त करते हैं और समाज के आर्थिक नियमों की आवश्यकताओं का मूर्त रूप होते हैं। अलग-अलग सामाजिक एवं आर्थिक प्रणालियों के उत्पादन के अलग-अलग लक्ष्य और उन्हें प्राप्त करने के अलग-अलग साधन होते हैं। समाजवादी उत्पादन का लक्ष्य राज्य तथा जनता की आवश्यकताओं को पूरा करना होता है। इस लक्ष्य को क्रान्ति के जरिए तकनोलाजी तथा उत्पादन के विकास को गति देकर प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार, संक्षेप में कहा जा सकता है कि समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम की प्रमुख अभिलाक्षणिकताएं और आवश्यकताएं इस प्रकार हैं : उत्पादन सम्बन्धों तथा अधिरचना को उचित अवसरों पर समायोजित

और रूपान्तरित करना; तकनोलाजी के स्तर को लगातार उन्नत करना; ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा किफायती परिणामों के साथ समाजवादी उत्पादन का विकास करना; राज्य तथा जनता की निरन्तर बढ़ती आवश्यकताओं को पूरा करना, और अन्ततः वर्गों की समाप्ति तथा कम्युनिज्म की स्थापना की भौतिक परिस्थितियां तैयार करना।

समाजवाद का बुनियादी आर्थिक नियम समाजवादी अर्थव्यवस्था के विकास के सभी प्रमुख पहलुओं और समाजवादी उत्पादन, विनिमय, वितरण और उपभोग की मूल अन्तर्वस्तु का निर्धारण करता है।

जहां तक उत्पादन का सम्बन्ध है, क्या और कितना उत्पादन करना है, और समाजवादी समाज में उत्पादन को कैसे व्यवस्थित किया जाये, इसे समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियमों की आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिए। योजनाएं बनाते समय समाजवादी देश इस नियम के अनुसार ही उत्पादन की विविधता, मात्रा और इसके क्रम विन्यास को निर्धारित करता है, ताकि समाजवादी उत्पादन का विकास सर्वहारा अधिनायकत्व को सुदृढ़ करने, राष्ट्रीय सुरक्षा को मजबूत बनाने, विश्व की जनता के क्रान्तिकारी संघर्षों का समर्थन करने और मेहनतकश जनता के भौतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का स्तर निरन्तर उन्नत करने के अनुकूल रहे।

समाजवादी विनिमय को भी समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम का पालन करना चाहिए। घरेलू उत्पादन एवं उपभोग तथा आयात-निर्यात के अनुपात, सैनिक तथा नागरिक उपयोग के अनुपात, ग्रामीण क्षेत्रों को आपूर्ति तथा शहरी क्षेत्रों को आपूर्ति के अनुपात और उत्पादों के दामों का निर्धारण करने में समाजवादी देश जिस चीज पर सबसे पहले ध्यान देता है, वह यह नहीं है कि कितना धन कमाया जा सकता है या कितना मुनाफा हो सकता है। सबसे पहले जिस चीज पर ध्यान दिया जाता है, वह यह है कि क्या यह प्रबन्ध मेहनतकश जनसमुदाय के भौतिक एवं सांस्कृतिक जीवन स्तर को ऊपर उठाने, मजदूर-किसान संश्रय को मजबूत करने, राष्ट्रीय सुरक्षा को मजबूत करने और दुनिया की जनता के क्रान्तिकारी संघर्षों का समर्थन करने के लक्ष्य के अनुकूल है या नहीं।

समाजवाद का बुनियादी आर्थिक नियम समाजवादी वितरण और उपभोग का भी निर्धारण करता है। राष्ट्रीय आय और निजी उपभोग की वस्तुओं के वितरण में समाजवादी राज्य को समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम का पालन करना चाहिए। उदाहरण के लिए संचय और उपभोग के बीच के तथा वेतन के स्तरों के अनुपात का निर्धारण करने में सर्वहारा वर्ग और मेहनतकश जनसमुदाय के दीर्घकालिक एवं तात्कालिक तथा सामूहिक एवं व्यक्तिगत, दोनों प्रकार के हितों का ध्यान रखा जाना चाहिए। साथ ही समाजवादी उपभोग को, चाहे वह सामूहिक उपभोग हो या व्यक्तिगत, सर्वहारा एवं मेहनतकश जनसमुदाय के भौतिक एवं सांस्कृतिक जीवन को बेहतर बनाने, जनता की सोच के क्रान्तिकारीकरण, व्यवहार के नये समाजवादी विचारधारात्मक मानकों को स्थापित करने, सर्वहारा अधिनायकत्व को सुदृढ़ करने तथा समाजवादी निर्माण के काम को गति देने में सहायक होना चाहिए।

संक्षेप में, समाजवाद का बुनियादी आर्थिक नियम समाजवादी उत्पादन, विनिमय, वितरण और उपभोग की सर्वाधिक मूलभूत कड़ियों को मूर्त करता है। यह समाजवादी अर्थव्यवस्था की मूल दिशा का निर्धारण करता है। समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम की सही समझदारी और इसका सही प्रयोग हमारी चेतना को उन्नत करेगा, अपने काम में स्वतःस्फूर्तता को कम करने में हमारी सहायता करेगा और सही समाजवादी दिशा में लम्बे डग भरते हुए आगे बढ़ने के लिए हमें सक्षम बनायेगा।

समाजवादी उत्पादन का तीव्र विकास वस्तुगत सम्भावना और मनोगत पहलकदमी की एकता का परिणाम होता है

समाजवादी व्यवस्था इतनी तेज गति से उत्पादन के विकास को सम्भव बनाती है जो पुराने समाज में असम्भव थी

समाजवादी उत्पादन का लक्ष्य राज्य एवं जनता की निरन्तर बढ़ती आवश्यकताओं को पूरा करना है। ये आवश्कताएं किस सीमा तक पूरी हो पाती हैं, यह इस पर निर्भर करता है कि उत्पादन किस गति से विकसित होता है। समाजवादी देश की राष्ट्रीय सुरक्षा का सुदृढ़ीकरण, समाजवादी समाज में सांस्कृतिक, शैक्षिक एवं स्वास्थ्य सुविधाओं तथा गतिविधियों का विकास, जनता के भौतिक एवं सांस्कृतिक जीवन की बेहतरी और विश्व क्रान्ति के लक्ष्य को समर्थन—इन सबकी भौतिक परिस्थितियां तैयार करने के लिए समाजवादी उत्पादन के तीव्र विकास की आवश्यकता होती है। माओ त्से-तुङ ने कहा है : ''जब हम यह कहते हैं कि समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध पुराने उत्पादन सम्बन्धों की तुलना में उत्पादक शक्तियों के विकास के लिए ज्यादा अनुकूल हैं, तो इसका अर्थ यह होता है कि वे उत्पादक शक्तियों को ऐसी तेज गति से विकसित होने का अवसर देते हैं, जो पुराने समाज में असम्भव थी, ताकि लोगों की लगातार बढ़ती आवश्यकताओं को कदम-ब-कदम पूरा करने के लिए उत्पादन को अनवरत विस्तारित करते रहे जा सके।''[16] इसलिए, समाजवादी उत्पादन का तीव्र विकास एक आशा मात्र नहीं है बल्कि यह समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों में अन्तर्निहित वस्तुगत सम्भावना पर आधारित है। यह समाजवादी व्यवस्था की श्रेष्ठता की एक अभिव्यक्ति है।

क्या समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध उत्पादन तथा समस्त राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के तीव्र विकास को प्रेरित कर सकते हैं?

सर्वप्रथम, समाजवादी व्यवस्था उत्पादन प्रक्रिया में मेहनतकश जनता की सक्रियता और सृजनात्मकता को उन्मुक्त करने की व्यापक सम्भावनाएं उपलब्ध कराती है। समाजवादी व्यवस्था में, सर्वहारा और मेहनतकश जनता अपनी श्रमशक्ति बेचने वाले उजरती गुलाम नहीं रह जाते। वे गुलामी और शोषण से मुक्त हो जाते हैं और नये समाज के स्वामी बन जाते हैं। वे अब किसी शोषक के लिए नहीं खटते बल्कि खुद अपने वर्ग के हितों के लिए काम करते हैं। श्रम करना एक गौरवशाली और महान पेशा बन जाता है। सामाजिक उत्पादन में मेहनतकश जनता की स्थिति में आया यह परिवर्तन उन्हें उत्पादन से वास्तविक सरोकार रखने और अपनी अपार प्रतिभाओं का इस्तेमाल करने का अवसर प्रदान करता है। श्रम करने की क्षमता से सम्पन्न लोग उत्पादन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपादान होते हैं। समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध तेज गति से उत्पादन के विकास को मुख्यतः इसीलिए बढ़ा सकते हैं क्योंकि मेहनतकश जनता की सक्रियता और सृजनात्मक प्रतिभा, जो पूंजीवादी व्यवस्था में दबी हुई थी, अब उन्मुक्त हो जाती है।

दूसरे, समाजवादी व्यवस्था जनशक्ति तथा भौतिक एवं वित्तीय संसाधनों की उस भयंकर बर्बादी को समाप्त कर देती है जो पूंजीवादी होड़ और अराजकता की स्थितियों में अपरिहार्य होती है। समाजवादी देश समग्र राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास को निर्देशित करने के लिए एक एकीकृत योजना बनाकर श्रम तथा भौतिक संसाधनों का पूर्ण और तर्कसंगत उपयोग कर सकता है। सुविधाओं तथा प्राकृतिक संसाधनों का नियोजित और तर्कसंगत ढंग से उपयोग किया जा सकता है और श्रमशक्ति को नियोजित और तर्कसंगत ढंग से प्रशिक्षित और आवंटित किया जा सकता है।

तीसरे, समाजवादी क्रान्ति मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को समाप्त कर यह सम्भव कर देती है कि शोषक वर्गों के मुट्ठीभर सदस्यों के परजीवितापूर्ण उपभोग में लगने वाली सम्पदा को मेहनतकश जनता का जीवनस्तर सुधारने तथा समाजवादी उत्पादन के विकास में लगाया जाये।

चौथे, समाजवादी व्यवस्था विज्ञान एवं तकनोलाजी के द्रुतगामी विकास का मार्ग प्रशस्त करती है। पूंजीवादी व्यवस्था में नई तकनोलाजी का प्रयोग केवल तभी किया जाता है जब यह पूंजीपति को ज्यादा मुनाफा दिला सकती है। अपनायी जा चुकी नई तकनोलाजी पर पूंजीपति ''व्यापारिक गोपनीयता'' के नाम पर एकाधिकार जमा लेता है। यह नई तकनोलाजी के विकास को

अपरिहार्यत: बाधित करता है। समाजवादी व्यवस्था में नई तकनोलाजी उत्पादन में श्रम-व्यय को कम करने, श्रम सघनता घटाने तथा काम की स्थितियों में सुधार के लिए अपनायी जाती है। इसलिए, विज्ञान एवं तकनोलाजी का विकास मेहनतकश जनता की सचेत मांग बन जाती है। इसके अलावा, किसी एक समाजवादी उद्यम में हुए तकनीकी आविष्कारों या सुधारों का उन्नत अनुभव पूरी मेहनतकश जनता की साझा सम्पत्ति बन जाती है। इसके समाहार तथा प्रचार-प्रसार के बाद इसे दूसरे उद्यमों द्वारा तेजी से अपनाया जा सकता है।

पांचवा, समाजवादी व्यवस्था उत्पादन क्षमता में बढ़ोत्तरी के साथ जनता की क्रयशक्ति में कमी के अन्तरविरोध को समाप्त कर देती है जो पूंजीवाद की खासियत है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि, समाजवादी उत्पादन के साथ-साथ सर्वहारा और मेहनतकश जनता के उपभोग का स्तर लगातार उठता जाता है जबकि राष्ट्रीय निर्माण का पैमाना लगातार विस्तारित होता जाता है। अति-उत्पादन के चलते होने वाले आर्थिक संकट कभी नहीं पैदा होते। यह उत्पादन के तीव्र विकास की राह की कृत्रिम बाधाओं को दूर कर देता है।

हालांकि समाजवादी व्यवस्था के भीतर उत्पादन के द्रुतगामी विकास की वस्तुगत सम्भावना मौजूद होती है, पर इसमें कुछ ऐसे कारक भी मौजूद होते हैं जो उत्पादन के तेज विकास को सीमित और बाधित करते हैं, जैसे, बुर्जुआ वर्ग और इसके एजेण्टों की षडयंत्रकारी गतिविधियां, अब भी जारी पेटी-बुर्जुआ प्रभाव से उत्पन्न होने वाली बाधाएं, प्राकृतिक आपदाओं से होने वाली तबाही, आदि। इन सामाजिक और प्राकृतिक कारकों के अलावा स्वयं सर्वहारा वर्ग से जुड़े मनोगत कारक भी होते हैं। समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी निर्माण के आगे बढ़ने की राह में सर्वहारा को निश्चित रूप से नई स्थितियों और नई समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। नई स्थितियों के वस्तुगत नियमों को समझने और नई समस्याओं को हल करने के सही तरीके ढूंढ़ने के लिए एक निश्चित अवधि की आवश्यकता होती है जिसमें अनुभव संचित किया जा सके। समाजवादी निर्माण के निर्बाध गति से बढ़ने की आशा नहीं की जानी चाहिए; यह केवल उतार-चढ़ाव से भरी लहरों जैसी गति से ही आगे बढ़ सकता है। तेज गति से समाजवादी निर्माण की वस्तुगत सम्भावना को वास्तविकता में बदलने के लिए, हमारे मनोगत प्रयासों की आवश्यकता होती है। यहां वस्तुगत नियम को ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित करने वाली मार्क्सवादी लाइन की निर्धारक भूमिका होती है। यदि लाइन सही है, तो सामाजिक उत्पादन के तेज विकास को प्रोत्साहित करने की समाजवादी व्यवस्था की क्षमता को व्यवहार में उतारा जा सकता है। यदि लाइन गलत है या गलत लाइन सही लाइन में हस्तक्षेप करती है तो समाजवादी निर्माण बाधित और सीमित होगा।

'आम दिशा' ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा किफायती परिणामों के साथ समाजवाद के निर्माण का दिशासूची यंत्र है

समाजवादी निर्माण के घरेलू और अन्तरराष्ट्रीय अनुभवों का समाहार करने के बाद, माओ त्से-तुङ ने 1958 में यह आम दिशा (जनरल लाइन) निर्धारित की : ''पूरी ताकत से जुट जाओ, लक्ष्य ऊंचा रखो और ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा किफायती परिणामों के साथ समाजवाद का निर्माण करो।'' यह एक मार्क्सवादी लाइन है जो समाजवादी व्यवस्था की श्रेष्ठता को पूरी तरह साकार करती है और जनता की वस्तुगत पहलकदमी को निर्बन्ध करती है।

समाजवादी निर्माण की आम दिशा का तकाजा है कि समाजवाद के निर्माण में ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा किफायती परिणामों की एकता हो। यहां ''ज्यादा बड़े'' से आशय उत्पादों की मात्रा से, ''ज्यादा तेज'' से आशय समय से, ''ज्यादा बेहतर'' से आशय गुणवत्ता से और ''ज्यादा किफायती'' से आशय श्रम-व्यय में कमी से है। ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा किफायती परिणाम आपस में एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं और एक-दूसरे को बल देते हैं। यदि हम बेहतर और ज्यादा किफायती परिणामों की कीमत पर ज्यादा बड़े और ज्यादा तेज परिणामों पर ही ध्यान देंगे, तो इसका नतीजा होगा खराब गुणवत्ता और ऊंची लागत। दूरगामी तौर पर और समग्रता में, इसका प्रभाव ज्यादा बड़े और ज्यादा तेज परिणामों के रूप में नहीं बल्कि वस्तुत: छोटे और धीमे परिणामों के रूप में सामने आयेगा। यदि हम ज्यादा बड़े और ज्यादा तेज परिणामों की कीमत पर बेहतर और ज्यादा किफायती परिणामों पर जोर देंगे तो, भले ही उच्च गुणवत्ता के उत्पाद तैयार होंगे, पर उनकी मात्रा पर्याप्त नहीं होगी। निर्माण की गति राज्य तथा जनता की आवश्यकताएं पूरी करने की दृष्टि से काफी धीमी हो जायेगी। यदि हम ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा किफायती परिणामों के साथ समाजवाद का निर्माण करेंगे, केवल तभी वास्तव में तेज विकास हो सकता है और राज्य तथा जनता की निरन्तर बढ़ती आवश्यकताओं को अधिकतम सम्भव सीमा तक पूरा किया जा सकता है। समाजवादी निर्माण की आम दिशा और माओ त्से-तुङ द्वारा सूत्रबद्ध ''दो पैरों पर चलने'' की नीतियों की एक पूरी श्रृंखला उद्योग और कृषि, भारी और हल्के उद्योग, बड़े पैमाने के, मध्यम दर्जे के और छोटे पैमाने के उद्योग, विदेशी और देशी उत्पादन पद्धतियों आदि को एक-दूसरे को प्रोत्साहन देने और एक-दूसरे के सम्पूरक के रूप में काम करने के लिए सक्षम बनाती है और इस तरह चीन की समाजवादी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न सेक्टरों के सन्तुलित विकास को सुनिश्चित करती है। यह आम दिशा समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम, समाजवादी उत्पादन के तीव्र विकास के नियम और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजित विकास के नियम की वस्तुगत आवश्यकताओं तथा पूरे देश की जनता की क्रान्तिकारी इच्छा दोनों को ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित करती है।

समाजवादी निर्माण में ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा किफायती परिणाम प्राप्त करने और छोटे, धीमे, निम्नतर और ज्यादा खर्चीले परिणामों से बचने का क्या रास्ता है? इसकी कुंजी समाजवाद के निर्माण में जनता को पूरी तरह गोलबन्द करने में निहित है। समाजवादी निर्माण की आम दिशा पार्टी नेतृत्व और व्यापक जनता के संयोग पर बल देती है; यह समाजवादी निर्माण के सम्बन्ध में पार्टी की जनदिशा में एक नया इजाफा है। मार्क्सवाद का मानना रहा है कि ''इतिहास अपने लक्ष्य-प्राप्ति की दिशा में मनुष्य की गतिविधि के सिवा *कुछ नहीं* है।''[17] माओ त्से-तुङ के शब्दों में, ''जनता, केवल जनता ही विश्व इतिहास की प्रेरक शक्ति है।''[18] एकाधिक बार माओ ने ध्यान दिलाया कि राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करने और समाजवाद का निर्माण करने में जनता पर भरोसा किया जाना चाहिए। कन्फ्यूशियस के योग्य शिष्यों, लिन प्याओ गुट, ने जनता का तरह-तरह से निरादर किया। उन्होंने डींग हांकते हुए कहा कि उनके ''दिमाग मामूली किसान या मामूली मजदूर जैसे नहीं हैं।'' उन्होंने इस कन्फ्यूशियसवादी बकवास को फैलाने की जीतोड़ कोशिश की कि ''केवल सबसे बुद्धिमान और सबसे अज्ञानी लोग ही बदले नहीं जा सकते।'' ऐसा करके उन्होंने जनता के कट्टर दुश्मनों के रूप में स्वयं को उजागर कर दिया। अनगिनत तथ्य यह जाहिर करते हैं कि सबसे निचले तबके के लोग सबसे बुद्धिमान और सबसे ऊंचे और प्रतिष्ठित लोग प्राय: सबसे अज्ञानी होते हैं। जनता पर पूरा भरोसा करके, जनता की सृजनशील भावना का सम्मान करके, सभी सकारात्मक कारकों को सक्रिय करके, एकजुट हो सकने वाले सभी लोगों को एकजुट करने, और जहां तक सम्भव हो सके, नकारात्मक कारकों को सकारात्मक में बदलकर ही राजनीतिक, आर्थिक विचारधारात्मक और सांस्कृतिक मोर्चों पर समाजवादी क्रान्ति विजयपूर्वक चलाई जा सकती है और समाजवादी उत्पादन एवं वैज्ञानिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक उद्यमों को ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा किफायती परिणामों के साथ विकसित किया जा सकता है।

''पूरी ताकत लगाओ और लक्ष्य ऊंचा रखो'' का आशय जनता की मानसिक-वैचारिक स्थिति तथा उनकी वस्तुगत पहलकदमी से है। इस प्रकार, आम दिशा सर्वहारा राजनीति को कमान में रखने को प्रमुखता देती है और समाजवादी निर्माण में जनता के क्रान्तिकारी उत्साह तथा सृजनशीलता पर

बल देती है। समाजवादी निर्माण में पार्टी का कार्यभार है राजनीतिक-विचारधारात्मक काम की कुंजीभूत कड़ी को पकड़ना, जनता की समाजवादी चेतना का स्तर ऊंचा उठाना, पार्टी की मार्क्सवादी लाइन तथा आम एवं विशिष्ट नीतियों को पूरी तरह समझने में जनता की मदद करना और समाजवादी निर्माण के महान लक्ष्य के लिए व्यापक जनसमुदाय को गोलबन्द और संगठित करना। माओ त्से-तुङ बताते हैं : ''सामाजिक सम्पदा का निर्माण मजदूर, किसान और शिक्षित लोगों द्वारा किया जाता है। जब तक ये लोग खुद अपने भाग्य विधाता हैं, उनके पास मार्क्सवादी-लेनिनवादी लाइन है और समस्याओं से बचने के बजाय उन्हें सकारात्मक दृष्टिकोण के साथ हल करते हैं, तब तक मानव समाज की कोई भी परेशानी हल की जा सकती है।''[19] जब एक बार व्यापक क्रान्तिकारी जनता पार्टी की मार्क्सवादी लाइन पर महारत हासिल कर लेगी तो उसका अपार क्रान्तिकारी जोश जागृत होगा और यह मानव समाज में चमत्कारों की रचना के लिए एक शक्तिशाली भौतिक बल बन जायेगा। चीन की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में ''महान अग्रवर्ती छलांग'' इसी के चलते सम्भव हो सकी।

स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता के जरिए राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में एक महान अग्रवर्ती छलांग को अंजाम दो

''अपनी पूरी ताकत लगाओ, लक्ष्य ऊंचे रखो और ज्यादा बड़े, ज्यादा तेज, ज्यादा बेहतर और ज्यादा किफायती परिणामों के साथ समाजवाद का निर्माण करो''—इस आम दिशा के मार्गनिर्देशन में चीन का मजदूर वर्ग और आम जनता उत्साह से भरपूर और संघर्ष के लिए तैयार है। साहस के साथ सोचने, बोलने और काम करने की उनकी क्रान्तिकारी भावना हिलोरें मार रही है। समाजवादी अनुकरण, तथा उन्नत क्षेत्रों से तुलना करने, उनसे सीखने और बराबरी करने और पिछड़े क्षेत्रों की मदद करने के अभियान और उन्नत धरातलों पर चल रहे हैं। पार्टी की मार्क्सवादी लाइन का सही नेतृत्व चीन की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को स्वतंत्रता एवं आत्मनिर्भरता के साथ ऊर्जस्वी ढंग से विकसित होने के योग्य बना रहा है। एक महान अग्रवर्ती छलांग जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई है।

साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और नौकरशाह पूंजीवाद के उत्पीड़न और दासता के अधीन पुराने चीन की व्यापक मेहनतकश आबादी बेहद मुश्किलों और तकलीफों भरी जिन्दगी बिताती थी। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का विकास ठप था। लम्बे समय तक, रोजमर्रा के इस्तेमाल के अनेक औद्योगिक उत्पाद विदेशों से आयात करने पड़ते थे। माचिस, मशीन-निर्मित कपड़े, कीलें, छाते, तेल आदि विदेशों से आते थे। विदेशी माल घरेलू बाजार पर छाये हुए थे और चीन के घरेलू उद्योगों के उत्पाद प्रतियोगिता से बाहर धकेल दिये गये थे। पुराने चीन ने यही विरासत छोड़ी थी।

मुक्ति के बाद से कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चीनी मजदूर वर्ग और तमाम मेहनतकश लोग उठ खड़े हुए हैं और पुराने, पिछड़े हुए चीन को बदलकर एक नये समृद्ध और शक्तिशाली समाजवादी चीन का निर्माण करने के लिए कटिबद्ध हैं। उत्पादन के साधनों के स्वामित्व की प्रणाली में समाजवादी क्रान्ति के बुनियादी तौर पर पूरा हो जाने और समाजवादी निर्माण के लिए पार्टी की आम दिशा की उद्घोषणा से समाजवादी निर्माण के विकास को त्वरण मिला है। ''महान अग्रवर्ती छलांग'' के राष्ट्रव्यापी उभार के दिनों में अध्यक्ष माओ ने कहा था : ''हम तमाम देशों के तकनीकी विकास के पुराने रास्तों का अनुसरण करते हुए दूसरों के पीछे एक-एक कदम घिसटते हुए नहीं चल सकते। हमें परम्पराओं को तोड़ना होगा, उन्नत तकनीकों को अपनाने का हर सम्भव उपाय करना होगा और ज्यादा लम्बा समय गंवाये बिना चीन को एक आधुनिक शक्तिशाली समाजवादी राज्य बनाना होगा। जब हम ''महान अग्रवर्ती छलांग'' की बात करते हैं तो हमारा यही मतलब होता है।''[20]

माओ त्से-तुङ द्वारा सूत्रबद्ध मार्क्सवादी लाइन और स्वतंत्रता एवं आत्मनिर्भरता के आधार पर राष्ट्रीय निर्माण की नीति के मार्गनिर्देशन में पूरे देश के लोगों ने अपनी स्वतंत्र, एकीकृत औद्योगिक प्रणाली विकसित की है। हल्का उद्योग सेक्टर न केवल विविध उत्पाद और कल-पुर्जे तैयार कर रहा है, बल्कि इतनी मात्रा में पैदा कर रहा है कि चीन आत्मनिर्भरता बरकरार रखते हुए निर्यात भी कर सकता है। वह पुराने दिन चले गये जब सड़कें आयातित सामानों से भरी रहती थीं। चीन के अपने मशीन-निर्माण उद्योग, धातुकर्म उद्योग, रासायनिक उद्योग, वैज्ञानिक उपकरण एवं मानकयंत्र उद्योग तथा इलेक्ट्रानिक्स उद्योग तेजी से स्थापित हुए और उन्होंने काफी तेज रफ्तार से तरक्की की है। समाजवादी उद्योग की विकास प्रक्रिया में, पुराने चीन में मौजूद उस असमानता को दूर कर दिया गया है जब सारे उद्योग तटीय प्रान्तों में संकेन्द्रित थे। चीन के भीतरी इलाकों में नये औद्योगिक क्षेत्र विकसित किये गये हैं जिससे क्षेत्रीय असमानता दूर होगी और चीन के आर्थिक निर्माण और राष्ट्रीय सुरक्षा को मजबूत बनाने की आवश्यकता पूरी होगी। तीन महान क्रान्तिकारी आन्दोलनों (वर्ग संघर्ष, उत्पादन के लिए संघर्ष और वैज्ञानिक प्रयोग) के दौरान नई वैज्ञानिक और तकनीकी जनशक्ति का तेजी से विस्तार हुआ है और विज्ञान एवं तकनोलाजी का स्तर लगातार ऊंचा उठ रहा है। अत्यन्त दक्षता की मांग वाले सूक्ष्म उपकरणों तथा बड़ी परियोजनाओं को अब बिना किसी बाहरी मदद के, चीन में ही बनाया जा रहा है। इस आधार पर चीन ने सफलतापूर्वक परमाणु और हाइड्रोजन बम परीक्षण किये हैं और मानवनिर्मित उपग्रह छोड़े हैं। चीन ने दुनिया में पहली बार प्रयोगशाला में इनसुलिन बनाने में सफलता पाई, और इस तरह, जीवन के आरम्भ के अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान किया। 'डबल इंटरनल वाटर-कूलिंग टर्बोजेनरेटर' सफलतापूर्वक बनाने वाला चीन विश्व का पहला देश था। माओ त्से-तुङ विचारधारा के मार्गनिर्देशन में चीनी जनता ने विज्ञान और तकनोलाजी के मार्गावरोधों को एक के बाद एक तोड़ डाला है और लम्बे-लम्बे डग भरते हुए नये कीर्तिमान बनाये हैं। उद्योग, विज्ञान एवं तकनोलाजी में ऊंची छलांग के साथ चीन का कृषि यंत्रीकरण भी तेजी से आगे बढ़ रहा है। चीन के सिंचाई तथा जल नियंत्रण सम्बन्धी निर्माण में भी महत्वपूर्ण उपलब्धियां हासिल हुई हैं और कुल सिंचित भूमि में भारी वृद्धि हुई है। भूमि, जल व बीज, उर्वरक, निकट-रोपण, पौध-रक्षण और खेत-प्रबन्धन के ''आठ चित्राक्षरों वाले चार्टर'' के व्यापक अमल के शानदार परिणाम मिले हैं।

चीन के समाजवादी निर्माण के दौरान ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ गुटों की संशोधनवादी लाइन के हस्तक्षेप तथा तोड़फोड़ के कारण कुछ समय के लिए कुछ सेक्टरों में एक ''ठहराव'' सा आया था। यह समाजवादी निर्माण की प्रक्रिया में दो वर्गों के बीच तथा दो लाइनों के बीच संघर्ष की अभिव्यक्ति थी। यह प्रगति और अधोगति के बीच संघर्ष है। लोक गणराज्य की स्थापना के समय से जारी पूरी प्रक्रिया और पूरी स्थिति के दृष्टिकोण से देखें तो चीन की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था छलांगें मारते हुए आगे बढ़ रही है। 1949 से 1973 तक देश की कुल कृषि उपज 1.8 गुना, हल्का औद्योगिक उत्पादन 12.8 गुना और भारी औद्योगिक उत्पादन 59 गुना बढ़ चुका है। औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन के विकास के साथ-साथ संचार और परिवहन, वाणिज्य, वित्त एवं बैंकिंग, शिक्षा एवं संस्कृति के क्षेत्रों में भी तेजी से उन्नति हुई है। लोगों के भौतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का स्तर काफी ऊपर उठा है। इन निर्विवाद तथ्यों से कोई इंकार नहीं कर सकता। लिन प्याओ गुट ने आम लाइन की रोशनी में चीनी जनता द्वारा हासिल शानदार उपलब्धियों को नकारने के असफल प्रयास में यह कुत्सा प्रचार किया कि ''राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था ठहरावग्रस्त है।'' इसने साम्राज्यवाद, संशोधनवाद और प्रतिक्रिया की शक्तियों के एजेण्ट के रूप में उनकी स्थिति को, समाजवाद के लिए उनकी नफरत को और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने की उनकी अंधी महत्वाकांक्षा को और उजागर कर दिया।

समाजवाद की पूरी ऐतिहासिक अवधि के लिए पार्टी की बुनियादी लाइन और समाजवादी निर्माण के लिए आम लाइन की दीप्ति हमारी राह को रोशन कर रही है। महान समाजवादी मातृभूमि समृद्ध हो रही है और प्रगति कर रही है। जब हम भविष्य की ओर देखते हैं तो हम खुद को आत्मविश्वास से पूर्ण और ऊर्जस्वी पाते हैं। जो पश्चिमी बुर्जुआ वर्ग नहीं कर पाया, उस

पूरब के सर्वहारा को हासिल करना है, और वह कर सकता है।

अध्ययन के लिए प्रमुख सन्दर्भ

लेनिन, ''एक बार फिर ट्रेड यूनियनों, वर्तमान स्थिति और त्रात्स्की एवं बुखारिन की गलतियों के बारे में,'' **सम्पूर्ण रचनाएं**, खण्ड 31

स्तालिन, **समाजवाद की आर्थिक समस्याएं**

माओ, ''हमें आर्थिक कार्य करना सीखना होगा,'' **संकलित रचनाएं**, भाग 3

समीक्षात्मक प्रश्न

1. ऐसा क्यों कहते हैं कि समाजवादी उत्पादों और समाजवादी उत्पादन प्रक्रिया में अब भी द्वैधता बनी रहती है?

2. समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम की प्रमुख अभिलाक्षणिकताएं और आवश्यकताएं क्या हैं? ऐसा क्यों कहते हैं कि समाजवादी उत्पादन के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए राजनीति और उत्पादन और राजनीति और अर्थशास्त्र के सम्बन्धों को सही ढंग से हल करना जरूरी है?

3. समाजवादी निर्माण के लिए पार्टी की आम दिशा को हम व्यवहार में कैसे लागू करते हैं?

टिप्पणियां

1. एंगेल्स, **ड्यूहरिंग मत खण्डन**, पृ. 401-402. **2.** उपरोक्त, पृ. 401. **3.** लेनिन, ''लेबर नेशनल डिफेन्स कमेटी द्वारा विभिन्न क्षेत्रों के सोवियत निकायों को निर्देश (प्रारूप)'', **सम्पूर्ण रचनाएं**, खण्ड 32, पृ. 374

4. मार्क्स, **पूंजी**, खण्ड एक, पृष्ठ 9. **5.** ''जनकम्यून से सम्बन्धित अनेक मुद्दों पर प्रस्ताव'', चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की आठवीं केन्द्रीय कमेटी द्वारा 10 दिसम्बर 1958 को छठे प्लेनम में पारित। कुछ भिन्न अनुवाद के साथ यह पाठ *कम्युनिस्ट चाइना 1955-59 पालिसी डाक्यूमेंटरी विद एनालिसिस* (कैम्ब्रिज, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1962, पृ. 497) में मिल सकता है।

6. लेनिन, ''प्रतियोगिता संगठित करने के बारे में'' **सम्पूर्ण रचनाएं**, खण्ड 26. **7.** मार्क्स, **पूंजी** खण्ड तीन, पृ. 256, अंग्रेजी संस्करण

8. उपरोक्त, पृ. 2500 **9.** लेनिन, ''मई दिवस'', **सम्पूर्ण रचनाएं**, खण्ड 7, पृ. 199, अंग्रेजी संस्करण। **10.** मार्क्स-एंगेल्स, **कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र**, पृ. 590 **11.** माओ, ''चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की सातवीं केंद्रीय कमेटी के दूसरे प्लेनम में [illegible]'', **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं**, भाग [illegible] **12.** लेनिन, ''सोवियत की आठवीं अखिल रूसी कांग्रेस'', **सम्पूर्ण रचनाएं**, खण्ड 31. **13.** लेनिन, ''महान शुरुआत'', **सम्पूर्ण रचनाएं**, खण्ड 29. **14.** माओ, ''दीर्घकालिक युद्ध के बारे में'', **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं**, भाग 2

15. माओ, ''इतिहास का आदर्शवादी अवधारणा का दिवालियापन'', **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं**, भाग 4. **16.** माओ, ''असंतुलन को ठीक करने के बारे में'', **सेलेक्टेड रीडिंग्स**, पृ. 337. **17.** माओ, ''**पवित्र परिवार**'' की सारवस्तु, 1975, पृ. 10. **18.** माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं, भाग 3. **19.** माओ, **चीन के ग्रामीण क्षेत्रों में समाजवादी उभार**, माओ त्से-तुङ की रचनाएं का उद्धरण। **20.** [illegible] करके मिलाए, अपनी उत्पादन [illegible] दूसरों के [illegible] पूर्ति, [illegible] **चेयरमैन माओ टॉक्स टु पीपुल**, पृ. 130

अध्याय 16

समाजवादी अर्थव्यवस्था नियोजित अर्थव्यवस्था होती है

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का नियोजित और समानुपातिक विकास

सामाजिक उत्पादन के किसी भी रूप को सामाजिक श्रम के विनियमन और वितरण, यानी जनशक्ति (जीवित श्रम) और भौतिक शक्ति (मूर्त श्रम) दोनों के उत्पादन के विभिन्न सेक्टरों एवं शाखाओं के बीच आवंटन की समस्या को हल करना पड़ता है। सामाजिक श्रम और उत्पादन का विनियमन कुछ नियमों के तहत होता है। यदि ज्यादा बड़े, ज्यादा बेहतर, ज्यादा तेज और ज्यादा किफायती परिणामों के साथ समाजवादी उत्पादन का विकास करना है तो समाजवादी उत्पादन का विनियमन करने वाले आर्थिक नियमों को पूंजीवादी उत्पादन के आर्थिक नियमों से अलग करके उनकी ठीक-ठीक पहचान करना और सही ढंग से उनको लागू करना बहुत महत्वपूर्ण है।

नियोजित विकास का नियम* समाजवादी उत्पादन को विनियमित करता है

नियोजित विकास का नियम प्रतिस्पर्द्धा के नियम और उत्पादन की अराजकता के ठीक विपरीत है

किसी भी बड़े पैमाने के सामाजिक उत्पादन में उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के बीच परस्पर निर्भरता के घनिष्ठ सम्बन्ध होते हैं। उदाहरण के लिए, कपड़ा उद्योग को कपास की आपूर्ति के लिए कृषि और कताई-बुनाई की मशीनों के लिए मशीन-निर्माण उद्योग की आवश्यकता होती है; मशीन-निर्माण उद्योग को इस्पात की आपूर्ति के लिए लोहा एवं इस्पात उद्योग की आवश्यकता होती है; और लोहा-इस्पात उद्योग को कच्चे कोयले के लिए कोयला उद्योग को ढलाई, गलाई, रोलिंग आदि के उपकरणों के लिए मशीन-निर्माण उद्योग की आवश्यकता होती है। इन सभी तकनीकि और व्यवसिक उद्योगों को कृषि के विकास के लिए कृषि की आवश्यकताओं को पूरा करने की जरूरत होती है। उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के बीच आवश्यक आनुपातिक सम्बन्ध उत्पादन के परिवहन के साधनों के विकास की आवश्यकता पड़ती है। उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के बीच आवश्यक आनुपातिक सम्बन्ध उत्पादन के परिवहन के साधनों के विकास की आवश्यकता पड़ती है।

* उस समय के अन्य चीनी लेखों व टिप्पणियों में कई जगह इस नियम की 'नियोजित एवं समानुपातिक विकास का नियम' के रूप में चर्चा की गई है।

पूंजीवादी समाज में सामाजिक उत्पादन अत्यन्त विकसित रूप में होता है। लेकिन पूंजीवाद की स्थितियों में, पूरे समाज में नियोजित ढंग से सामाजिक श्रम का आवंटन करना असम्भव होता है। पूंजीवादी उत्पादन का लक्ष्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं बल्कि मुनाफा कमाने के लिए मूल्य का विस्तार करना होता है। ज्यादा मुनाफा कमाने के लिए पूंजीपतियों के बीच जीवन-मरण के संघर्ष छिड़ जाते हैं। गंदगी के पीछे भागती मक्खियों की तरह पूंजीपति बाजार दामों की स्वत:स्फूर्त गतियों के अनुसार अपनी पूंजी इधर-उधर खिसकाता रहता है। कभी वह एक सेक्टर में माल उत्पादन का विस्तार करता है तो कभी उसे रोककर दूसरे सेक्टर में पूंजी लगाता है। इन स्थितियों में उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के बीच आवश्यक आनुपातिक सम्बन्ध कायम नहीं रह पाते। उत्पादन क्षमताओं के नाश के जरिए होने वाले स्वत:स्फूर्त समायोजनों के बाद ही ये आनुपातिक सम्बन्ध अस्थायी रूप से बहाल हो पाते हैं। लेनिन का यह कथन इस स्थिति का सटीक वर्णन है कि, ''पूंजीवाद में एक *स्थायी रूप से गड़बड़ाये हुए* अनुपात को कायम रखने के लिए *संकट जरूरी है।*''[1]

पूंजीवाद को हटाकर समाजवाद के आने के साथ ही आर्थिक स्थितियां मूलभूत रूप से बदल जाती हैं। समाजवादी उत्पादन, उत्पादन के साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व की प्रणाली पर आधारित होता है और इसका लक्ष्य समाजवादी राज्य तथा समग्र जनता की आवश्यकताओं को पूरा करना होता है। एक ओर, समाजवादी व्यवस्था में सामाजिक उत्पादन का और विकास होता है। सामाजिक श्रम का उचित अनुपातों में आवंटन और उत्पादन की विभिन्न

शाखाओं के बीच उचित सन्तुलन बनाये रखना और भी अधिक आवश्यक होता है। दूसरी ओर, उत्पादन के साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व की प्रणाली मेहनतकश जनता को उत्पादन के स्वामियों में बदल देती है। उनके बुनियादी हित एकसमान होते हैं। यह विभिन्न शाखाओं और उद्यमों के बीच हितों के टकराव को समाप्त कर देता है, जो कि पूंजीवाद में अन्तर्निहित होता है। इस प्रकार, सर्वहारा वर्ग और समस्त मेहनतकश जनता के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाला समाजवादी राज्य राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न सेक्टरों के बीच श्रमशक्ति और उत्पादन के साधनों का आवंटन राज्य तथा जनता की जरूरतों के अनुसार बनी एक एकीकृत योजना के तहत कर सकता है। यह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न सेक्टरों को सन्तुलित और समानुपातिक ढंग से विकास करने का मौका देता है। समाजवादी उत्पादन की यही आधारभूत आर्थिक स्थितियां इस ऐतिहासिक अवस्था से प्रतिस्पर्द्धा के नियम और उत्पादन की अराजकता को खत्म कर देती हैं। ये स्थितियां एक नये आर्थिक नियम, यानी, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजित विकास के नियम को जन्म देती हैं, जो सामाजिक उत्पादन और समस्त राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विनियमित करता है। पूंजीवाद को हटाकर समाजवाद की स्थापना के परिणामस्वरूप होने वाले इन अपरिहार्य परिवर्तनों को एंगेल्स ने वैज्ञानिक दृष्टि से पहले ही देख लिया था। उन्होंने कहा था, ''उत्पादन के साधनों पर समाज का कब्जा माल उत्पादन को, और इसी के साथ उत्पादक पर उत्पाद के प्रभुत्व को समाप्त कर देता है। सामाजिक उत्पादन में व्याप्त अराजकता का स्थान सचेतन रूप से नियोजित संगठन ले लेता है।''[2]

नियोजित अर्थव्यवस्था समाजवादी व्यवस्था की श्रेष्ठता को प्रदर्शित करती है

प्रतिस्पर्द्धा तथा उत्पादन की अराजकता के स्थान पर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजित विकास का आना पूंजीवाद के मुकाबले समाजवाद की श्रेष्ठता का एक महत्वपूर्ण पहलू है।

समाजवादी नियोजित अर्थव्यवस्था जनता द्वारा सचेतन रूप से खुद अपना इतिहास बनाने की शुरुआत होती है। पूंजीवादी समाज में, प्रतिस्पर्द्धा और उत्पादन की अराजकता की स्थितियों में, चीजें लोगों पर शासन करती हैं न कि लोग चीजों पर। मजदूर खुद अपनी तकदीर को नियंत्रित नहीं कर सकते, न ही पूंजीपति खुद को उन वस्तुगत आर्थिक नियमों की अंधी गति से मुक्त करा पाते हैं, जो लोगों की पीठ पीछे अपना काम करते रहते हैं। समाजवादी समाज में, उत्पादन के साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व की प्रणाली मूर्त रूप ग्रहण कर लेती है; मेहनतकश लोग समाज के नये स्वामी बन जाते हैं। वे खुद अपनी तकदीर अपने हाथों में ले लेते हैं और वस्तुगत नियम का सचेतन प्रयोग करते हुए खुद अपने इतिहास का निर्माण करते हैं। यह सचेतन गतिविधि, यह सचेतन इतिहास निर्माण, व्यवहार में, वस्तुगत नियमों की कदम-ब-कदम पहचान, प्रकृति और समाज को बदलने के लिए वस्तुगत नियमों पर आधारित योजनाओं के निर्माण और संगठित गतिविधि के द्वारा अपेक्षित परिणाम हासिल करने में प्रकट होता है। माओ त्से-तुङ ने पार्टी के नेतृत्व में दुनिया को बदलने की चीन की मेहनतकश जनता की सचेतन गतिविधि की सराहना करते हुए कहा था : ''मानव विकास सैकड़ों-हजारों साल से जारी है। लेकिन चीन में, इसकी अर्थव्यवस्था और संस्कृति के योजनाबद्ध विकास की स्थितियां बस अभी निर्मित हुई हैं। इन स्थितियों में चीन का चेहरा साल-दर-साल बदलता जायेगा। हर पांच साल बाद और व्यापक बदलाव होगा। कई पंचवर्षीय अवधियों के बाद और भी भारी बदलाव हो चुका होगा।''[3]

समाजवादी नियोजित अर्थव्यवस्था प्रतिस्पर्द्धा और अराजक उत्पादन वाली पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से कहीं अधिक श्रेष्ठ होती है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि इसमें इस बात की गारंटी होगी कि उत्पादन के विभिन्न सेक्टरों के बीच आनुपातिक सम्बन्ध हर समय पूर्ण सन्तुलन की स्थिति में बने रहेंगे। दुनिया में कोई भी ऐसी चीज नहीं जो पूर्णत: सन्तुलित ढंग से विकसित हो सके। संतुलन अस्थायी और सापेक्षिक होता है जबकि असन्तुलन स्थायी और निरपेक्ष होता है। समाजवादी अर्थव्यवस्था की विकास प्रक्रिया में, बुर्जुआ और संशोधनवादी लाइनों द्वारा बाधाएं और रुकावटें खड़ी करने के कारण, विभिन्न उद्यमों, विभिन्न सेक्टरों और विभिन्न क्षेत्रों के बीच उन्नत और पिछड़े के अंतर जैसी लगातार बदलती परिस्थितियों के कारण, प्राकृतिक दशाओं में बदलाव के कारण और वस्तुगत चीजों की लोगों की समझ की सीमा के कारण अब भी नियमित रूप से ऐसी स्थितियां उत्पन्न होती रहेंगी जब सन्तुलन और आनुपातिक सम्बन्ध बिगड़ जायेंगे। लेकिन समाजवादी समाज में, उत्पादन के विभिन्न सेक्टरों में इस तरह के असन्तुलन को जनता की सचेतन गतिविधियों के जरिए और समाजवादी राजकीय योजना द्वारा विनियमन के जरिए लगातार दूर करते रहा जा सकता है। पूंजीवादी प्रतिस्पर्द्धा और उत्पादन की अराजकता की स्थितियों में जिस तरह से अंधेरे में तीर छोड़े जाते हैं, उसकी तुलना में, असन्तुलन को लगातार दूर करते जाने, और योजनाओं द्वारा सापेक्षिक सन्तुलन कायम करते जाने से मानव और भौतिक संसाधनों तथा धन की उस भारी बर्बादी से बचा जा सकता है जो पूंजीवादी समाज की अभिलाक्षणिकता होती है। और इस तरह, सामाजिक श्रम का ज्यादा तर्कपरक एवं ज्यादा पूर्ण उपयोग कर पाना और समाजवादी उत्पादन के तीव्र विकास को सुनिश्चित कर पाना सम्भव हो जाता है।

माओ त्से-तुङ के शब्दों में, ''उत्पादन और सामाजिक आवश्यकताओं के बीच के अन्तरविरोध, जो लम्बे समय तक एक वस्तुगत सच्चाई बना रहेगा, को हल करने के लिए राजकीय नियोजन के जरिए समायोजन की एक निरन्तर जारी प्रक्रिया की आवश्यकता है। हर साल हमारा देश एक आर्थिक योजना तैयार करता है जिससे कि संचय और उपभोग के बीच एक सही अनुपात कायम किया जा सके और उत्पादन तथा आवश्यकताओं के बीच सन्तुलन हासिल किया जा सके। सन्तुलन विपरीतों की एक अस्थायी व सापेक्षिक एकता के सिवा और कुछ नहीं है। साल के अन्त तक, समग्रता में, यह सन्तुलन विपरीतों के बीच संघर्ष के कारण बिगड़ जाता है। विपरीतों की एकता में बदलाव आ जाता है, सन्तुलन असन्तुलन बन जाता है, एकता अनैक्य बन जाती है, और एक बार फिर यह आवश्यक हो जाता है कि अगले साल के लिए सन्तुलन और एकता कायम करने की योजना बनाई जाये।''[4] समाजवादी अर्थव्यवस्था के नियोजित विकास को पूर्णत: सन्तुलित विकास और अन्तरविरोधों से मुक्त मानने वाले दृष्टिकोण अधिभूतवादी हैं। सही तरीका यह होगा कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में असन्तुलनों के वैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा उनकी भिन्न-भिन्न स्थितियों का पता लगाया जाये और उचित निदान प्रस्तुत किया जाये। असन्तुलन उत्पन्न हो जाने पर, इसका समाधान रचनात्मक दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए।

सीधे-सपाट जड़ तरीके से, सन्तुलन लाने के लिए उच्च स्तर वाले को नीचे घसीटकर निचले के बराबर नहीं किया जा सकता। इसके बजाय, धीरे-धीरे, पिछड़े सेक्टरों को ऊपर खींचना चाहिए ताकि नई आवश्यकताओं और सम्भावनाओं के अनुरूप एक नया सन्तुलन कायम हो सके। इस प्रकार, समाजवादी अर्थव्यवस्था की विकास प्रक्रिया में, सन्तुलन से असन्तुलन और असन्तुलन से सन्तुलन के बीच यह परिवर्तन पुराने आनुपातिक सम्बन्धों का टूटना और विकास के एक उच्चतर स्तर पर नये आनुपातिक सम्बन्धों की स्थापना को प्रकट करता है। यह समाजवादी अर्थव्यवस्था की श्रेष्ठता की एक ठोस अभिव्यक्ति है।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में आनुपातिक सम्बन्धों को सही ढंग से हल किया जाना चाहिए

समाजवादी अर्थव्यवस्था में यह आवश्यक होता है कि जनता राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न, परस्पर निर्भर सेक्टरों को योजनाओं के जरिए विनियमित करे जिससे कि समानुपातिक विकास सुनिश्चित किया जा सके। तब राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न सेक्टरों के बीच वस्तुगत आनुपातिक सम्बन्ध क्या हैं?

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में आनुपातिक सम्बन्ध असंख्य और जटिल होते हैं। प्रमुख आनुपातिक सम्बन्ध इस प्रकार हैं :

पहला, कृषि और उद्योग के बीच का अनुपात। कृषि और उद्योग उत्पादन के दो बुनियादी, परस्पर निर्भर सेक्टर हैं। औद्योगिक सेक्टर के मजदूरों-कर्मचारियों को अपने भोजन आदि की आपूर्ति के लिए कृषि की जरूरत होती है। हल्के उद्योग को कच्चे मालों की आपूर्ति के लिए कृषि की जरूरत होती है। हल्के और भारी, दोनों तरह के उद्योगों को अपने उत्पादों के एक महत्वपूर्ण बाजार के रूप में कृषि सेक्टर की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर, ग्रामीण जनता को रोजमर्रा इस्तेमाल की चीजों की आपूर्ति के लिए उद्योगों की आवश्यकता पड़ती है। कृषि उत्पादन को रासायनिक खादों, कीटनाशकों, कृषि उपकरणों, बिजली और उत्पादन के अन्य साधनों के लिए उद्योग की जरूरत पड़ती है। कृषि सेक्टर को भी अपने उत्पादों के बाजार के रूप में उद्योगों तथा शहरी आबादी की जरूरत होती है। चूंकि कृषि एवं उद्योग के बीच ऐसे परस्पर निर्भर सम्बन्ध होते हैं, और चूंकि कृषि एवं उद्योग के बीच सम्बन्ध, सारत: मजदूर और किसान के बीच तथा समूची जनता के समाजवादी स्वामित्व एवं समाजवादी सामूहिक स्वामित्व के बीच सम्बन्ध होते हैं, इसलिए राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजित विकास में एक कुंजीभूत प्रश्न उद्योग एवं कृषि के बीच उचित अनुपात बनाये रखना है, ताकि समाजवादी अर्थव्यवस्था की विकास प्रक्रिया में वे एक-दूसरे को समर्थन दे सकें। (इस प्रश्न पर अगले अध्याय में थोड़ा विस्तार से चर्चा करेंगे।)

दूसरा, कृषि के भीतर के अनुपात। इनमें खेती, पशुपालन, वानिकी, बागवानी, मछलीपालन आदि तथा खेती में खाद्यान्न, कपास, तिलहन, पटसन, चाय, गन्ना, सब्जियों, जड़ी-बूटियों व अन्य खाद्य पदार्थों का अनुपात शामिल हैं समग्र कृषि उत्पादन में खाद्यान्नों का उत्पादन सबसे महत्वपूर्ण है। माओ की शिक्षा है, ''हर कहीं खाद्यान्नों का भण्डारण करो।'' हाथ में अनाज हो, तो घबराने की कोई बात नहीं। अगर अनाज का उत्पादन अच्छा नहीं है तो इससे न केवल स्वयं कृषि का विकास प्रभावित होता है, बल्कि यह उद्योग और पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास को भी प्रभावित करेगा। चूंकि अनाज का उत्पादन इतना महत्वपूर्ण है, इसलिए कृषि के भीतर के आनुपातिक सम्बन्धों को चलाने में खाद्यान्नों को मुख्य कड़ी माने जाने पर जोर होना चाहिए। नकदी फसलों, बागवानी, पशुपालन, वानिकी, मछलीपालन आदि का विकास खाद्यान्नों की मुख्य कड़ी से अलग नहीं हो सकता। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि कृषि उत्पादन के अन्य मदों के विकास की उपेक्षा की जा सकती है। वानिकी को ही लें। यह न केवल समाज को अनेक उत्पादों की आपूर्ति करती है बल्कि मिट्टी और पानी के संरक्षण में भी अहम भूमिका निभाती है। ''पर्वतों पर पेड़ नहीं होंगे तो मिट्टी और पानी को बचाया नहीं जा सकेगा। पर्वतों पर खूब सारे पेड़ होना उतना ही जरूरी है जितना कि बांध बनाना।'' इस प्रकार कृषि उत्पादन में वानिकी का महत्व स्पष्ट है। पशुपालन, मछलीपालन और नकदी फसलों के विकास की भी अनदेखी नहीं की जा सकती है। इनका विकास राष्ट्रीय निर्माण और लोगों के जीवन स्तर में उन्नति के लिए जरूरी है। ये गतिविधियां कोष संचय करने तथा प्राकृतिक उर्वरकों में वृद्धि के जरिए खाद्यान्न उत्पादन को भी और बढ़ाने में मददगार होती हैं। माओ द्वारा सूत्रबद्ध ''अनाज को मुख्य कड़ी बनाने और सर्वतोमुखी विकास सुनिश्चित करने'' की नीति कृषि के भीतर आनुपातिक सम्बन्धों को सही ढंग से चलाने की दिशा इंगित करती है। खाद्यान्न उत्पादन को मुख्य कड़ी मानते हुए इस नीति का तकाजा होता है कि विभिन्न क्षेत्रों की भिन्न-भिन्न विशेषताओं को ध्यान में रखा जाये और कृषि, वानिकी, पशुपालन, सह-उत्पादन, बागवानी, मछलीपालन आदि तथा अनाज, कपास, तिलहन, पटसन, रेशम, चाय, गन्ना आदि के उत्पादन को इस प्रकार नियोजित किया जाये कि वे एक-दूसरे को सहारा दे सकें और समग्रता में विकास कर सकें।

तीसरा, उद्योग के भीतर के अनुपात। इनमें हल्के और भारी उद्योग के बीच, कच्चा माल उद्योग और प्रसंस्करण उद्योग के बीच, राष्ट्रीय प्रतिरक्षा उद्योग तथा आधारभूत उद्योग के बीच के अनुपात तो होते ही हैं, विभिन्न उद्योगों के भीतर बड़ी मशीनों एवं छोटी मशीनों के बीच तथा पूरी मशीनों एवं कल-पुर्जों के बीच के अनुपात भी शामिल हैं। उद्योग के भीतर के आनुपातिक सम्बन्ध कृषि के भीतर के आनुपातिक सम्बन्धों से भी ज्यादा जटिल हैं। लेकिन इन जटिल सम्बन्धों में भी एक मुख्य कड़ी है। यह मुख्य कड़ी है इस्पात। इस्पात से मशीनें बनती हैं, और मशीनों से विभिन्न उद्योग विकसित किये जा सकते हैं। उद्योग में इस्पात की यह महत्वपूर्ण भूमिका उद्योग के भीतर के आनुपातिक सम्बन्धों के एक प्रमुख पक्ष को प्रतिबिम्बित करती है और यह दिखाता है कि उद्योग के विभिन्न सेक्टरों का विकास लोहा-इस्पात उद्योग पर आधारित होना चाहिए। इसके अलावा, अन्य आनुपातिक सम्बन्धों को भी सही ढंग से चलाया जाना चाहिए। भारी और हल्के उद्योग के बीच सम्बन्ध में, भारी उद्योग के विकास को प्राथमिकता देते हुए हल्के उद्योग की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। कच्चा माल उद्योग और प्रसंस्करण उद्योग के बीच सम्बन्ध में, अन्तरविरोध का प्रधान पक्ष कच्चा माल उद्योग है। कच्चा माल उद्योग, खासकर खनिज उद्योग को विकसित करने के लिए स्वतंत्रता एवं आत्मनिर्भरता के साथ समाजवादी निर्माण को आगे बढ़ाना और कच्चा माल उद्योग तथा प्रसंस्करण उद्योग के बीच सन्तुलन बनाये रखना बहुत महत्वपूर्ण है। राष्ट्रीय प्रतिरक्षा उद्योग और आधारभूत उद्योग के सम्बन्ध में आधारभूत उद्योगों के विकास को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। धातुकर्म, रसायन, मशीन-निर्माण, इलेक्ट्रानिक्स और मापकयंत्र उद्योग जैसे आधारभूत उद्योगों के विकास के बिना राष्ट्रीय प्रतिरक्षा उद्योग बहुत आगे नहीं जा सकता। राष्ट्रीय प्रतिरक्षा उद्योग के विकास को आधारभूत उद्योग के विकास के साथ निकटता से जोड़कर और प्रतिरक्षा उद्योग एवं आधारभूत उद्योग के बीच सापेक्षिक सन्तुलन कायम करके ही प्रतिरक्षा उद्योग तथा समग्रता में औद्योगिक सेक्टर को तेजी से विकसित किया जा सकता है। उद्योग के भीतर बड़ी और छोटी मशीनों के बीच तथा पूरी मशीनों और कल-पुर्जों के बीच के सम्बन्धों में यह ध्यान रखने योग्य है कि छोटी मशीनों द्वारा किये जाने वाले कामों के बिना बड़ी मशीनें चल ही नहीं सकतीं। इसी तरह अगर पूरी मशीनें हैं पर उनके कल-पुर्जे नहीं हैं तो कुछ समय के बाद, पुराने कल-पुर्जों के घिसने-टूटने के साथ ही उत्पादन रुक जायेगा। इसलिए उचित अनुपात बनाये रखने के लिए, छोटी मशीनों की कीमत पर बड़ी मशीनों पर जोर देने तथा कल-पुर्जों की कीमत पर पूरी मशीनों पर जोर देने की गलत प्रवृत्ति को पराजित करना होगा; ''सहयोगी भूमिका नहीं, बल्कि केवल मुख्य भूमिका निभाने की चाह'' की गलत प्रवृत्ति को पराजित करना होगा।

उद्योग के भीतर के, कृषि के भीतर के तथा उद्योग एवं कृषि के बीच के आनुपातिक सम्बन्ध समग्र राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण आनुपातिक सम्बन्ध हैं। ऐसा इसलिए है, क्योंकि उत्पादन, विनिमय, वितरण और उपभोग की आर्थिक कड़ियों में उत्पादन ही निर्णायक कड़ी है। और कृषि एवं उद्योग उत्पादन के बुनियादी सेक्टर भी हैं। कृषि एवं हल्के उद्योग मूलत: उपभोग के साधन पैदा करते है। और भारी उद्योग मूलत: उत्पादन के साधनों का उत्पादन करते हैं। इन तीन आनुपातिक सम्बन्धों को सही ढंग से हल करने के साथ ही सामाजिक उत्पादन के दो विभागों (उत्पादन के साधनों के उद्योग और उपभोग के साधनों के उद्योग) के बीच आनुपातिक सम्बन्ध बुनियादी तौर पर व्यवस्थित हो जाते हैं।

चौथा, औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन तथा संचार एवं परिवहन उद्योग के बीच के अनुपात। मार्क्स ने खनिज उद्योग, कृषि एवं मैन्युफैक्चरिंग के बाद भौतिक उत्पादन के चौथे क्षेत्र के रूप में परिवहन उद्योग को वर्गीकृत किया था। बड़े पैमाने के सामाजिक उत्पादन में आवश्यक होता है कि विभिन्न सेक्टरों और उद्यमों को कच्चे मालों, प्रसंस्कृत सामग्रियों तथा ईंधन की आपूर्ति जल्दी-जल्दी होती रहे और वे उपभोग के स्थानों तक अपने उत्पादों को जल्दी-जल्दी भेजते रहें। नियोजित उत्पादन के लिए नियोजित परिवहन की आवश्यकता होती है जो उसके साथ चुस्त तालमेल के साथ काम करे। संचार और परिवहन के क्षेत्र भी साथ-साथ विकसित न हों तो कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन में काफी बाधाएं आयेंगी।

पांचवा, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक निर्माण तथा आर्थिक निर्माण के बीच के अनुपात। शैक्षिक एवं सांस्कृतिक निर्माण आर्थिक निर्माण के लक्ष्य की सेवा करता है। आर्थिक निर्माण भी शैक्षिक एवं सांस्कृतिक उपक्रमों के विकास को प्रोत्साहित अथवा सीमित करता है। आधुनिक कृषि, उद्योग एवं राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के साथ एक समाजवादी देश के निर्माण के लिए आधुनिक विज्ञान एवं संस्कृति का विकास अनिवार्य है। आर्थिक निर्माण के विकास के लिए यह आवश्यक है कि इसी के अनुरूप शैक्षिक एवं सांस्कृतिक निर्माण का भी विकास हो ताकि समाजवादी चेतना से लैस शिक्षित श्रमिकों की तैयारी अनवरत जारी रहे।

छठा, उत्पादन-वृद्धि एवं शैक्षिक-सांस्कृतिक उपक्रमों के विकास तथा जनसंख्या वृद्धि के बीच के अनुपात। भौतिक उत्पादन तथा शिक्षा-संस्कृति के नियोजित विकास के लिए नियोजित जनसंख्या वृद्धि यानी परिवार नियोजन एक वस्तुगत आवश्यकता होती है। परिवार नियोजन श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन की एक बुनियादी पूर्वशर्त ही नहीं है, यह लोगों की आजीविका की नियोजित व्यवस्था करने, मां व बच्चे के स्वास्थ्य की सुरक्षा तथा समाजवादी निर्माण के नियोजित विकास की भी एक आवश्यक पूर्वशर्त है। अंधाधुंध जनसंख्या वृद्धि निश्चित रूप से, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजित एवं समानुपातिक विकास के रास्ते में अड़ेगी।

पूंजीवादी समाज में जनसंख्या वृद्धि भी वस्तुओं के उत्पादन जितनी ही अराजक होती है; ऐसे में पूरे समाज पर परिवार नियोजन लागू करने की बात सोची भी नहीं जा सकती। जब सर्वहारा और मेहनतकश जनता समाज के स्वामी होते हैं, केवल तभी यह सम्भव हो पाता है कि जनसंख्या वृद्धि और माल उत्पादन—दोनों को नियोजित ढंग से विनियमित किया जा सके। परिवार नियोजन सर्वहारा द्वारा अपनी तकदीर अपने हाथों में लेने का परिणाम है और समाजवादी व्यवस्था की श्रेष्ठता की एक और अभिव्यक्ति है।

सातवां, संचय और उपभोग के आनुपातिक सम्बन्ध। चूंकि समाजवादी उत्पादों में, भिन्न-भिन्न स्तर की माल की अभिलाक्षणिकताएं निहित होती हैं, इसलिए उपरोक्त के अलावा, जोकि मुख्यत: भौतिक आनुपातिक सम्बन्ध हैं, संचय एवं उपभोग के बीच, मूल्य पर आधारित, आनुपातिक सम्बन्ध भी होता है। यदि इस आनुपातिक सम्बन्ध को सही ढंग से हल नहीं किया गया, तो समग्र राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का विकास बाधित होगा। (इस समस्या पर अध्याय 20 में विस्तृत चर्चा की गई है।)

अन्त में, विभिन्न क्षेत्रों के बीच के आनुपातिक सम्बन्ध, यानी उत्पादन क्षमताओं का तर्कपरक वितरण। समाजवादी समाज पूंजीवादी समाज के भीतर से विकसित होता है, और पूंजीवादी समाज में प्रतिस्पर्द्धा एवं अराजक स्थितियों के फ्रेमवर्क में उत्पादन क्षमताओं का जो वितरण होता है, उसमें अनेक अतर्कपरक कारक मौजूद होते हैं। मुक्ति के बाद चीन के शुरुआती दिनों का उदाहरण लीजिए। चीन के तटीय क्षेत्रों के सात प्रान्त और दो म्युनिसिपल क्षेत्र राष्ट्रीय औद्योगिक उत्पादन के कुल मूल्य के सत्तर प्रतिशत से अधिक का उत्पादन करते थे। लोहा-इस्पात की उत्पादन क्षमता का अस्सी प्रतिशत तटीय क्षेत्रों में था। भीतरी मंगोलिया उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम में कोई लोहा-इस्पात उद्योग नहीं था जबकि वहां खनिज सम्पदा भरपूर थी। कपड़ा उद्योग में 80 प्रतिशत तकलियां और 90 प्रतिशत बुनाई मशीनें तटीय क्षेत्रों में थीं। कपास उत्पादन करने वाले क्षेत्रों और भीतरी भागों में बहुत कम कपड़ा फैक्टरियां थीं। इसलिए राजनीतिक सत्ता पर कब्जा करने के बाद सर्वहारा वर्ग के सामने उत्पादन क्षमताओं को भौगोलिक रूप से फिर से आवंटित करने का कार्यभार था। उत्पादन क्षमताओं का तर्कपरक भौगोलिक वितरण ऐसा होना चाहिए जो : सर्वहारा अधिनायकत्व को सुदृढ़ करने तथा साम्राज्यवाद के सम्भावित हमले और अन्य खतरों के विरुद्ध राष्ट्रीय प्रतिरक्षा को सुदृढ़ और मजबूत बनाने के अनुकूल हो; शहर और देहात के बीच अन्तरों को कम करने के अनुकूल हो; विभिन्न राष्ट्रीयताओं की मेहनतकश जनता के बीच एकता को मजबूत बनाने के अनुकूल हो; विभिन्न संसाधनों के अधिकतम तर्कपरक ढंग से इस्तेमाल के अनुकूल हो और ज्यादा बड़े, ज्यादा बेहतर, ज्यादा तेज और ज्यादा किफायती परिणामों के साथ समाजवाद के निर्माण के अनुकूल हो। उत्पादन क्षमताओं के तर्कपरक वितरण में कुंजीभूत मुद्दा है, ''उद्योगों को देशभर में इस तरह छितराना जो खुद उनके विकास और उत्पादन के अन्य तत्वों के विकास के सर्वाधिक अनुकूल हो।''[5] लोक गणराज्य की स्थापना के बीस वर्ष से अधिक के समय में तटीय उद्योगों और भीतरी उद्योगों के सम्बन्धों को सही ढंग से हल करने के बारे में अध्यक्ष माओ की नीति के मार्गनिर्देशन में, चीन के भीतरी भागों में उद्योग तेजी से विकसित हुए हैं। नवस्थापित औद्योगिक आधारक्षेत्र अब आकार ग्रहण करने लगे हैं। तटीय प्रान्तों और म्युनिसिपल क्षेत्रों के पुराने औद्योगिक क्षेत्रों का भी पूरा-पूरा इस्तेमाल हुआ है और तर्कपरक ढंग से उन्हें विकसित किया गया है।

मूल्य का नियम अब भी समाजवादी उत्पादन को प्रभावित करता है

नियोजन का स्थान पहले है, दामों का बाद में

समाजवादी उत्पादन एक हद तक, प्रत्यक्ष सामाजिक उत्पादन और माल उत्पादन दोनों ही है। माल उत्पादन चलने के अपने नियम हैं : ''जहां भी माल और माल उत्पादन मौजूद होंगे, वहां मूल्य का नियम भी अवश्य मौजूद रहेगा।''[6] इस तरह, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजित विकास का नियम और मूल्य का नियम, दोनों ही समाजवादी उत्पादन को प्रभावित करते हैं।

मूल्य के नियम का सारांश इस प्रकार है :

1. मालों का मूल्य उनके उत्पादन में लगे सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल से निर्धारित होता है;
2. माल विनिमय समतुल्य मूल्यों के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए।

मूल्य का नियम बुर्जुआ अधिकार को ही मूर्त करता है, जिसका बुनियादी सारतत्व समाजवादी समाज में भी पुराने समाज से ज्यादा भिन्न नहीं होता। लेकिन अलग-अलग सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओं में मूल्य का नियम अलग-अलग रूप ग्रहण करता है और उत्पादन पर अलग-अलग प्रभाव डालता है।

पूंजीवादी व्यवस्था में सामाजिक उत्पादन होड़ और अराजकता की स्थितियों में चलता है। मालों के दाम मांग और आपूर्ति के सम्बन्धों में बदलाव के साथ घटते-बढ़ते रहते हैं। कभी यह उत्पादन दाम से ज्यादा हो जाते हैं तो कभी कम। जब दाम उत्पादन दाम से ज्यादा हो जाते हैं तो औसत मुनाफे से ज्यादा मुनाफा होता है। जब पूंजीपति को ज्यादा मुनाफे का यह अवसर दिखाई देता है तो वह इन ज्यादा मुनाफे वाले सेक्टरों में पूंजी झोंक देता है। इसके विपरीत स्थिति होने पर, पूंजी निकाली जाने लगती है। इन्हीं अन्धी परिस्थितियों में सामाजिक उत्पादन विकसित होता है। ये स्थितियां दिखाती हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था में मूल्य का नियम लोगों की पीठ पीछे काम करने वाली एक बाहरी शक्ति के रूप में प्रकट होता है और सामाजिक उत्पादन को समग्रता में नियंत्रित करता है।

समाजवादी व्यवस्था में, सामाजिक उत्पादन नियोजित ढंग से चलता है। दाम मूल्यों पर आधारित होते हैं और राज्य द्वारा एकीकृत ढंग से निर्धारित किये जाते हैं। मांग व आपूर्ति के सम्बन्धों में बदलाव के साथ दाम चढ़ते-गिरते नहीं हैं। मूल्य का नियम लोगों पर शासन करने वाली कोई बाहरी शक्ति नहीं रह जाता। बुनियादी तौर पर, जनता समाजवादी निर्माण के काम को आगे बढ़ाने के लिए सचेतन रूप से इसका प्रयोग करती है। इसके अलावा, सामाजिक उत्पादन पर मूल्य के नियम के प्रभाव भी काफी हद तक सीमित कर दिये गये हैं। उनकी ठोस अभिव्यक्तियां इस प्रकार हैं :

पहला, समाजवादी राजकीय उद्यम में उत्पादन, दामों के स्तर और मुनाफे की मात्रा के अनुसार घटता-बढ़ता नहीं है। उत्पादन, मूल्य के नियम से नहीं, बल्कि समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम (राज्य तथा जनता की बढ़ती

आवश्यकताओं की पूर्ति) की आवश्यकताओं के अनुसार तैयार राष्ट्रीय आर्थिक योजना से तथा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजित विकास के नियम से विनियमित होता है। राज्य तथा जनता की आवश्यकताओं पर आधारित राजकीय योजना यह निर्धारित करती है कि क्या और कितना उत्पादन करना है और राजकीय उद्यमों को उसे पूरी तरह लागू करना होता है। उद्यमों को योजना के अनुसार ही उत्पादन करना होता है चाहे उसमें मुनाफा हो या न हो। कोई घाटा होने पर नियोजित ढंग से दी गई सब्सिडी द्वारा उसे पूरा कर दिया जाता है। यदि किसी उद्यम का नेतृत्व योजना के लक्ष्यों को मानने से इंकार करता है और ज्यादा मुनाफा देने वाले उत्पादों का अपनी मर्जी से उत्पादन बढ़ा देता है तो वह समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजित विकास के नियम का उल्लंघन करता है और पूंजीवादी रास्ते पर भटक जाता है।

दूसरा, समाजवादी ग्रामीण सामूहिक उद्यमों में भी उत्पादन राजकीय योजना के मार्गदर्शन में चलता है। राजकीय उद्यमों के विपरीत, सामूहिक उद्यम एक ऐसी आर्थिक इकाई होती है जो अपने लाभ-हानि के लिए स्वयं उत्तरदायी होती है। उत्पादन दामों का स्तर और आय की मात्रा सामूहिक उद्यम के संचय और इसके सदस्यों की आय को सीधे प्रभावित करते हैं। सामूहिक उद्यम आम तौर पर ऐसे उत्पाद ज्यादा पैदा करने की प्रवृत्ति रखते हैं जो कम लागत पर ज्यादा आय देते हों। इस मामले में, मूल्य का नियम राजकीय उद्यमों के मुकाबले सामूहिक उद्यमों के उत्पादन को ज्यादा प्रभावित करता है। फिर भी, खाद्यान्नों, कपास, तिलहन और अन्य प्रमुख फसलों की बुवाई का रकबा राजकीय योजना द्वारा निर्धारित किया जाता है। सामूहिक अर्थव्यवस्था ज्यादा आय देने वाली फसलों के रकबे को मनमाने ढंग से बढ़ा नहीं सकती। वह केवल ज्यादा सघन खेती, ज्यादा उर्वरकों और बेहतर प्रबन्धन के जरिए राज्य द्वारा निर्धारित रकबे के भीतर ही इन फसलों की उपज बढ़ा सकती है। इसलिए ग्रामीण सामूहिक अर्थव्यवस्था में प्रमुख उत्पादों के उत्पादन के मामले में निर्णायक महत्व की भूमिका अब भी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजित विकास का नियम ही निभाता है। मूल्य का नियम केवल एक गौण भूमिका निभाता है। केवल वे उत्पाद जो राज्य तथा जनता के लिए अहम नहीं होते हैं, और जो राजकीय योजना में शामिल नहीं होते हैं या जिनकी राजकीय खरीद के अनुबंध नहीं होते हैं, केवल उन्हीं के सम्बन्ध में दामों का स्तर या आय की मात्रा ज्यादा महत्वपूर्ण होती है। ज्यादा आय लाने वाले उत्पाद आसानी से विकसित होते हैं जबकि कम आय लाने वाले उत्पाद काफी कठिनाई से ही विकसित हो पाते हैं। मूल्य का नियम इन उत्पादों के सम्बन्ध में एक हद तक नियामक भूमिका निभाता है।

जहां तक समूचे समाजवादी उत्पादन का प्रश्न है, नियोजन प्रधान है और दाम गौण है। कहने का मतलब कि विभिन्न उत्पादन सेक्टरों के बीच सामाजिक श्रम के वितरण से क्या और कितना उत्पादन करना है, इसका विनियमन राजकीय योजना द्वारा होता है, जो समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजित विकास के नियम की आवश्यकताओं को प्रतिबिम्बित करती है। राजकीय योजना प्रधान और निर्णायक भूमिका अदा करती है। मूल्य का नियम अब भी उपयोगी रहता है, पर अब यह गौण और समर्थक भूमिका निभाता है।

इस्तेमाल करने की आवश्यकता के साथ-साथ अंकुश में रखने की भी आवश्यकता है

समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व के तहत मूल्य के नियम का समाजवादी उत्पादन पर दोहरा प्रभाव पड़ता है : एक ओर यदि सही ढंग से इस्तेमाल किया जाये तो यह उत्पादन के विकास को तेज कर सकता है। दूसरी ओर, अन्तिम विश्लेषण में, माल उत्पादन के नियम के रूप में यह निजी अर्थव्यवस्था का एक अवशेष है। जब तक मूल्य का नियम रहेगा, बुर्जुआ अधिकार भी मौजूद रहेगा और समाजवादी उत्पादन के लिए नुकसान और खतरे का स्रोत बना रहेगा। इसलिए, समाजवादी राज्य को मूल्य के नियम का इस्तेमाल करने में बेहद सावधान रहना चाहिए और शोध, अध्ययन तथा अनुभवों का समाहार करते रहना चाहिए। केवल इसी तरीके से समाजवादी उत्पादन पर इसके सकारात्मक प्रभावों का इस्तेमाल करते हुए इसके नकारात्मक, विध्वंसकारी प्रभावों पर अंकुश लगाया जा सकता है। समाजवादी उत्पादन की विकास प्रक्रिया में, मूल्य के नियम और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजित विकास के नियम द्वारा डाले गये प्रभावों की दिशा कभी-कभी एक ही होती है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजित विकास के नियम के तहत, कुछ हल्के उद्योगों के तीव्र विकास के चलते कच्चे मालों की बढ़ी मांग पूरी करने के लिए कुछ नकदी फसलों के उत्पादन को तेजी से बढ़ाने की जरूरत होती है। इन नकदी फसलों के दामों के चलते सामूहिक कृषि अर्थव्यवस्था को अच्छी-खासी आय भी पक्की हो जाती है। इन स्थितियों में, उत्पादन बढ़ाने की राजकीय योजना की आवश्यकता तथा उत्पादन व आय बढ़ाने की सामूहिक कृषि अर्थव्यवस्था की आवश्यकता समान होती है। आम तौर पर, उत्पादन बढ़ाने का योजनागत लक्ष्य पूरा हो जाता है या लक्ष्य से भी अधिक उत्पादन होता है। लेकिन इन दोनों नियमों द्वारा डाले गये प्रभावों की दिशा अलग-अलग हो सकती है। आम तौर पर नकदी फसलें खाद्यान्नों के मुकाबले और नकदी फसलों में भी कुछ नकदी फसलें दूसरों के मुकाबले सामूहिक कृषि अर्थव्यवस्था को ज्यादा आय दिला सकती हैं। यदि मूल्य के नियम को खुलकर उत्पादन को प्रभावित करने की छूट दी गई तो यह राष्ट्रीय आर्थिक योजना की इस आवश्यकता के लिए हानिकारक होगा कि समग्रता में सभी फसलों के उत्पादनों में वृद्धि हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब दोनों नियमों के प्रभाव समान होते हैं तो मूल्य का नियम राजकीय योजना को पूरा करने की प्रक्रिया में रचनात्मक भूमिका निभाता है। लेकिन जब दोनों नियमों के प्रभाव अलग-अलग होते हैं, तब यदि मूल्य के नियम की ठीक से निगरानी नहीं की गई, तो यह राजकीय योजना को बाधित करता है और नकारात्मक भूमिका निभाता है। मूल्य के नियम के सचेतन इस्तेमाल का मतलब यह होता है कि इसकी भूमिका को पूरी तरह से समझा जाये और राजनीतिक तथा विचारधारात्मक काम के जरिए तथा राजकीय योजना एवं दाम नीति को व्यवस्थित करके मूल्य के नियम की सकारात्मक भूमिका का इस्तेमाल किया जाये और इसकी नकारात्मक भूमिका पर अंकुश लगाया जाये ताकि समाजवादी उत्पादन पर इसके प्रभाव राजकीय योजना को पूरा करने के अनुकूल रहें। चीनी पार्टी और सरकार किसानों की समाजवादी शिक्षा तथा कृषि उत्पादन में योजनाबद्ध नेतृत्व पर लगातार बल देती रही हैं। साथ ही, कृषि उपजों एवं उपोत्पादों के खरीद मूल्यों की तर्कपरक व्यवस्था पर और विभिन्न कृषि उपजों एवं उपोत्पादों के बीच आनुपातिक दाम सम्बन्धों पर भी ध्यान दिया गया है। इस वास्ते कड़ा संघर्ष किया गया है कि कृषि उपजों एवं उपोत्पादों की राज्य की जरूरत भी पूरी होती रहे और कम्यून तथा ब्रिगेड का उत्पादन और कम्यून सदस्यों की आय दोनों बढ़ती रहे। इस तरह राज्य, सामूहिक अर्थव्यवस्था और व्यक्ति—तीनों के हितों का सही ढंग से ध्यान रखा गया है।

समाजवादी देश द्वारा समाजवादी उत्पादन को बढ़ाने के लिए मूल्य के नियम का सचेतन इस्तेमाल, किसी उद्यम को अध्यवसाय एवं मितव्ययिता के साथ चलाने की नीति लागू करने के लिए आर्थिक लेखा प्रणाली के इस्तेमाल के रूप में भी अभिव्यक्त होता है। मूल्य के नियम के आधार पर, समाजवादी देश किसी उत्पाद के उत्पादन में लगे औसत सामाजिक श्रम के अनुसार एक जैसे उत्पादों का एक ही दाम तय करता है। लेकिन उत्पादन तकनोलाजी की स्थिति और प्रबन्धन एवं संचालन के स्तर में अन्तर के कारण अलग-अलग उद्यमों में उसी उत्पाद में लगने वाले व्यक्तिगत श्रम की मात्रा अलग-अलग होगी। जो उद्यम लोगों को उत्पादन में लामबन्द करने, उत्पादन तकनोलाजी को लगातार उन्नत करते रहने और ध्यान पूर्वक आकलन के जरिए उत्पादन लागत कम करने का अनुभव रखते हैं, उनमें व्यक्तिगत श्रम-व्यय श्रम के औसत सामाजिक व्यय से कम हो सकता है। वे राज्य द्वारा निर्धारित योजना लक्ष्यों को

पूरा करके या उससे भी ज्यादा उत्पादन करके उन्नत स्थिति में आ सकते हैं। दूसरी ओर, जो उद्यम लापरवाह हैं, संसाधनों को बरबाद करते हैं, रूढ़िवादी हैं और पिछड़ी हुई तकनोलाजी को उन्नत करने के लिए लोगों को लामबन्द करने में अक्षम हैं, उनका व्यक्तिगत श्रम-व्यय सामाजिक औसत से अधिक हो सकता है। वे राज्य द्वारा निर्धारित योजना लक्ष्यों को पूरा नहीं कर पाते और पिछड़ी स्थिति में चले जाते हैं। इसलिए समाजवादी राज्य द्वारा मूल्य के नियम का उपयोग करते हुए एकीकृत दाम निर्धारण संचालन एवं प्रबन्धन में विभिन्न उद्यमों के अन्तरविरोधों को उजागर करने के अनुकूल है और उन्नत तथा पिछड़े उद्यमों के बीच असमानताओं का पता लगाने में मदद करता है। इस तरह पिछड़े उद्यमों पर अपने संचालन एवं प्रबन्धन को लगातार सुधारने, उत्पादन लागतें कम करने और अध्यवसाय तथा मितव्ययिता के साथ उद्यम चलाने की नीति को लागू करने के लिए दबाव डाला जा सकता है। लेकिन चूंकि राज्य राजकीय उद्यमों के प्रबन्धन में मूल्य के नियम का इस्तेमाल राजकीय लेखा प्रणाली के जरिए करना चाहता है, इसलिए उसे मूल्य, दाम, मुनाफा आदि की आर्थिक श्रेणियों का इस्तेमाल करना होगा। इसलिए, अपरिहार्यत: ऐसी स्थितियां उत्पन्न होंगी जब दाम और मूल्य एक-दूसरे से अलग हो जायेंगे। इस तरह, बुर्जुआ सोच के प्रभाव में, कुछ उद्यम मूल्य के नियम में निहित बुर्जुआ अधिकार का प्रयाग कर सकते हैं और राज्य तथा जनता की जरूरतों की उपेक्षा करके ऊंचे दामों और ऊंचा मुनाफा देने वाले उत्पादों के उत्पादन पर जोर दे सकते हैं। इस तरह वे समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजित विकास के नियम का उल्लंघन करते हैं। राजकीय उद्यमों के उत्पादन पर पड़ने वाले मूल्य के नियम के ऐसे नकारात्मक प्रभावों पर सख्ती से अंकुश लगाना जरूरी होता है।

मूल्य के नियम को सही ढंग से लागू करने के लिए ये कदम उठाने होंगे : मूल्य के नियम की आवश्यकताओं के अनुरूप दामों का तर्कपरक निर्धारण; मूल्य के नियम के प्रभावों का इस्तेमाल करके उत्पादन का तर्कपरक ढंग से संगठन; उत्पादन की मात्रा का सटीक आकलन तथा वास्तविक स्थितियों पर आधारित उत्पादन-सम्भावनाओं का सही इस्तेमाल; और लगातार उत्पादन पद्धतियों में सुधार करना, उत्पादन लागतों को कम करना तथा आर्थिक लेखा लागू करना। ये सकारात्मक कार्य यह भी दर्शाते हैं कि मूल्य का नियम एक शानदार स्कूल भी है। स्तालिन के शब्दों में, ''यह एक अच्छा व्यावहारिक स्कूल है जो विकास की मौजूदा अवस्था में, हमारे कार्यकारी कर्मियों के विकास को तथा समाजवादी उत्पादन के वास्तविक नेता बनने की उनकी तैयारी को त्वरित कर देता है।''[7]

समाजवादी समाज में, सर्वहारा वर्ग मूल्य के नियम का इस्तेमाल समाजवादी निर्माण के विकास को आगे बढ़ाने के लिए करता है जबकि बुर्जुआ वर्ग मुक्त बाजार बनाने और समाजवादी निर्माण को बाधित करने के लिए इसका इस्तेमाल करने की जो तोड़ कोशिश करता है। ल्यू शाओ-ची और लिन प्याओ गुटों ने मूल्य के नियम की भूमिका को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने की बहुतेरी कोशिशें कीं। उन्होंने मूल्य के नियम की ''सर्वशक्तिमान प्रकृति'' पर जोर दिया और सामाजिक उत्पादन के नियामक के रूप में मूल्य के नियम की वकालत की। सोवियत संशोधनवादी गद्दार गुट ने पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने में ''समाजवादी सामाजिक उत्पादन के वस्तुगत नियामक'' के रूप में मूल्य के नियम का खुलकर इस्तेमाल किया। इस संशोधनवादी सिद्धान्त के अनुरूप उसने मुनाफे को कमान में रखने और भौतिक उत्प्रेरण पर केन्द्रित ''नई आर्थिक प्रणाली'' भी चलाई है। देशी-विदेशी संशोधनवादियों द्वारा अपनाये गये तरीके कभी-कभी अलग-अलग हो सकते हैं, पर उनका उद्देश्य एक ही होता है, समाजवादी निर्माण को बाधित करना और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करना। मूल्य के नियम के प्रश्न पर दो लाइनों के बीच संघर्षों का अनुभव बताता है कि यदि मूल्य के नियम को समाजवादी उत्पादन की सेवा में सही ढंग से लगाना है तो मार्क्सवाद और संशोधन के बीच विभाजक रेखा खींचना तथा समाजवादी मार्ग पर दृढ़ता से टिके रहना जरूरी है।

राष्ट्रीय आर्थिक योजना को वस्तुगत नियमों को सही-सही प्रतिबिम्बित करना चाहिए

राष्ट्रीय आर्थिक योजना पर काम को वस्तुगत नियमों की आवश्यकताओं को प्रतिबिम्बित करना चाहिए

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजित विकास का नियम और मूल्य का नियम, दोनों ही समाजवादी समाज के वस्तुगत आर्थिक नियम हैं। इन नियमों की भूमिकाएं मूलत: उनको सचेत रूप से लागू करने से सामने आती हैं। समाजवादी राज्य की राष्ट्रीय आर्थिक योजना इन नियमों को सचेत रूप से लागू करने का एक रूप है। राष्ट्रीय आर्थिक योजना पर काम में शोध करना, सूत्रीकरण, लागू करना, जांच करना, समायोजन और समाहार करना शामिल है। राष्ट्रीय आर्थिक योजना पर काम के बिना समाजवादी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के समानुपातिक विकास को सुनिश्चित कर पाना असम्भव है। यह सही है कि यदि लोग उन्हें सचेतन रूप से लागू नहीं भी करेंगे, तो भी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजित विकास का नियम और मूल्य का नियम ही अन्तत: लागू होते हैं। उदाहरण के लिए, यदि आर्थिक नेतृत्वकारी निकाय गंभीरतापूर्वक जांच और अध्ययन नहीं करते, नियोजित विकास के नियम की आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रखते या यदि वे लापरवाही से अनुपात तय करते हैं या मूल्य के नियम की आवश्यकताओं का ध्यान रखे बिना दाम नीति तय करते हैं (मनमाने ढंग से दाम तय करना जिससे कि उत्पादन की कुछ शाखाओं के सामाजिक रूप से आवश्यक व्यय की भरपाई नहीं हो पाती और इसके परिणामस्वरूप उत्पादन जारी नहीं रह पाता), तो सामाजिक उत्पादन की परस्पर-निर्भर शाखाओं में विभिन्न अव्यवस्थाएं पैदा हो जायेंगी। ये परिघटनाएं नकारात्मक उदाहरण से लोगों को इन नियमों का सम्मान करना और राष्ट्रीय आर्थिक योजना पर काम को सुधार कर इन नियमों की आवश्यकताओं का ध्यान रखना सिखायेंगी।

राष्ट्रीय आर्थिक योजना पर काम की एक अहम कड़ी होता है योजनाओं को सूत्रबद्ध करना। योजनाएं जनता द्वारा बनायी जाती हैं और विचारधारा की उत्पाद होती हैं। विचारधारा यथार्थ का प्रतिबिम्ब होती है और यह फिर यथार्थ के साथ प्रतिक्रिया भी करती है। एक सही योजना समाजवादी अर्थव्यवस्था के द्रुतगामी विकास को प्रोत्साहित करती है। एक गलत योजना समाजवादी अर्थव्यवस्था के विकास को बाधित करती है।

राष्ट्रीय आर्थिक योजना के सही होने के लिए सबसे पहले यह जरूरी है कि जनता, योजना को सूत्रबद्ध करने की प्रक्रिया में नियोजित विकास के नियम के सभी पक्षों को समझकर इसकी वस्तुगत आवश्यकताओं की पहचान करे और उनका महत्व समझे। इसकी आवश्यकताओं को उसकी सोच में झलकना चाहिए। यह कतई आसान नहीं है। समाजवादी समाज में बुर्जुआ वर्ग और सभी शोषक वर्ग दिनोरात इस कोशिश में लगे रहते हैं कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजित विकास में हस्तक्षेप कर उसे बाधित किया जाये और सर्वहारा के लिए इस नियम को समझना मुश्किल कर दिया जाये। लिन प्याओ और मण्डली यह दलील देते थे कि नियोजन ''बैठे-ठाले की बकवाद'' के सिवा कुछ नहीं है और अगर आपको सही अनुपात चाहिए तो ''बस मैदान में उतरो और कर गुजरो''।* इसके पीछे उनकी मंशा भ्रम फैलाते और समाजवादी निर्माण को क्षति पहुंचाने की थी। इसके अलावा पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था अन्तरविरोधों से भरी एक जटिल चीज होती है। असन्तुलन पैदा होते हैं और हल हो जाते हैं ... और फिर पैदा हो जाते हैं। वस्तुगत परिस्थितियां हर समय बदलती रहती हैं; इसलिए वस्तुगत नियमों की सही समझ कायम करने के लिए लोगों को सीखने की प्रक्रिया से गुजरना होता है। लेकिन इसका कतई यह मतलब नहीं कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में समानुपातिक सम्बन्धों की पहचान नहीं की जा सकती।

* स्पष्टत: यहां नियोजन कार्य के प्रति व्यवहारवादी और सिद्धान्तहीन पहुंच का सन्दर्भ है, जो कि मूलत: नियोजित अर्थव्यवस्था के उद्देश्य को ही निष्फल कर देता है।

यदि हम लगातार अनुभवों का समाहार करते हैं, गहराई से जांच-पड़ताल और अध्ययन करते हैं, गंभीरतापूर्वक विश्लेषण करते हैं, जनता पर भरोसा करते हैं और खूब सावधानी के साथ काम करते हैं, तो यह बिलकुल सम्भव है कि कदम-ब-कदम नियोजित विकास के नियम की पहचान की जा सके और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को इस नियम की आवश्यकताओं के ज्यादा अनुरूप बनाया जा सके।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के नियोजित विकास के नियम की मात्र इतनी आवश्यकता होती है कि विकास प्रक्रिया में परस्परनिर्भर सेक्टरों के बीच सुसंगत, समानुपातिक सम्बन्ध बने रहें। यह समाजवादी आर्थिक विकास की दिशा और इसके कर्तव्य नहीं बताता। यह तो समाजवाद का बुनियादी आर्थिक नियम— राज्य तथा जनता की निरन्तर बढ़ती आवश्यकताओं की पूर्ति— है जो समाजवादी आर्थिक विकास की मूल दिशा और कर्तव्यों को चिन्हित करता है। इसलिए एक सटीक राष्ट्रीय आर्थिक योजना को न केवल नियोजित आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को सही-सही प्रतिबिम्बित करना चाहिए बल्कि समाजवाद के बुनियादी आर्थिक नियम के विविध पक्षों की आवश्यकताओं को भी ठीक-ठीक प्रतिबिम्बित करना चाहिए। इन वस्तुगत नियमों की आवश्यकताओं को प्रतिबिम्बित करने वाली राष्ट्रीय आर्थिक योजना सर्वहारा तथा समस्त मेहनतकश जनसमुदाय के हितों को मूर्त करती है। यह आर्थिक निर्माण के लिए पार्टी कार्यक्रम होता है और इसे गम्भीरता से लिया जाना चाहिए और पूरी गम्भीरता से इसे लागू किया जाना चाहिए।

समग्र** सन्तुलन नियोजन कार्य की बुनियादी पद्धति है

राष्ट्रीय आर्थिक योजना पर काम में समग्र सन्तुलन में महारत हासिल करना बेहद महत्वपूर्ण है। समग्र सन्तुलन अलग-अलग सेक्टरों के भीतर सन्तुलन नहीं है। इसका अर्थ कृषि में सन्तुलन, उद्योग में सन्तुलन और उद्योग एवं कृषि के बीच सन्तुलन है। समग्र सन्तुलन किसी नियोजित अर्थव्यवस्था की बुनियादी पद्धति है।

समग्र सन्तुलन लाने का कार्यभार मुख्यत: राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में आनुपातिक सम्बन्धों को व्यवस्थित करने का होता है। योजना अवधि में राज्य के प्रमुख कार्यभारों के अनुसार राज्य राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न सेक्टरों को श्रमशक्ति, भौतिक संसाधनों और वित्त का आवंटन करता है तथा सामाजिक उत्पादन और सामाजिक आवश्यकताओं के बीच सन्तुलन स्थापित करता है— ताकि उत्पादन के साधनों के उत्पादन में वृद्धि निरन्तर विकासमान समाजवादी उत्पादन की जरूरतों से पीछे न रह जाये और ताकि उपभोग के साधनों के उत्पादन में वृद्धि जनसमुदाय के जीवनस्तर में क्रमश: सुधार से पैदा होने वाली जरूरतों को पूरा करती रह सके।

समग्र सन्तुलन कायम करने की प्रक्रिया अन्तरविरोधों को उघाड़ने, उनका विश्लेषण करने और उन्हें हल करने की प्रक्रिया है। समग्र सन्तुलन के काम को अच्छी तरह अंजाम देने के लिए हमें सकारात्मक दृष्टिकोण से अन्तरविरोधों को हल करना चाहिए, अस्थायी रूप से घट गये उत्पादन के साधनों के उत्पादन को जोशोखरोश के साथ बढ़ाना चाहिए और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के उन महत्वपूर्ण सेक्टरों के विकास को त्वरित करना चाहिए जो फिलहाल पिछड़ गये हैं, ताकि एक नये और उच्चतर धरातल पर नया सन्तुलन कायम किया जाये। केवल इस तरीके से राष्ट्रीय प्रतिरक्षा निर्माण, आम आर्थिक निर्माण और जनता की आजीविका सम्बन्धी जरूरतें बेहतर ढंग से सुनिश्चित की जा सकती हैं। अध्यक्ष माओ की सर्वहारा क्रान्तिकारी लाइन का विरोध करने के लिए ल्यू शाओ-ची गुट ने कई बार तथाकथित ''अल्पकालिक सन्तुलन'' का सुझाव दिया और उच्च धरातल की चीज को घसीटकर निचले धरातल के साथ मिलाने के लिए निष्क्रिय सन्तुलन को बड़े पैमाने पर अमल में उतारा।[8]*** कभी-कभी वे इतने ऊंचे लक्ष्य निर्धारित कर देते थे जो सम्भव ही नहीं होते थे। जब ये लक्ष्य पूरे नहीं हो पाते तो वे ''पूरी तरह पीछे हटने'' पर अमल करते थे। वे एक ऐसी दक्षिणपंथी अवसरवादी लाइन लागू करने की कोशिश कर रहे थे जो रूप में ''वाम'' थी लेकिन सारत: दक्षिणपंथी थी।

समग्र सन्तुलन पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में सन्तुलन की स्थापना है। लेकिन ऐसा नहीं है कि कम महत्वपूर्ण और ज्यादा महत्वपूर्ण के बीच फर्क किये बिना आंख मूंदकर सब जगह समान बल लगा दिया गया। अगर दो हाथों से एक साथ दस मछलियां पकड़ने की कोशिश की जाये तो नतीजा यह होगा कि एक भी मछली नहीं पकड़ी जायेगी। पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के जटिल आनुपातिक सम्बन्धों में प्रधान और गौण पक्ष तथा प्रभावी और अधीनस्थ पक्ष होते हैं। समग्र सन्तुलन हासिल करने के लिए हमें कम महत्वपूर्ण और ज्यादा महत्वपूर्ण के बीच फर्क करना चाहिए और बुनियादी महत्व के बिन्दुओं पर ध्यान देना सुनिश्चित करना चाहिए। हमें पहले यह सुनिश्चित करना चाहिए कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास में सभी अग्रिम कड़ियों और बुनियादी सेक्टरों की जरूरतें पूरी हो जायें। पूंजीगत निर्माण की योजना बनाते समय फैसलाकुन जंग के लिए सारी ताकत को संकेन्द्रित करने का सिद्धान्त लागू किया जाना चाहिए। यदि हम विभागवाद से शुरू करेंगे, इस पर कोई ध्यान नहीं देंगे कि क्या ज्यादा महत्वपूर्ण है और क्या कम, एक साथ बहुत सी चीजों पर ध्यान लगायेंगे और सीमित श्रमशक्ति तथा भौतिक एवं वित्तीय संसाधनों को एक लम्बे-चौड़े मोर्चे पर छितरा देंगे तो हमारी ताकत बिखर जायेगी और कई बुनियादी महत्व के कामों को पूरा होना अपरिहार्यत: प्रभावित होगा। जाहिरा तौर पर, बुनियादी महत्व के बिन्दुओं पर ध्यान देने का मतलब साधारण चीजों की उपेक्षा करना नहीं होता। महत्वपूर्ण बिन्दुओं और साधारण चीजों के बीच परस्पर निर्भरता के नजदीकी रिश्ते होते हैं। अगर बुनियादी महत्व के बिन्दुओं की उपेक्षा की जाये तो साधारण चीजें ठीक से विकसित नहीं होंगीं। लेकिन अगर हम साधारण चीजों की उपेक्षा करेंगे तो महत्वपूर्ण बिन्दुओं का विकास भी प्रभावित होगा। इसलिए, बुनियादी महत्व के बिन्दुओं का ध्यान रखने के साथ ही हमें साधारण चीजों पर भी ध्यान देना होगा। एकांगीपन की गलती से बचने के लिए हमें समग्र से शुरू करना होगा और सभी ऊर्ध्वाधर और क्षैतिज सम्बन्धों पर विचार करना होगा।

समग्र सन्तुलन के काम में श्रम, सामग्रियों और वित्त, तीनों के सन्तुलन पर ध्यान देना जरूरी है। उत्पादक शक्तियों का सबसे महत्वपूर्ण उपादान है —लोग; इसलिए इन तीनों में सबसे पहले श्रम के सन्तुलन को व्यवस्थित करना जरूरी है। कृषि को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की बुनियाद मानने के सिद्धान्त के अनुसार सबसे पहले कृषि के लिए पर्याप्त श्रमशक्ति की व्यवस्था की जानी चाहिए। कृषि से उद्योग के लिए अथवा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के अन्य सेक्टरों के लिए मजदूर तभी स्थानान्तरित किये जायेंगे, जब कृषि उत्पादन का विकास तथा कृषि का यंत्रीकरण देहाती क्षेत्रों को इतना सक्षम बना देगा कि वे अतिरिक्त श्रमशक्ति और बेचने योग्य अधिक अनाज और अधिक नकदी फसलें सफलतापूर्वक उपलब्ध करा सकें। यदि हमने इस पूर्वशर्त का ध्यान नहीं रखा और कृषि से बहुत अधिक श्रमशक्ति स्थानान्तरित कर दी तो समग्र सन्तुलन बिगड़ जायेगा, और यह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के द्रुतगामी, नियोजित और समानुपातिक विकास के प्रतिकूल होगा।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न सेक्टरों में असन्तुलनों के पैदा होने और नये सन्तुलनों के कायम होने की एक अपरिहार्य प्रक्रिया है। विभिन्न सेक्टरों के बीच समानुपातिक विकास सुनिश्चित करने के लिए यह जरूरी है कि एक निश्चित मात्रा में भौतिक संसाधनों का सुरक्षित भण्डार बनाये रखा जाये। विभिन्न प्रकार के संसाधनों को उचित मात्रा में सुरक्षित रखा जाना चाहिए। यदि इनकी मात्रा काफी कम है तो वे दो सापेक्षिक सन्तुलनों के बीच के अन्तर की भरपाई करने की आवश्यकता को पूरा नहीं कर पायेंगे। परिणामस्वरूप कुछ सेक्टरों को किन्हीं भौतिक संसाधनों की कमी के चलते

** इसे एकीकृत (यानी अन्तर-सेक्टर और अन्तरक्षेत्रीय) सन्तुलन के रूप में भी समझा जा सकता है।

*** माओवादी सन्तुलन को आर्थिक परिवर्ती राशियों के बीच जड़ सम्बन्ध के रूप में नहीं देखते थे। वे इसे एक गतिशील परिघटना के रूप में देखते थे जिसमें सन्तुलन का स्थान असन्तुलन ले लेता है और फिर इस असन्तुलन को

क्षमता से कम पर काम करना होगा। यदि सुरक्षित संसाधन किसी अस्थायी कमी को पूरा करने की आवश्यकता से अधिक हैं तो जो संसाधन चालू उत्पादन में लग सकते थे, वे उपलब्ध नहीं हो पायेंगे। ये दोनों ही स्थितियां राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के तेज विकास पर बुरा प्रभाव डालेंगी।

नियोजन कार्य के बुनियादी सिद्धान्तों का पालन करो

नियोजन कार्य अच्छी तरह करने के लिए, समग्र सन्तुलन की बुनियादी पद्धति का इस्तेमाल करने के अलावा, नियोजन कार्य के व्यावहारिक अनुभव से नि:सृत कुछ बुनियादी सिद्धान्तों का पालन किया जाना भी जरूरी है।

नियोजन कार्य को केन्द्रीय एवं स्थानीय पहलकदमी दोनों को पूरी स्वतंत्रता देनी चाहिए और केन्द्रीकृत एवं एकीकृत नेतृत्व को स्थानीय पहलकदमी के साथ मिलाना चाहिए।

एकीकृत राष्ट्रीय आर्थिक योजना तैयार और लागू करने के लिए एक अत्यधिक केन्द्रीकृत और एकीकृत नेतृत्व होना जरूरी है। केन्द्रीकृत और एकीकृत नेतृत्व के बिना कोई एकीकृत राष्ट्रीय योजना नहीं बन सकती। समग्र स्थिति के दृष्टिकोण को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए और ऐसे अत्यधिक विकेन्द्रीकरण का विरोध किया जाना चाहिए जिसके तहत हर स्थानीय इकाई खुद अपनी योजनाएं बना सकती हो। लेकिन समाजवादी केन्द्रीकृत नेतृत्व जनवाद के एक व्यापक आधार पर निर्मित होता है। केन्द्रीकृत नेतृत्व को स्थानीय पहलकदमी के साथ मिलाया जाना जरूरी है। राष्ट्रीय आर्थिक योजना तैयार करने में, सम्बन्धित विभागों को स्थानीय राय का पता लगाना चाहिए, स्थानीय इकाइयों से सलाह-मशविरा करना चाहिए और स्थानीय इकाइयों के साथ मिलकर योजनाएं बनानी चाहिए। योजना के क्रियान्वयन में, स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार कुछ अपवादों को इजाजत देना भी जरूरी है। ये अपवाद स्वतंत्र सत्ताएं कायम करने के बहाने नहीं होने चाहिए बल्कि आवश्यक छूटों के रूप में होने चाहिए जो समग्र हितों के अनुकूल हों, स्थानीय स्थितियों के अनुसार उत्पादन क्षमताओं के पूर्ण दोहन को सम्भव बनाते हों और राष्ट्रीय आर्थिक योजना को पूरा करने में बेहतर ढंग से मदद करते हों। जहां तक नियोजन कार्य की प्रणाली का सम्बन्ध है, एक ऐसी प्रणाली लागू करना आवश्यक है जो एकीकृत नियोजन को हर स्तर के प्रशासनिक काम से जोड़े। चीन लोक गणराज्य की स्थापना काल में अध्यक्ष माओ ने कहा था, ''जो एकीकृत होना जरूरी है उसे एकीकृत होना ही चाहिए। अत्यधिक विकेन्द्रीकरण की अनुमति नहीं दी जा सकती, जिसमें हर कोई अलग-अलग वह करता रहे, जो उसकी नजर में 'सबसे अच्छा' हो। लेकिन एकीकरण को स्थानीय रूपान्तरणों के साथ मिलाना जरूरी है।''[9] बाद में माओ ने कई बार केन्द्र और स्थानीय क्षेत्रों के बीच के सम्बन्धों में स्थानीय पहलकदमी पर और ज्यादा भरोसा करने की सीख दी। स्थानीय इकाइयों को केन्द्रीकृत और एकीकृत नियोजन के अन्तर्गत और ज्यादा चीजें खुद करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। अध्यक्ष माओ की शिक्षाओं का पालन करते हुए देश की व्यापक जनता ने ल्यू शाओ-ची की गुट द्वारा थोपे जा रहे ''नियम-विधानों द्वारा अधिनायकत्व'' को खारिज कर दिया जो स्थानीय पहलकदमी को दबाता था। उन्होंने नियोजन और प्रबन्धन के काम में केन्द्रीय और स्थानीय पहलकदमी दोनों का बेहतर ढंग से इस्तेमाल किया और इस तरह चीन की समाजवादी अर्थव्यवस्था के द्रुतगामी, नियोजित और समानुपातिक विकास को आगे बढ़ाया।

माओ ने कहा है, ''योजना बनाने के दौरान जनसमुदाय को गोलबन्द करना और कुछ फेर-बदल की गुंजाइश रखना जरूरी है।''[10] राष्ट्रीय आर्थिक नियोजन के काम का यह एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

समाजवादी निर्माण में चाहे कोई भी काम हो, उसमें जनदिशा को लागू किया जाना चाहिए। पूरी ऊर्जा के साथ जन आन्दोलना चलाये जाने चाहिए। नियोजन कार्य में भी जनदिशा लागू की जानी चाहिए। लाइनों पर बहस करने, अन्तरविरोधों को उजागर करने, असमानताओं को सामने लाने और परिवर्तनों को त्वरित करने के लिए जनसमुदायों को गोलबन्द किया जाना चाहिए। यदि योजना लक्ष्यों पर जनता के बीच विचार-विमर्श नहीं होता, तो वे कैडर के विचार मात्र रह जाते हैं। जनता के बीच बहस-मुबाहसे के बाद ही वे जनता की अपनी योजनाएं बन जाती हैं। केवल तभी योजना लक्ष्य उन्नत और प्राप्त करने योग्य, दोनो होंगे और व्यापक जनसमुदाय का उत्साह पूरी तरह जगाया जा सकेगा। योजना लक्ष्य उन्नत होने चाहिए। केवल एक उन्नत योजना समाजवादी प्रणाली की श्रेष्ठता को मूर्त कर सती है और केवल एक उन्नत योजना ही जनता का मनोबल ऊंचा कर सकती है। एक उन्नत योजना बनाने के लिए रूढ़िवादी सोच से संघर्ष करना जरूरी है। कुछ लोग अपार उत्पादन-सम्भावना को स्पष्टत: पहचानने के बावजूद योजना लक्ष्य बहुत नीचे रखते हैं। उन्हें महज यह चिन्ता होती है कि योजना आराम से पूरी हो जाये। योजना तैयार करने की प्रक्रिया उन्नत और रूढ़िवादी सोच के बीच संघर्ष की भी प्रक्रिया है।

योजना लक्ष्य उन्नत होने चाहिए। पर इसका यह मतलब नहीं कि जितने ऊंचे लक्ष्य हों, उतना ही अच्छा होगा। अव्यावहारिक ढंग से ऊंचे लक्ष्य न केवल जनता के उत्साह को निर्बन्ध करने में असफल रहेंगे, बल्कि उसे ठण्डा ही करेंगे। उन्नत योजना लक्ष्यों का एक वैज्ञानिक आधार होना जरूरी है। उन्हें प्राप्त करने योग्य और व्यावहारिक होना चाहिए। माओ के शब्दों में : ''किसी को भी अजीबोगरीब कल्पना की उड़ानें भरने, ऐसी योजनाएं बनाने की जो वस्तुगत स्थिति से मेल न खाती हों, या असम्भव को कर दिखाने की कोशिशें नहीं करनी चाहिए।''[11] वस्तुगत तौर पर सम्भव योजना लक्ष्यों को भी बहुत ऊंचा नहीं रखा जाना चाहिए। कुछ फेरबदल की गुंजाइश छोड़ देनी चाहिए। व्यावहारिक अनुभव बताता है कि जो योजना लक्ष्य बहुत ऊंचे नहीं रखे जाते और जो जनता के प्रयासों से योजना को समय से पहले पूरा किया जाना सम्भव बनाते हैं, वे जनसाधारण के उत्साह को निर्बन्ध करने के ज्यादा अनुकूल होते हैं।

राष्ट्रीय आर्थिक नियोजन में दीर्घकालिक योजनाओं (पांच, दस, बीस वर्ष तक के लिए योजनाएं) को अल्पकालिक योजनाओं (वार्षिक, तिमाही और मासिक योजनाएं) के साथ मिलाना जरूरी है। दीर्घकालिक योजनाएं बनाये बिना पूंजीगत निर्माण को व्यवस्थित करना सम्भव नहीं होगा। दीर्घकालिक योजनाएं दीर्घकालिक लक्ष्यों को मूर्त करती हैं। वे जनता को दूर तक देखने और अपनी पूरी क्षमता से काम करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। कुछ मजदूरों ने इसे बड़े अच्छे ढंग से व्यक्त किया है : ''बड़े लक्ष्य सामने न हों तो एक तिनका भी हमारी पीठ झुका देने के लिए काफी है। दिमाग में बड़े लक्ष्य हों तो ताई पर्वत भी हमारी पीठ नहीं झुका पायेगा।'' लेकिन दीर्घकालिक योजनाओं के लिए जरूरी है कि अल्पकालिक योजनाएं बनें, उन्हें ठीक से समझा जाये, और वे तुलना और जांच-पड़ताल के उद्देश्य को पूरा करें ताकि दीर्घकालिक योजनाओं

दूर कर एक नया सन्तुलन कायम हो जाता है। ''निष्क्रिय'' और ''अल्पकालिक'' सन्तुलन महज औपचारिक सन्तुलन कायम करने के प्रयास थे, विकास के हर चरण में सन्तुलन की महंगी कीमत चुकानी पड़ती थी। माओवादियों ने इसकी आलोचना करते हुए कहा कि ऐसे अस्थायी और ''अल्पकालिक'' सन्तुलन से लम्बे दौर में और ज्यादा असन्तुलन पैदा होगा। सन्तुलन का यह दृष्टिकोण राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न स्तरों पर गतिशील तत्वों को दबायेगा, बाधित करेगा, उन्नत तत्वों को पीछे घसीट लेगा और स्थानीय पहलकदमी को कुचल देगा। माओवादियों की नजर में, तेज और असमान विकास के चलते उत्पन्न असन्तुलनों को दुरुस्त करने और विभिन्न अड़चनों तथा कमियों को दूर करने का तरीका यह था कि पिछड़े हुओं को उन्नत तत्वों के बराबर आने के लिए प्रोत्साहित किया जाये और अर्थव्यवस्था के सभी स्तरों पर अपनी उत्पादन क्षमताओं और स्थानीय संसाधनों का पूरा-पूरा इस्तेमाल करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाये —यह ''सक्रिय'' सन्तुलन था। दक्षिणपंथी शक्तियों ने ''निष्क्रिय सन्तुलन'' के सिद्धान्त का इस्तेमाल स्थानीय उद्योग खड़े करने के जनान्दोलनों को नीचा दिखाने के लिए किया जिन्हें ''अनियमित'' और ''सन्तुलन में गड़बड़ी'' पैदा करने के सम्भावित कारणों के रूप में पेश किया गया।

की पूर्ति बीच में ही न अटक जाये।

समाजवादी सामूहिक स्वामित्व की अर्थव्यवस्था के लिए नियोजन कार्य की अपनी अभिलाक्षणिकताएं होती हैं। सामूहिक स्वामित्व की अर्थव्यवस्था को एकीकृत राजकीय नियोजन के नेतृत्व को मानना चाहिए। लेकिन यह काफी उच्च स्तर का लचीलापन और स्वतंत्रता बनाये रख सकती है, बशर्ते एकीकृत राजकीय योजना और राजकीय नीतियों व नियमों का उल्लंघन न हो। यह स्थानीय रूपान्तरणों के जरिए सामूहिक अर्थव्यवस्था की पहलकदमी और उत्साह को खोलने में मदद करता है ताकि सामूहिक अर्थव्यवस्था राजकीय अर्थव्यवस्था के कदम से कदम मिलाकर चल सके।

अध्ययन के लिए प्रमुख सन्दर्भ

एंगेल्स, **ड्यूहरिंग मत-खण्डन,** भाग 3, अध्याय 2

स्तालिन, ***सोवियत संघ की आर्थिक समस्याएं***

माओ, ''जनता के बीच के सम्बन्धों को ठीक से हल करने के बारे में'', भाग1

समीक्षात्मक प्रश्न

1. केवल समाजवादी समाज ही नियोजित अर्थव्यवस्था को लागू कर सकते हैं। क्यों? समाजवादी नियोजित अर्थव्यवस्था की श्रेष्ठता किस बात में हैं?

2. राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कौन से महत्वपूर्ण समानुपातिक सम्बन्ध है? इन समानुपातिक सम्बन्धों को सही ढंग से कैसे हल किया जा सकता है?

3. नियोजन को प्रधान और दाम निर्धारण को गौण रखना क्या बताता है? नियोजित विकास के नियम और मूल्य के नियम को समाजवादी उत्पादन के विकास को आगे बढ़ाने के लिए सही ढंग से कैसे इस्तेमाल किया जाना चाहिए?

टिप्पणियां

1. ''आलोचना जो आलोचना नहीं है'', ***लेनिन की सम्पूर्ण रचनाएं,*** खण्ड 3, पृ. 566, अंग्रेजी संस्करण। **2.** एंगेल्स, **ड्यूहरिंग मत-खण्डन**, मार्क्स-एंगेल्स की चुनी हुई कृतियां, खण्ड 3, 1972, पृ. 323, चीनी संस्करण। **3.** माओ, '''लाल सितारा सामूहिक फार्म के लिए दीर्घकालिक योजना' पर टिप्पणियां'', **चीन के ग्रामीण क्षेत्र में समाजवादी उभार**, 1956 में पहली बार प्रकाशित जिसके लिए माओ ने भूमिका और संपादकीय टिप्पणियां लिखी थीं। इसी का थोड़ा भिन्न अंग्रेजी अनुवाद विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पीकिङ से 1978 में प्रकाशित हुआ था। पृ. 437. **4.** ''जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में,'' सेलेक्टेड रीडिंग्स फ्राम दि वर्क्स ऑफ माओ त्से-तुङ (टाइप ए), चीनी संस्करण, 1965, पृ. 338।

5. एंगेल्स, ''**ड्यूहरिंग मत खण्डन, मार्क्स-एंगेल्स की चुनी हुई कृतियां,** खण्ड 3, चीनी संस्करण, 1972, पृ. 336. **6.** स्तालिन, **सोवियत संघ की आर्थिक समस्याएं,** अंग्रेजी संस्करण पृ. 18. **7.** उपरोक्त, पृ. 19

8. जब उत्पादन के साधनों की आपूर्ति अस्थायी रूप से घट जाती थी, तब ''अल्पकालिक'' और ''निष्क्रिय'' सन्तुलन (जिसकी पाठ में आलोचना की गई है) ऐसी कमियों को दूर करने के लिए अपनाया जाता था।

9. माओ त्से-तुङ, ''सी.पी.जी.सी. की चौथी बैठक में जारी निर्देश'' से। 4 सितम्बर 1949 को *पीपुल्स डेली* में प्रकाशित। इसका थोड़ा भिन्न अनुवाद माइकल काउ और जान लिउङ, द्वारा संपादित *'दि राइटिंग्स ऑफ माओ जेदाङ',* 1949-76, खण्ड 1 (एर्माक, न्यूयार्क, एम.ई. शार्प, 1986) में उपलब्ध। पृ. 46-47. **10.** ''क्रान्ति पर पकड़ रखो, उत्पादन को बढ़ाओ और औद्योगिक मोर्चे पर नई जीतें हासिल करो'', में उद्धृत, *पीकिङ रिव्यू,* 28 फरवरी 1969 (9), पृ. 6. **11.** माओ, माओ त्से-तुङ की रचनाओं के उद्धरण, पृ. 28.

चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान तैयार की गयी पुस्तक **फण्डामेण्टल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी** (**दि शंघाई टेक्स्टबुक** के नाम से प्रसिद्ध) के अंग्रेजी संस्करण से हिन्दी अनुवाद : **सत्यम वर्मा**

'राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त' पुस्तक का प्रथम खण्ड **राहुल फाउण्डेशन,** 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ से प्रकाशित

'दायित्वबोध' के आगामी अंक की प्रमुख सामग्री

❍ 'संस्कृति चिन्तन' में मूलाधार और अधिरचना के सम्बन्धों के बारे में वोलोशिनोव का लेख

❍ कृषि के क्षेत्र में साम्राज्यवादी लूटतंत्र की खतरनाक साजिशों और घुसपैठ को सामने लाने वाला **भूपेश कुमार सिंह** का लेख **'तीसरी दुनिया में कृषि अनुसंधान का ढांचा'**

❍ **भारतीय क्रान्ति और कृषि प्रश्न**

❍ कम्युनिस्ट घोषणापत्र की 150वीं वर्षगांठ के अवसर पर **कम्युनिस्ट लीग का इतिहास - डी. रियाज़ानोफ**

❍ महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेजों की श्रृंखला में **पूंजीवादी-पथगामी पार्टी के भीतर बैठा बुर्जुआ वर्ग होते हैं**

❍ पुस्तक चर्चा के तहत **इस्तेफान मेस्जारोस** की पुस्तक **'बियॉंड कैपिटल'** पर

❍ क्रान्तिकारी चीन में नारी मुक्ति के ठोस कदमों पर **मीनाक्षी** का लेख

❍ तीसरी दुनिया में स्वयंसेवी संस्थाओं की राजनीति और लक्ष्यों पर कुछ और विशेष सामग्री

❍ **'राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त'** के दो अध्याय

❍ अमर्त्य सेन का अर्थशास्त्र

❍ बीमा विधेयक, पेटेंट विधेयक व अन्य प्रासंगिक मुद्दों पर जरूरी टिप्पणियां

❍ ब्रेष्ट, लोर्का, राब्सन की जन्मशताब्दी पर कुछ और विशेष सामग्री

पुस्तक चर्चा

गैरसरकारी संगठनों का असली मिशन

भूपेश कुमार सिंह

आज पूंजीवादी-साम्राज्यवादी शोषण अपने चरमोत्कर्ष पर है। पूंजीवादी और बाजार साम्राज्यवाद देश की अधिसंख्य जनता का अपने जटिल तंत्र और प्रक्रियाओं द्वारा निरन्तर शोषण कर उसे गरीबी, भुखमरी और दयनीय जीवन अवस्था की ओर ठेलते जा रहे हैं। खैर यह तो पूंजीवाद के अस्तित्व के लिए जरूरी है और यही उसे उसके अन्त यानी सर्वहारा क्रान्ति के हांथों उन्मूलन तक ले जायेगा। इस पूरी प्रक्रिया में सबसे आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि जनता में इन उत्पीड़क और लुटेरी गतिविधियों के प्रति एक उदासीनता और अज्ञान का माहौल है। सैनिक साम्राज्यवाद के दौर में भी जब संचार साधनों पर पूरी तरह सत्ताधारियों का नियंत्रण होता था, छापेखानों पर जबर्दस्त नियंत्रण होता था, जनता शोषण-उत्पीड़न और भेदभाव के प्रति पर्याप्त रूप से सजग थी।

बाजार साम्राज्यवाद के दौरान शोषण और लूट के प्रति जनता की रहस्यमयी उदासीनता अनायास नहीं है। यह पूंजीवादी ईश्वर की बुर्जुआ पुजारियों द्वारा अभ्यर्थना और साम्राज्यवादियों द्वारा निर्मित तमाम सुधारवादी तौर-तरीकों से लेकर बूढ़े पूंजीवाद के शरीर के दाग-धब्बों को छोटे-मोटे परिवर्तनों के मेकअप से ढंककर जनता का ध्यान भटकाने वाली रणनीति का ही नतीजा है। इसी रणनीति के सबसे बड़े क्रियान्वयक अंग के रूप में गैर सरकारी संगठनों (एन.जी.ओ.) की अहम और बड़ी भूमिका है। जनसामान्य में अपने शोषण और अन्य समस्याओं के मूल कारकों के प्रति उपेक्षा और निश्चेष्टता पैदा करने का काम ये संगठन बखूबी करते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि अकादमिक और राजनीतिक घेरों में भी ऐसे तमाम संगठन रैडिकल संगठन समझे जाते हैं।

अत: सचेतन इतिहास निर्माण की प्रक्रिया में इतनी बड़ी भूमिका रखने वाली एन.जी.ओ. लहर के उद्‌भव, विकास और प्रभावों को जानना-समझना किसी भी सामाजिक सरोकार वाले व्यक्ति अथवा संस्था के लिए जरूरी बन जाता है। पी.जी. जेम्स लिखित पुस्तक Non Govermental Organisations : True Mission इस कमी को बखूबी अंजाम देती है। हालांकि पुस्तक में दी गई कुछ प्रस्थापनाओं और इसके कुछ विश्लेषणों से सहमत नहीं हुआ जा सकता तथा एन.जी.ओ. के खतरनाक जाल के कुछ अहम पहलुओं को देख पाने या उनपर पर्याप्त जोर देने में लेखक चूक गये हैं लेकिन फिर भी यह पुस्तक बाजार साम्राज्यवाद के हितपोषण हेतु निर्मित अनेक संस्थाओं, उनके पारस्परिक समन्वय, कार्यप्रणाली और भूमिका को विस्तृत तथ्यों सहित उजागर करती है। इसलिए यहां हम इसमें दिये गये तथ्यों को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं जो आंखें खोलने वाले हैं।

ये गैर सरकारी संगठन छद्‌म प्रगतिशील से लेकर घोर प्रतिक्रियावादी जियोनिस्ट संगठनों तक हर प्रकार की गतिविधि में लगे हुए हैं।

1985 में संयुक्त राष्ट्र संघ की 40वीं आम सभा में जब 5 दिसम्बर को वालंटरी वर्क डे घोषित किया गया तब इस सद्य: अर्जित प्रतिष्ठा से न केवल नये एन.जी.ओ. संगठनों की फसल लहलहा उठी वरन तमाम सूखे और ठूंठ राहत और कल्याण संगठनों में भी कल्ले फूटने लगे और प्रासंगिकता खो चुके इसके अनेक कार्यकर्ता भी आगे आकर तमाम सामाजिक आन्दोलनों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेने लगे ही तथा साथ ही विकास की साम्राज्यवादी योजनाओं का प्रसार करने लगे।

इन विकास कार्यकर्ताओं के बीच सरकारी-गैर सरकारी का नकली भेद बनाने की साम्राज्यवादी कोशिश का पर्दाफाश करते हुए पी.जे. जेम्स बताते हैं कि कैसे राज्य मशीनरी और गैर सरकारी संगठन एक दूसरे से हिल-मिलकर आर्थिक नवउपनिवेशों में साम्राज्यवादी हितों की वकालत करते रहे। यहां तक कि जहां एन.जी.ओ. को सरकार से स्वतंत्र बताया जाता रहा वहीं भारतीय योजना आयोग ने आठवीं पंचवर्षीय योजना में 30,000 करोड़ रुपये स्वयंसेवी संगठनों द्वारा संचालित विकास गतिविधियों के लिए आवंटित किये।

•

वर्तमान गैर सरकारी स्वयंसेवी संगठनों के बीज अतीत में सैनिक साम्राज्यवाद के दौर की मिशनरी गतिविधियों में निहित हैं। हालांकि सैनिक साम्राज्यवाद के प्रत्यक्ष नियंत्रण के दौर में ध्यान बंटाने वाले तौर तरीकों की इतनी जरूरत नहीं थी। किन्तु अमरीकी साम्राज्यवाद की स्थिति एकदम अलग थी। इसका किसी भूखण्ड पर कभी भी प्रत्यक्ष नियंत्रण नहीं था। अमेरिका ने कुछ लातिनी अमेरिकी देशों पर मुनरो डाक्ट्रिन द्वारा पकड़ बना ली थी। इसके साथ ही धर्म के एक राजनैतिक अस्त्र के रूप में इस्तेमाल की शुरुआत 1812 में एक अमेरिकी मिशन के विदेश जाने से हुई। इसके बाद तो अमेरिकी मिशनरी संस्थाओं की बाढ़ सी आ गई। 19वीं सदी के दूसरे हिस्से में तो अमेरिकी पूंजी से संचालित मिशनरी गतिविधियां पूरी दुनिया में फैल गईं। अमेरिकी मिशनरियों की एक बड़ी संख्या भारत भी आती रही है।

अमेरिकन बैपटिस्ट मिशन से लेकर YMCA आदि धर्म आधारित सामाजिक मनोरंजन केन्द्र, ग्रीष्म शिविर आदि साम्राज्यवादियों द्वारा प्रायोजित वेतनजीवी नेतृत्व के तहत कार्य करने लगे और कुछ समय के अन्दर ही चर्च की छत्रछाया में प्रारम्भ हुए संगठन आत्मनिर्भर होकर स्वत: आगे बढ़ने लगे थे।

उन्नीसवीं सदी के अन्त तक बदली हुई विश्वव्यवस्था में चर्च की भूमिका ही नहीं बढ़ी वरन् वह अपने चिर शत्रु साम्यवाद से भी दो-चार हो गया। अत: अब चर्च द्वारा प्रवर्तित स्वयंसेवी संगठन थोड़ा अलग किस्म के थे। 1895 में विश्व ईसाई छात्र फेडरेशन की स्थापना हुई। हालांकि उस समय तक साम्यवाद वैचारिक स्तर पर सीमित था किन्तु अमेरिकी साम्राज्यवादी इसके विरुद्ध चर्च की उपादेयता को समझ चुके थे। इसी क्रम में अमेरिका में विश्व स्तर पर धार्मिक मत मतान्तरों के कई बड़े सम्मेलन आयोजित किये गये। (WCC—World Conference of Churches) की स्थापना के साथ ही विदेशों में जासूसी के लिए चर्च द्वारा प्रायोजित संस्थाओं की भी स्थापना की गई। 'जेसुईट स्कूल आफ फारेन सर्विस' और 'प्रोटेस्टेन्ट स्कूल आफ फारेन सर्विस' की स्थापना भी इसी दौर में हुई। यहां तक कि विल्सन के प्रति-जासूसी कार्यक्रम में रेडक्रास तक का दुरुपयोग किया गया। इन्हीं गतिविधियों को नया आयाम देने के लिए 1921 में अन्तरराष्ट्रीय मिशनरी कौंसिल की स्थापना की गई जो 35 देशों में फैली हुई थी। इसके साथ ही

अमेरिकी जासूसों को आवरण प्रदान वाले अमेरिकी मिशनरियों की संख्या कई गुनी बढ़ गई। यहां तक कि 1925 से 48 के दौरान केवल प्रोटेस्टैन्ट मिशनरियों की संख्या 650,000 से बढ़कर 2,530,000 हो गई।

कमोबेश यूरोपीय मिशनरियों की भी यही कहानी थी। हालांकि इराके पहले वे अफ्रीकी और एशियाई उपनिवेशों में धर्मान्तरण करते रहे थे। यही नहीं वेटिकन से सामीप्य की वजह से यूरोपीय पिशनरियों ने साम्यवाद के विरुद्ध पोप और मुसोलिनी का सहयोग किया।

इसी प्रक्रिया का एक प्रतिफल MRA (Moral Rearmament Army) या आक्सफोर्ड समूह आन्दोलन ब्रिटेन से उत्पन्न हो कर कई देशों में फैल गया जो नैतिक उत्कृष्टता और आध्यात्मिक पवित्रता तथा पापपूर्ण वासनाओं के उन्मूलन का उपदेश देती थी।

धर्मनिरपेक्ष लोकोपचार का उद्‌भव

लोकोपचार की मातृभूमि अमेरिका व इसके जनक तेल सम्राट राकफेलर हैं। राकफेलर ने अपनी अकूत सम्पत्ति के एक हिस्से से राकफेलर फाउण्डेशन की स्थापना की। इसकी देखा देखी स्टील सम्राट कार्नेगी ने कार्नेगी फाउण्डेशन की तथा मोटर वाहन सम्राट ने फोर्ड फाउण्डेशन की स्थापना की। 1920 आते आते सैकड़ों ऐसे न्यास सक्रिय हो चुके थे। इन सभी न्यासों का उद्‌देश्य दरअसल उपनिवेशों में फैल रही जनसंघर्षों की सुगबुगाहट को निष्क्रिय बनाने के लिए रणनीतियां तैयार करना था। इन न्यासों की स्थापना के साथ ही इन हत्यारी कम्पनियों ने संत का चोंगा पहन लिया। और खुद अपने ही द्वारा पैदा की गई भूख और गरीबी को दूर कराने के छद्‌म प्रयासों द्वारा अपनी काली करतूतों पर परदा डाल कर औपनिवेशिक लूट से जनसामान्य का ध्यान भटकाने के लिए उन्होंने अरबों डालर खर्च किये और कई गुना ज्यादा संगठित ढंग से आज भी कर रहे हैं।

अमरीकी आधिकारिक प्रकाशनों में भी स्वंयसेवी संगठनों की इस प्रवृत्ति की चर्चा की गई है। इन स्वंयसेवी संगठनों द्वारा जनकल्याण के राज्य के दायित्वों को निजी हाथों में ठेल निजीकरण की प्रवृति को एक मानसिक आधार भी प्रदान किया गया है। 1930 की मंदी के दौरान स्वयंसेवी संगठन राज्य के बोझ को घटाते हुए स्वास्थ्य, शिक्षा और जनकल्याण से संबंधित सेवाएं प्रदान कर रहे थे। यहां वहां सीमित मात्रा में, क्योंकि व्यापक जनसमुदाय को ये सुविधाएं समुचित मात्रा में उपलब्ध कराना इस व्यवस्था में संभव ही नहीं है।

राकफेलर फाउण्डेशन मानवता की विश्वव्यापी सेवा के लिए दो लक्ष्य घोषित करता है। प्रथम चिकित्सा अनुसंधान के लिए संसाधन जुटाना, दूसरा, समूची दुनिया में ईसाई मूल्यों और पश्चिमी सभ्यता की स्थापना करना। दरअसल राकफेलर फाउण्डेशन यह मानता था कि ''वर्तमान सभ्यता का 'मस्तिष्क' शिक्षा और तंत्रिका तंत्र 'विज्ञान' है तो निस्संदेह स्वास्थ्य इसका 'हृदय' है। फाउण्डेशन की ओर से चीन में एक मेडिकल कालेज की भी स्थापना कर दी गई। चीन में राकफेलर फाउण्डेशन की गतिविधियों को ''चीनी दिये के तेल का'' नाम दिया गया। इन सभी कार्रवाइयों का उद्‌देश्य केवल उस समय पनप रही चीनी क्रान्ति का शमन और एकाधिकारी बहुराष्ट्रीय निगमों के दुष्कृत्यों पर परदा डालने से आगे बढ़ कर अब तक उनकी पहुंच से दूर रहे बाजारों पर कब्जा कर उनका दोहन करना भी था।

इस प्रक्रिया द्वारा वे सामाजिक संरचना से परे साम्राज्यवादी शिक्षा संस्कृति से प्रशिक्षित व्यवसाइयों का एक ऐसा समूह खड़ा करना चाहते थे जो सुविधाजनक पीठों पर आसीन होकर अपनी पद और प्रतिष्ठा की धौंस से लोगों को साम्राज्यवाद के लिए अनूकूलित कर सके।

दूसरा विश्वयुद्ध और नवउपनिवेशवादी दौर

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान और उसके पश्चात विश्व परिदृश्य में कई परिवर्तन हुए। एक समाजवादी विश्व व्यवस्था उस समय अपने चरम पर थी जिसके आगोश में एक तिहाई मानवता पूंजी परम्पराओं के बंधनों से मुक्त हो प्रेम, सहयोग सहोदरता युक्त मानवीय गरिमापूर्ण जीवन जीते हुए प्रगति के पथ पर तेजी से कदम बढ़ा रही थी। साम्राज्यवादियों के बीच शक्ति संतुलन बिगड़ चुका था। जहां यूरोपीय साम्राज्यवादी युद्ध से थके पशुओं की तरह अपने घाव चाट रहे थे वहीं अमेरिका दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान व्यापार से अभूतपूर्व सम्पत्ति अर्जित कर सैनिक और आर्थिक रूप से सबसे शक्तिशाली साम्राज्यवादी के रूप में उभरा। किन्तु अमरीका ने सैनिक साम्राज्यवाद से कहीं ज्यादा हानिकर और अमंगलकारी व्यवस्था को जन्म दिया। यह नवउपनिवेशवादी व्यवस्था थी।

इस समय तक अमेरिकी एकाधिकारी निगम तथा कुछ अन्य यूरोपीय देशों के निगम विकसित होकर बहुराष्ट्रीय हो चुके थे। ये बहुराष्ट्रीय निगम पूरी दुनिया में अपने निवेश से लाभ निचोड़ रहे थे। इस प्रक्रिया में ब्रेटेनवुड्‌स संस्थाओं—विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष, 1947 के गैट चक्र ने एक ऐसी औपनिवेशिक व्यवस्था को जन्म दिया जिसमें पूंजीवादी राज्य, विश्व संस्थान और बहुराष्ट्रीय निगम समेकित रूप से शोषण में रत थे। इस व्यवस्था में पूंजीवादी देशों के संतृप्त बाजारों से पूंजी को पिछड़े राष्ट्रों में निर्यात कर ये निगम वहां से अति लाभ अर्जित करते हैं।

औपनिवेशिक सहायता कार्यक्रम और इसमें स्वयंसेवी गतिविधियों का समाकलन : उपरोक्त परिस्थितियों में साम्राज्यवादी पूंजीपतियों के लिए जरूरी था कि ये अपने कनिष्ठ साझीदारों—स्थानीय शासक वर्गों का हितपोषण करें जो कि ऋण पूंजी को सहायता के नाम पर भेजकर ही हो सकता था। उस समय तक लोकोपचार और स्वयंसेवा की दो परिपाटियां थी। धार्मिक दातव्य की मसीही परिपाटी और धर्मनिरपेक्ष लोकोपचार की न्यास परिपाटी।

दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात इन दोनों परम्पराओं का भेद लगभग समाप्त हो गया और उनकी स्वायत्तता निरर्थक। अतः स्वयंसेवा के नये अन्तरराष्ट्रीय अनुभव से लैस यह दोनों ही लोकोपचारी परम्पराएं अब एकाधिकारी पूंजी के हितों के अनुकूल योजनाएं बनाने लगी थीं। अब औपचारिक अमेरिकी सहायता स्वयंसेवी योजनाओं के साथ बद्ध रूप से उपलब्ध होने लगी। स्वयंसेवा के निहित उद्‌देश्यों पर प्रकाश डालने वाली रोपन गैंदर रिपोर्ट आलोच्य पुस्तक में भी उल्लिखित है :

''जैसे-जैसे एशिया और यूरोप में साम्यवाद का ज्वार चढ़ता जा रहा है अमेरिका की स्थिति निर्णायक होती गई है। हम हर जगह स्वतंत्र मनुष्यों को और समर्थ बनाने की लड़ाई भारी कीमत चुका कर लड़ रहे हैं। ऐसे लोगों की जरूरतें खासकर गरीब देशों में अनन्त हैं, किन्तु उनके जीवन स्तर में सुधार हमारी सुरक्षा के लिए अपरिहार्य है। उनका जीवन स्तर सुधारने के लिए जरूरी है कि वे हमारी पूंजी, ज्ञान और जीवन शैली का आयात और प्रयोग करें। ऐसा आभास होता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका ही एकमात्र देश है जो इस अति वांछित सहायता का कोई अंश उपलब्ध करा सकता है। (Rowan Ganther Report, November 1949, pg. 16, Ref.20)

साम्यवाद के खतरे ने खूंखार पूंजीवादी बाघों को बाध्य कर दिया कि वे अपने नाखून समेट कर गद्‌देदार पंजों के रूप में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को आगे बढ़ायें। यही वजह है कि पूंजीवादी शक्तियां आर्थिक और सैनिक सहायता द्वारा नव उपनिवेशों के दलाल शासक वर्ग को साम्यवाद के विरुद्ध सामरिक रूप से सक्षम बनाने का भी प्रयास करती रहीं।

इसी के साथ ही दान और लोकोपचार का स्वरूप भी बदल गया। इसका लक्ष्य परमार्थ के बजाय समुदाय के सामूहिक हितों की अभिव्यक्ति थी। अमेरिकी निगम न्यासों के समुदाय में यह सामूहिक हित आर्थिक उपनिवेशवाद था। इस लक्ष्य के संधान के लिए इन न्यासों ने मध्य और उच्च मध्य वर्ग के स्वयंसेवकों को महिला क्लबों, अनाथालयों, अस्पतालों

तथा रोटरी क्लब आदि में सक्रिय किया जो पुराने गसीही कार्यक्रम का नया विस्तार मात्र थे। इन कार्यक्रमों के साथ ट्रूमैन के चार सूत्री कार्यक्रम ने, 40 के दशक में नवउपनिवेश के विस्तार में भारी भूमिका निभायी। साम्राज्यवाद अपनी प्रत्येक रणनीति में पिछली रणनीति का समाहार भी करता रहा। चीन में परीक्षित राकफेलर फाउण्डेशन की विज्ञान, चिकित्सा और शिक्षा की रणनीति, ट्रूमैन डाक्ट्रिन के साथ ही गरीबी पर आक्रमण का स्वांग करने वाला कीन्स का आर्थिक सिद्धान्त आदि मिलकर मार्क्सवाद के विरोधियों को एक वैचारिक अस्त्र प्रदान करते थे।

1947 में CIA की स्थापना के साथ ही स्वयंसेवी संगठनों का क्षितिज और भी विस्तारित हो गया। इनका उद्देश्य एक ऐसा आवरण तैयार करना था जिसमें कोई भी अमेरिकी नागरिक प्रच्छन्न रूप से पूरी दुनिया के किसी भी कोने में आ जा सकता था। दरअसल इस सोच का जन्म भी वुडरो विल्सन द्वारा रेडक्रास का जासूसी के लिए इस्तेमाल से हुआ था। इसी कड़ी में WCC की होड़ में ICC की स्थापना भी की गई जो साम्राज्यवाद के हितों का बेहतर प्रतिनिधित्व करता था। उसी दौर में ये कई संगठन खड़े हुए जो साम्यवाद को नकारने से बढ़ कर उसके विरुद्ध संघर्ष करते हुए किसी भी हद तक जाने को तैयार थे। जैसे 5 मई 1948 को मनीला में सम्पन्न अमेरिकी मेथोडिस्ट चर्च की आम सभा ने साम्यवाद के विरुद्ध विश्वव्यापी अभियान के लिए चार वर्षों में 50 मिलियन डालर खर्च करने का प्रस्ताव बनाया था। ऐसे ही तमाम संगठन CIA के खेल में शामिल थे। इनके अलावा CIA ने तमाम ऐसे संगठन खड़े भी किये। जैसे 1953 में फुटपाथ पर सोने वाले एक व्यक्ति ने एक ऐसी संस्था की स्थापना कर दी जो पूरी दुनिया में लाखों डालर की दवाएं और डाक्टरी सहायता बांटती फिरती थी।

इसके अलावा स्वयंसेवी संगठनों की गतिविधि का एक नया आयाम औपचारिक सहायता कार्यक्रम' था। 'अतिरिक्त सामग्री कार्यक्रम' (जो बाद में 1954 के पी.एल.-480 एक्ट द्वारा शान्ति के लिए खाद्यान्न कार्यक्रम में बदल गया) की स्थापना अमरीकी सरकार द्वारा विश्वयुद्ध के ठीक बाद की गई। दरअसल अमेरिकी एग्रीबिजनेस निगमों के दबाव में अतिरिक्त कृषि उपज को खपाने के लिए अमरीकी औपचारिक संगठन अन्तरराष्ट्रीय सहयोग प्रशासन (जो बाद में USAID का जन्मदाता बना) बना जो अमेरिकी फार्मों पर प्रचुर मात्रा में उत्पादित अनाज पूरी दुनिया में फैले हुए वितरण तंत्र द्वारा तीसरे दुनिया के शासकों के नवउपनिवेशों हाथों में पहुंचाता था। ये शासक अपने यहां फैल रहे सामन्तवाद-साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों के शमन में इस अनाज का प्रयोग करते थे। इसके प्रतिदान स्वरूप वे अपने यहां बहुराष्ट्रीय निगम समर्थक नीतियां बनाते रहते थे। इसके अलावा इस सहायता द्वारा बड़ी संख्या में 'भात ईसाई' (Rice Christians)* भी बनाये गये।

अमेरिकी स्वयंसेवी गतिविधियों में एक और उछाल 1960 के दशक में आया। दरअसल उसी दशक में स्पूतनिक I प्रक्षेपण से लेकर क्यूबा क्रान्ति तक कई ऐसी घटनाएं घटीं जिससे पूरी दुनिया में अमेरिकी प्रभुत्व को चुनौती मिली। स्वेज संकट के दौरान रूस की चेतावनी ने अमरीका के विश्व दायित्व की अवधारणा को ही ध्वस्त कर दिया। ऐसी परिस्थितियों में केनेडी की प्रतिक्रिया का नतीजा था—'प्रगति का समझौता'—एक बहुमुखी योजना जिससे न केवल पश्चिमी देशों में साम्यवाद के विरुद्ध लड़ाई तेज होती थी बल्कि गरीब देशों में चैरिटी भी बढ़ गई थी। इस प्रक्रिया में IAC का नया रूप USAID अमेरिकी विदेश विभाग के ही एक अंग के रूप में कार्य करने लगा।

इसी प्रक्रिया को और आगे बढ़ाने के लिए अमरीकी सरकार ने 1961 में शान्ति कोर (Peace Corps) स्थापित किया। इसका लक्ष्य मिशनरी कल्याण कार्यों में व्याप्त तदर्थवाद को समाप्त कर व्यावसायिक स्वंयसेवकों द्वारा अमेरिकी साम्राज्यवादी उद्देश्यों को स्थायित्व प्रदान करना था। इसकी स्थापना के दो वर्षों के भीतर ही 5000 पीस कॉर स्वयंसेवक दुनिया के 50 देशों में फैल चुके थे। 1966 में 52 देशों में 15,556 पीस कॉर कार्यकर्ता कार्यरत थे। इसके साथ ही पूरी दुनिया में शान्ति अध्येताओं की पूरी जमात खड़ी होने लगी थी।

यू.एस.एड, पीस कॉर और सी.आई.ए. तथा अन्य एकाधिकारी पूंजीपतियों के गठबंधन ने दूसरे देशों की जानकारी के लिए अनुसंधान की व्यापक शुरुआत कर दी। अमेरिकी विद्यार्थियों को तीसरी दुनिया के देशों के बारे में "जागरूक" बनाने के लिए Midwest University Consortium for International Activities (MUCIA) की स्थापना की गई। इसी प्रकार एकाधिकारी निगमों ने कम से कम 17 ऐसे संस्थानों की स्थापना की जो अन्तरराष्ट्रीय अध्ययन के विशिष्ट केन्द्र थे। इनके अधिकांश विद्यार्थी स्वयंसेवी संगठनों के भावी कर्णधार थे। इनके अलावा ये संस्थान विदेशी छात्रों को साम्यवाद से लड़ना भी सिखाते थे।

इसी कालखण्ड में केनेडी के 'प्रगति के समझौते' के अलावा सी. आई.ए. ने भी कुछ अनुसंधान परियोजनाएं प्रस्तुत कीं जो मुख्यतया औपनिवेशिक नियंत्रण के लिए उपयोगी थीं; इन परियोजनाओं के संचालन के लिए कुछ विशेषज्ञ स्वयंसेवी संगठनों की भी स्थापना की गई। इन परियोजनाओं की सूची से ही इनके अन्तर्निहित उद्देश्य साफ हो जाते हैं। एक स्वयंसेवी संगठन मानवजाति अनुसंधान असीमित (Mankind Reasearch Unlimited) की अनुसंधान रुझानों में 'जैवभौतिकी', 'बायोसाइबरनेटिक्स' 'व्यवहार विज्ञान' (Behavioral science) और मनोभौतिकी शामिल थे। इसी प्रकार अन्य स्वयंसेवी संगठन क्रमशः CEPTAR, SAFE, MRF आदि भी कैंसर अनुसंधान से लेकर मानव शरीर पर कम्पन आदि भौतिक प्रभावों का अध्ययन करते थे, जिसका अन्तिम लक्ष्य "उच्च कोटि के यंत्रों तथा तकनोलाजी' द्वारा 'दिमाग' का नियंत्रण करना था।

उपरोक्त शासकीय छत्रछाया में सैकड़ों अमेरिकी स्वयंसेवी संगठन उग आये। ये संगठन तमाम उपनिवेशों में अपनी शाखाएं या सहयोजित चैप्टर खोलने लग गये। इन संगठनों में CARE से लेकर OXFAM और VISTA तक असंख्य संगठन शामिल थे।

इन में से कुछ संगठन सहकारी ऋण/संस्थाओं और भूमिहीन किसानों के बीच सेतु की भूमिका निभाने लगे, तो अन्य पर्यावरण, और "जनकेन्द्रित" मुद्दे उठाने लगे। लिंडन जानसन और निक्सन के दौर में अमेरिकी स्वयंसेवी संगठनों के विस्तार और उनकी विविधता में एक बार फिर से तेजी आई। जानसन अपने आर्थिक अवसर अधिनियम 1964 के द्वारा VISTA की स्थापना के कारक बने। 1970 में VISTA के 4450 कार्यकर्ता क्षेत्रों में सक्रिय थे। निक्सन ने अपने नए वालंटियरिज्म के तहत निजी दायित्वों और जनसहयोग के मिश्रण से सामाजिक समस्याओं के समाधान के प्रयोग की घोषणा की। 1971 में उन्होंने एक प्रशासनिक आदेश द्वारा ACTION की स्थापना की और स्वयंसेवी गतिविधियों को बाकायदा संघीय नौकरशाही का अंग बना दिया। इस प्रक्रिया में स्वयंसेवी संगठन अकूत धन खर्चते हैं। इस समूचे खर्च का एक अनुमान 1974 का उपलब्ध है जिसके अनुसार स्वयंसेवी संगठनों ने 66 बिलियन डालर केवल अमरीका से प्राप्त किये।

अन्य देशों के स्वयंसेवी संगठन

विश्वयुद्ध के ठीक बाद अमरीका से बाहर कनाडा को छोड़कर विश्व की लगभग सभी पूंजीवादी ताकतें युद्ध से छिन्न-भिन्न अर्थव्यवस्थाओं को संभालने में लगी थीं। अतः वे औपनिवेशिक उद्देश्यों, जैसे स्वयंसेवी संगठनों के लिए कुछ खास नहीं कर पाये। किन्तु साठ का दशक आते-आते सैकड़ों यूरोपीय स्वयंसेवी संगठन इन देशों में छा गये।

किन्तु कनाडा का केस कुछ अलग था। कनाडा ने अमेरिका की

* "भात ईसाई तभी तक ईसाई रहेगा जब तक वह भूखा है।(अतः उसे भूखा रखो)"

नकल करते हुए अपने यहां स्वयंसेवी संगठनों का जो ढांचा खड़ा किया वह अमरीकी संगठनों की प्रतिच्छाया थी। 60 का दशक आते-आते कनाडा का स्वयंसेवी संगठनों पर खर्च दुनिया में तीसरे स्थान पर था। और कनाडा के कुल बजट में स्वयंसेवी संगठनों पर खर्च पूरी दुनिया में पहले स्थान पर था।

1960 के दशक का मध्य आते-आते यूरोपीय पूंजीवादी देश कम से कम स्वयंसेवी संगठनों के मामले में अमरीका और कनाडा की बराबरी करने लगे थे। इस साम्यवाद विरोधी अस्त्र के निर्माण में जर्मनी (तब पश्चिम) ने बाकी यूरोपीय देशों का नेतृत्व किया और तमाम स्वयंसेवी संगठन उठ खड़े हुए।

इसके अलावा लगभग सभी देशों में एक छाता-संगठन बन गया जो खासतौर पर स्वयंसेवी गतिविधियों की देखरेख करता था, जैसे (पश्चिम) जर्मनी में आर्थिक सहयोग मंत्रालय (BMZ) इंग्लैण्ड में मिनिस्ट्री आफ ओवरसीज डेवलपमेंट', स्विटजरलैंड में SDC, नार्वे में NORAD आदि ।

इसके अलावा इन सभी देशों में शान्ति प्रतिष्ठान भी खूब बने। 60 के दशक का अन्त होते-होते ये सभी संगठन एक अखिल यूरोप स्तरीय समन्वयक समिति ICVA के तहत कार्य करने लगे जिसका मुख्यालय जिनेवा में था।

पूंजीवाद का गहराता संकट—गैर सरकारी संगठनों के नए मोर्चे

1970 का दशक आने तक पूंजीवादी तंत्र एक अभूतपूर्व और दुरूहतम संकट में उलझ गया। हालांकि इसके लक्षण 60 के दशक में दीखने लगे थे जब इंग्लैण्ड को अपना भुगतान सन्तुलन कायम रख पाने में असमर्थ होकर मजदूरों पर बर्बर मुद्रा नीति लागू करनी पड़ी। 1967 से 72 के बीच पूंजीवादी तंत्र को सात भीषण झटके सहने पड़े जिसे 'स्वर्ण ज्वर' के नाम से जाना जाता है। यही नहीं मन्दस्फीति (stagflation) ने कीन्सवाद की कमर ही तोड़ दी। कीन्सवाद के पतन का पहला शिकार बुर्जुआ व्यवस्था का सबसे शानदार कंगूरा यानी 'कल्याणकारी' राज्य की अवधारणा थी। पूंजीवादी शासक सामाजिक खर्चों में कटौती कर पूंजीवादी संकट के समूचे भार को मेहनतकश वर्गों के कंधों पर डाल देना चाहते थे।

साम्राज्यवादी शक्ति केन्द्रों में हुए परिवर्तनों का प्रभाव उपनिवेशों में भी पड़ा। अब साम्राज्यवादी लूट और भी गहनतर और भयावह हो गई। विश्वबैंक-मुद्राकोष के तत्वावधान में उरुग्वे चक्र वार्ता और विश्व व्यापार संगठन के द्वारा भी इस प्रक्रिया को और बल मिला। उनके द्वारा प्रवर्तित संरचनागत समायोजन कार्यक्रम ने लातिनी अमेरिका में 'आर्थिक नस्ल संहार' को अंजाम दिया। नवउपनिवेशों से अरबों डालर की सम्पत्ति के पलायन से वहां अभूतपूर्व ऋण संकट खड़ा हो गया। उनके घरेलू क्षेत्रों में बेरोजगारी, मजदूरी में ह्रास, स्वास्थ्य, शिक्षा एवं सामाजिक सुरक्षा के खर्च में कटौती आदि हुई। ऐसी ही वस्तुगत परिस्थितियों ने स्वैच्छिक गतिविधियों को नया आयाम दिया।

सिद्धान्त की जरूरत : 60 के दशक में विश्व स्तर पर कई व्यापक उथल-पुथल हुए। पूरी दुनिया में साम्राज्यवाद विरोधी जनसंघर्षों का ज्वार आया हुआ था। अन्तरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर महान बहस चल रही थी। इस बहस के दौरान माओ त्से-तुङ की प्रेरणा से समूची दुनिया में संसदीय संशोधनवाद के विरुद्ध मार्क्सवादी-लेनिनवादी संगठन खड़े हो रहे थे।

इन परिस्थितियों का सामना करने के लिए बनाई गई रणनीति की मुख्यतया तीन कार्यदिशाएं थी। पहली कार्य दिशा सीधी और सपाट थी—जनउभारों को प्रत्यक्ष सैनिक दमन द्वारा कुचल देना। दूसरा रास्ता सुधारवादी प्रवृत्ति का था। किन्तु पूंजीवाद अपने संकट की वजह से इसे लम्बे समय तक जारी न रख सका।

तीसरी रणनीति ध्यान बंटाने वाली थी जो रणनीति की दृष्टि से सबसे दूरदर्शी रणनीति थी। दरअसल 60 के दशक के दौरान साम्राज्यवादी सत्ता केन्द्रों में स्थित अनुसंधान केन्द्रों के सामूहिक प्रयास द्वारा यह सुझाया गया कि साम्यवाद के सुधारवादी "विकल्प" में ही यह संभावना थी कि वह जन सामान्य का ध्यान वर्ग आधारित सोच से परे भटका सके। दरअसल पूंजीवादी सत्ता केन्द्रों के पालतू चिन्तकों का प्रयास तो पूंजीवाद को ही समाजवाद घोषित कर देने का था। ब्रिटिश सिद्धान्तकर जान स्ट्रेची का कहना था कि राज्य, राजनीतिक दल और श्रमिक संघ की उपस्थिति मात्र से पूंजीवादी नियमों की प्रवृत्ति बदल जाती है। यहां तक कि फ्रैंकफुर्ट के 'नववामपंथी' तो यहां तक पहुंच गये कि कीन्स मार्क्स के पूरक हैं। इस सारी कवायद का उद्देश्य ही यह था कि किसी प्रकार मेहनतकश वर्गों की क्रान्तिकारी एकता को दिग्भ्रमित कर उनके बीच अविश्वास के बीज बोए जायें ताकि उनकी संघर्ष क्षमता क्षरित हो जाये। तमाम सुधारवादी सिद्धान्तकार तो यह भी दुष्प्रचार कर रहे थे कि मार्क्स और एंगेल्स के काल का सर्वहारा विलुप्त हो गया है और उसकी जगह नए मध्यवर्ग ने ले ली है। इस रूपान्तरण के साथ ही पूंजीवाद कल्याणकारी राज्य में बदल गया है। वे साबित करना चाहते थे कि इस परिवर्तन के साथ ही वर्ग संघर्ष अप्रासंगिक हो गया है और इसके दायित्व जन आंदोलनों के कंधे पर आ गये हैं।

साम्राज्यवादी उच्चाटक प्रक्रिया स्थानीय परम्पराओं का भी दुष्प्रयोग करती है। इसका एक उदाहरण पाओलो फ्रेअरे की 'अनौपचारिक शिक्षा' है। इसी क्रम में सौल अलिंस्क का 'सहभागिता द्वारा' अधिकारसम्पन्न करना (Empowerment by People's Participation) तथा अन्य कैथोलिक धर्मशास्त्रियों के सुधारवादी कदम भी थे।

अब तक साम्यवाद का वैचारिक विकल्प ढूंढ़ने में बेचैन हो रहे साम्राज्यवादी चिन्तकों को उपरोक्त सुधारवादी कदम दैवी सहायता के तौर पर मिले। नवउपनिवेशों में उद्भूत इन सुधारवादी कार्यक्रमों तथा समाजवाद के संशोधनवादी खेमे द्वारा प्रस्तुत 'वर्ग सहअस्तित्व' के सिद्धान्त ने एकाधिकारवादी पूंजी को एक सशक्त वैचारिक आधार प्रदान किया। इस आधार को गढ़ने तथा मार्क्सवाद-लेनिनवाद का प्रतिक्रियावादी जवाब गढ़ने के लिए फ्रेअरे, अलिंस्की, ग्विटरेज, गांधी यहां तक कि चे ग्वेरा और ग्राम्शी के विचारों का घालमेल कर एक ऐसी रणनीति को जन्म दिया जिसे गैर सरकारी संगठन अपने कार्यक्रम में प्रयोग करते थे।

उपरोक्त सिद्धान्तों का अनुपालन करते हुए तमाम गैर सरकारी संगठन और उनके परवर्ती गरीबी, भूख और बेरोजगारी की संरचना का अध्ययन करने लगे। ये संगठन जहां अपने विश्लेषण में मार्क्सवादी थे वहीं अपने राजनीतिक कर्म में वे वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का खुल कर निषेध करते थे। यही वजह थी कि ये संगठन उपनिवेशवादी तंत्र की कटु निन्दा तो करते थे पर राज्यसत्ता पर कब्जा करने के प्रस्ताव मात्र से लजा जाते थे।

जनसहभागिता के नए आयाम

उपरोक्त सैद्धान्तिक आधारों पर कुछ पायलट प्रोजेक्ट कुछ स्थानों पर चलाए गये जो बाकी क्षेत्रों के लिए 'प्रयोगशाला' का कार्य कर रहे थे। विश्वबैंक द्वारा 1973 में पियरसन आयोग की स्थापना स्वैच्छिक संगठनों को भूमिका परिवर्तन के लिए हरी झंडी साबित हुई। अब स्वैच्छिक संगठन संयुक्त राष्ट्र संघ के निकायों के पूरक के रूप में सक्रिय हो गये।

1970 के दशक के दौरान ही फ्रेअरे के दर्शन और 'अश्वेत धर्मशास्त्र' से प्रभावित होकर WCC ने CPCD की स्थापना की। इसके द्वारा वे सापेक्षिक रूप से दक्षिणपंथी स्रोतों से एकत्र धन सुधारवादी वामपंथी उद्देश्यों के लिए खर्च करते थे। इस प्रकार की सहायता का सबसे उल्लेखनीय उदाहरण WCC है जिसने अफ्रीकन नेशनल कांग्रेस की सहायता की।

इसी काल खंड में बाजार उपनिवेशों में 'जन केन्द्रित विकास' के

लिए उपयुक्त सांगठनिक स्वरूप तथा प्रबंध और अनुसंधान पद्धतियों का निर्माण करने की दिशा में कई औपचारिक प्रयास किये गये। इस उद्देश्य के लिए इंग्लैण्ड, जर्मनी अमेरिका आदि में गैर सरकारी संगठन समन्वित होकर राष्ट्रीय संगठन बना रहे थे। इसकी चरम परिणति 1979 में EEC/NGO सम्पर्क समिति की स्थापना के रूप में हुई जो अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर गैर सरकारी संगठनों की सर्वोच्च समन्वयक संस्था है। इसी दशक के दौरान बाजार साम्राज्यों (नवउपनिवेशों) के कई देशों में गैर सरकारी संगठनों के गठन की प्रक्रिया शुरू हो गई। यह प्रक्रिया दक्षिण एशिया में ज्यादा स्पष्ट रूप में परिलक्षित हुई। भारत में फेरा कानून, सोसाइटी रजिस्ट्रेशन एक्ट (1973) आदि इसी प्रक्रिया के प्रतिफल थे। भारत, थाइलैण्ड, फिलीपीन्स, इंडोनेशिया, श्रीलंका आदि देशों में पहले से जारी फोर्ड और राकफेलर फाउण्डेशन के कार्य भी इसी के साथ जुड़ गये।

इसी क्रम में बांग्लादेश में बांग्लादेश ग्रामीण विकास समिति (BRAC) की स्थापना एक लेखाकार फजले मसूद आबिद ने की जो ''नव उद्यमिता'' के विकास में लगी। इसके द्वारा ही BCRM का संगठन किया गया जिसका उद्देश्य स्वैच्छिक संगठनों और सरकारी संस्थाओं के संबंधों में मजबूती लाना था। ये सभी संगठन भूमिहीन मजदूरों तथा कमजोर वर्गों के बीच ही कार्य करते थे।

इसी प्रकार इंडोनेशिया में फोर्ड फाउण्डेशन और यू.एस.एड. द्वारा संयुक्त रूप से प्रायोजित एक स्थानीय स्वैच्छिक संगठन (LPBES) अस्तित्व में आया जिसके कार्यभारों में जलउपयोग और जल प्रबन्ध मुख्य थे। इसके अलावा इसने CARE (इंडोनेशिया) के साथ मिलकर 'ग्रामीण जलप्रबंध' के विस्तार के कार्यक्रम बनाए।

एक और दक्षिण एशियाई देश फिलीपीन्स में एक गैर सरकारी संगठन PBSP (सामाजिक प्रगति के लिए व्यापार) की स्थापना का लक्ष्य लोगों को गतिशील करना था। हेलेन केलर इन्टरनेशनल (HKI) के साथ मिलकर PBSP सामुदायिक सहभागिता द्वारा स्वास्थ्य सेवाएं सुनिश्चित करने हेतु सक्रिय रही। अब स्वयंसेवी संगठन राहत एवं सहायता देने के बजाय विकास के वैकल्पिक मुद्दे तय करने लगे थे। इसके पीछे मुख्य कारक साम्राज्यवादियों की यह सोच थी कि गैर सरकारी संगठन मुद्रा कोष-विश्वबैंक जोड़ी की बनिस्बत उनके हितों को बेहतर ढंग से साध सकते हैं। गैर सरकारी संगठनों की क्षमता विश्वबैंक के दुष्कृत्यों के प्रत्यक्ष परिणामस्वरूप आये अफ्रीकी दुर्भिक्ष के दौरान नजर आयी। इन संगठनों के प्रयासों द्वारा ही अमेरिकी फालतू खाद्य अफ्रीका में खप गया और इसकी तार्किक परिणति अफ्रीकी खाद्य उत्पादन के संकुचन के रूप में प्रकट हुई। वे खाद्यान्न के स्थान पर विकसित देशों की जरूरतें पूरी करने के लिए निर्यात फसलों का उत्पादन करने को मजबूर हुए।

स्वयंसेवी गतिविधियों की नवउपनिवेशों में महत्ता वहां सक्रिय औपचारिक निकायों की असफलता से और भी बढ़ गयी। दरअसल गैर सरकारी संगठन औपचारिक संगठनों द्वारा चलाये जा रहे कार्यक्रम के लिए ज्यादा कुशल माध्यम थे। 1980 में ब्वाइंट कमीशन की स्थापना के साथ ही OECD समेत अनेक अन्तरराष्ट्रीय संगठनों ने अनौपचारिक क्षेत्र की भूमिका पहचान ली थी। यह वजह है कि जहां थैचर-रीगनवाद के दौरान बजट में अनुदानों की कटौती हो रही थी वहीं अनौपचारिक क्षेत्र के अनुदान अक्षुण्ण बने रहे।

स्वैच्छिक संगठन : संरचनागत समायोजन के अनुचर

कीन्सवाद के पतन के साथ ही भारी ऋण से ग्रस्त नवउपनिवेशों में संरचनागत समायोजन प्रारम्भ हो गया था। इस प्रक्रिया द्वारा मुद्राकोष-विश्वबैंक नव उपनिवेशों के आर्थिक प्रबंध में राजनैतिक हस्तक्षेप करने लगे थे। इसके फलस्वरूप वेतन वृद्धियां रोक दी गयीं। सामाजिक खर्च में कमी लाई गई। प्रत्यक्ष करों की बजाय अप्रत्यक्ष कर बढ़ा दिये गये। इसके परिणाम व्यापक भूख, विषमता, बेरोजगारी और मुद्रास्फीति के रूप में सामने आये। इसी वजह से कुछ उपनिवेशों में विस्फोटक रूप से विश्वबैंक विरोधी दंगे होने लगे थे। ऐसी ही परिस्थितियों में अपनी 'सहभागिता' आधारित योजनाओं द्वारा पीड़ित जनता का ध्यान बंटाने के लिए गैर सरकारी संगठनों की उपादेयता बढ़ गई।

गैर-सरकारी संगठनों के साथ विश्वबैंक-मुद्राकोष की हेलमेल बढ़ाने की तथा उन्हें विश्वबैंक का अनुचर बनाने की पहली कोशिश '80 के दशक के बीच में की गई। विश्व बैंक-एन.जी.ओ. कमेटी की स्थापना हुई। इसके बाद साझे उद्यम के तौर पर IFCA की स्थापना हुई। इनकी और इन जैसे अन्य संगठन जैसे OXFAM-UK आदि का उद्देश्य जनता के गुस्से को ठंडा कर उनकी आंखों में धूल झोंकना था। जैसे 1986 में उरुग्वे चक्र वार्ता के दौरान तमाम गैर सरकारी संगठन GATT के विरुद्ध उद्वेलित और आन्दोलित हो रहे थे। अक्टूबर 1992 में इन्होंने प्रसिद्ध हैम्बर्ग घोषणा भी जारी की। इसके विरुद्ध PP-21 नामक कार्यक्रम 'थर्ड वर्ल्ड नेटवर्क' द्वारा लाया गया। किन्तु इसके एक नेता नंजुदास्वामी एक विदेशी कांफ्रेन्स में इसके विपरीत घोषणाएं करते रहे।

ध्यान भटकाने वाले उद्देश्यों के अलावा गैर सरकारी संगठनों के दायित्व में विश्व बैंक की कुछ नीतियों को क्रियान्वित करना भी था। दरअसल ये संगठन बहुराष्ट्रीय निगम समर्थक विश्वबैंक की नीतियों को मानवीय चेहरा प्रदान करते थे। सामाजिक वानिकी कार्यक्रम, बचपन बचाओ कार्यक्रम आदि कुछ ऐसे ही कार्यक्रम थे।

कुछ स्वयंसेवी संगठन भ्रष्टाचार और घोटाले में भी लिप्त थे। इस सन्दर्भ में डेविड बैरेट का कथन उल्लेखनीय है... '' इन अपराधों के पीछे एक मुख्य कारक पश्चिमी दान दाताओं द्वारा तीसरी दुनिया के गिरजाघरों को दी गई सहायता को सत्यापित करने में बरती लापरवाही है।''

1960-70 के दशकों के दौरान फोर्ड फाण्डडेशन द्वारा प्रवर्तित 'जनसहभागिता द्वारा विकास' स्वयंसेवी गतिविधियों की शुरुआत भर था। 80 के दशक के दौरान फोर्ड फाउण्डेशन के दक्षिण एशियाई केन्द्र ने कई ऐसे केन्द्र स्थापित किये जो ऐसे कार्यक्रम बनाते थे जो 'समुदाय' के हाथों में तथाकथित सत्ता देकर उसे विकसित करते थे।

इन सामुदायिक कार्यक्रमों का एक पहलू यह भी है कि यूनिसेफ की रिपोर्टों से यह जाहिर होता है कि अफ्रीका में कार्यरत कई स्वैच्छिक संगठन जो स्वास्थ्य के क्षेत्र में कार्यरत थे वे 'उपभोक्ता वित्त पोषण' और 'अस्पताल विकास परिषद' द्वारा बेहतरीन 'लागत वसूली' कर रहे थे। दरअसल वे जनता की भागीदारी के नाम पर संरचनागत समायोजन को अन्य ढंग से लागू कर रहे थे।

इनसे परे स्वैच्छिक संगठनों की एक और प्रजाति भी है जो संयुक्त राष्ट्र संघ की विशिष्ट एजेन्सियों के साथ मिलजुल कर कार्य करते हुए भी विश्वबैंक के पक्के अनुचर नहीं बने। पर्यावरण और जंगल जीवन के क्षेत्र में कार्य कर रही संस्थाएं आमतौर पर इस समूह में आती है। ऐसी संस्थाओं की गतिविधियों की पड़ताल के लिए एक स्वतंत्र प्रयास की आवश्यकता पड़ेगी।

स्वास्थ्य के क्षेत्र में कार्यरत ज्यादातर स्वैच्छिक संगठन आमतौर पर अन्तरराष्ट्रीय एकाधिकारी निगमों के प्रोपेगैंडा निकाय की तरह कार्य करते थे। जैसे IBFAN (इंटरनेशनल बेबीफूड एक्शन नेटवर्क) जो स्तनपान के स्थानापन्नों के लिए आचार संहिता गढ़ने के घोषित उद्देश्य से सक्रिय हुआ था पर अन्ततः शिशुआहार निर्माताओं का औजार साबित हुआ। उल्लेखनीय है कि जब स्वैच्छिक संगठन नवउपनिवेशों में 'जन्म नियंत्रण' के ढोल पीट रहे थे तभी उनके ही आनुषंगिक संगठन अमेरिका में गर्भपात के विरुद्ध जुलूस निकाल रहे थे। इन सभी प्रयासों को अन्तरराष्ट्रीय दवा निर्माताओं का

समर्थन हासिल था। इस कार्य को साधने में स्वयंसेवी संगठनों को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा दी गयी सलाहकार की मान्यता साम्राज्यवादी उद्देश्यों के लिए काफी उपयोगी सिद्ध हुई। खासकर नवउपनिवेशों में कनिष्ठ साझेदार शासकों को गैट और विश्व व्यापार संगठन के लिए राजी करने में इनकी बड़ी भूमिका थी।

टिकाऊ विकास : यह गैर सरकारी संगठनों के सामाजिक माहौल का नया फैशनेबल शब्द है। उनके अनुसार टिकाऊ विकास (Sustainable Development) से न केवल समृद्धि का निर्माण होता है बल्कि इससे सम्यक वितरण भी होता है और वह भी पर्यावरण को नुकसान पहुंचाए बिना। दरअसल यह अराजनीतिक और इतिहास विरोधी दृष्टिकोण 1972 के स्टाकहोम सम्मेलन के बाद मान्य दर्शन बन गया था। किन्तु यह दर्शन मौजूदा विसंगतिपूर्ण सामाजिक-आर्थिक संरचना और बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के बेतहाशा दोहन पर मौन साध जाता है। चूंकि बहुराष्ट्रीय निगमों को संसाधन उपलब्ध कराना है अत: गरीब देशों में जनसंख्या कम होनी चाहिए। अत: नव माल्थसवाद के दृष्टिकोण का अनुगमन करते हुए सभी स्वयंसेवी संगठन जनसंख्या नियंत्रण पर जोर देते हैं। माल्थस का वहन क्षमता का सिद्धान्त (Enhancement of Population Carrying Capacity Option) रियो सम्मेलन और काहिरा विश्व जनसंख्या सम्मेलन में भी छाया रहा। निस्संदेह विश्व पर्यावरण और जनसंख्या को अन्तरराष्ट्रीय पूंजी की पकड़ में डालकर स्वयंसेवी संगठन न केवल साम्राज्यवाद का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न कर रहे हैं, वरन वर्तमान विश्व की दुर्दशा के लिए जिम्मेदार खलनायक साम्राज्यवाद की तरफ इंगित करने की जगह गैर-सरकारी संगठन उसकी तरफ से ध्यान भटकाने की कोशिश कर रहे हैं।

'नव दक्षिणपंथी मानवतावाद' और अस्थिरता की रणनीति : साम्यवादी खतरे से उबरने के लिए रीगनशाही ने बदनाम 'प्रोजेक्ट डेमोक्रेसी' की शुरुआत की। दरअसल यह ट्रूमन के चार सूत्री कार्यक्रम और केनेडी के 'प्रगति के समझौते' कार्यक्रमों का विस्तार मात्र था। इस कार्यक्रम की वास्तविकता इससे जाहिर होती है कि CIA के एक अधिकारी ने 1984 में कहा था कि "इस समय 25 राष्ट्राध्यक्ष ऐसे हैं जो कभी न कभी अमरीकी सैनिक अकादमी में प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके हैं।

'प्रोजेक्ट डेमोक्रेसी' के दौरान स्वयंसेवी गतिविधियों को एक नया आयाम मिला। इसमें विशिष्ट स्वयंसेवी संगठन जैसे फ्रेन्ड्स् आफ अमेरिका, ब्रदर्स ब्रदर फाउण्डेशन, फैमिली फाउण्डेशन आफ अमेरिका आदि थे। इन संस्थाओं के सर्वोच्च निकायों (Boards) में गुप्तचर और सेना के लोग शामिल थे। इस नई प्रजाति के स्वयंसेवी संगठनों का उद्देश्य 'लोकतंत्र का प्रसार' था। इन संगठनों को 'दक्षिण मानवतावादी' समूह के रूप में पहचाना गया।

लैरी मिनियर के अनुसार प्रोजेक्ट डेमोक्रेसी में सम्मिलित कई स्वयंसेवी संगठन वस्तुत: मध्य अमेरिकी में क्रान्ति विरोधी युद्धों के दौरान बड़े सहायक सिद्ध हुए थे। जैसे वेटिकन समर्थित कई स्वयंसेवी संगठन पोलैण्ड में वालेसा के लिए संसाधन और दिशा निर्देश पहुंचाते थे। या यूं कहें कि इन्हीं 'दक्षिणपंथी मानवतावादियों' ने तमाम नवउपनिवेशों में जनतादी व्यवस्था को उजाड़ने में अपने छल बल का खुल कर प्रयोग किया। 'प्रोजेक्ट डेमोक्रेसी' का एक अन्य उद्देश्य मजदूर आंदोलनों को बेधकर उन्हें नष्ट करना था ताकि अनुदारवादी संगठनों के अलावा कोई अन्य मजदूर संगठन न रह जाये। इसी उद्देश्य से CIA और हार्वर्ड फाउण्डेशन ने मिलकर 'हार्वर्ड ट्रेड यूनियन ट्रेनिंग प्रोग्राम' शुरू किया, जहां वेतनजीवी साम्यवाद विरोधी ट्रेड यूनियनकर्ता प्रशिक्षित किये जाते थे। यहां लगभग 1200 लोगों को प्रशिक्षण दिया गया था। इसी परियोजना के तहत सी.आई.ए. के निदेशक विलियम केसी ने कुछ अमरीकी सामाजिक जनवादियों को 'सोशलिस्ट इन्टरनेशनल बैठक' के लिए प्रायोजित किया था।

यह सारा कार्यक्रम अमरीकी ट्रेड यूनियन महासंघ AFL-CIO की सदारत में किया गया। अमरीकी राजनेता मोइनिहान के अनुसार "सी.आई.ए. हड़ताली मजदूरों को उनकी धरने की पंक्तियों के पीछे सहायता बांटती रही है' ताकि उन्हें साम्यवादी हमले से बचाया जा सके। इसके अलावा AFL-CIO वियतनाम के अमरीकी कसाइयों को स्वातंत्र्य वीर कहने वाले सोलत्झेनित्सन का अभिनन्दन भी कर चुकी है। इस प्रकार गैर सरकारी संगठनों द्वारा धन तथा अन्य इतर संसाधनों के बल पर आन्दोलनों पर कब्जा करना एक अन्य साम्राज्यवादी उद्देश्य को पूरा करती है।

इसी प्रकार के एक और संगठन की प्रजाति जर्मनी में भी पैदा हुई है जो जर्मनी की फेडरल इंटेलीजेन्स सर्विस' के साथ मिलकर कार्य करती है। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण FES है। यह न्यास विश्वस्तर पर आत्मनिर्भर ट्रेड यूनियनों का एक तानाबाना खड़ा कर रहा है। इसका उद्देश्य नव उपनिवेशों में संरचनागत समायोजन में फालतू हुए मजदूरों को पुनर्वासित करना है ताकि इस प्रक्रिया से होने वाले सामाजिक आघात को कम किया जा सके। इसके अलावा यह न्यास कुछ ऐसे शोध संस्थान और स्वयंसेवी संगठन भी बना रहा है।

भारत में FES प्रायोजित संगठनों में बंकर रॉय का SWRC और इला भट्ट का SEWA ऐसे ही संगठन हैं। इन संस्थाओं द्वारा साम्राज्यवादी थैलीशाहों ने उपनिवेशों में शोधकर्ताओं और बुद्धिजीवियों की फसल उगा ली है जो अपने आकाओं की दलाली करते रहते हैं।

भारत में स्वयंसेवी संगठन

ऐतिहासिक कारणों से भारत स्वयंसेवी गतिविधियों के लिए उपजाऊ क्षेत्र रहा है। सदियों की अनवरत गुलामी और उससे उत्पन्न कंगाली और अभाव तो राहत और धर्मार्थ की आवश्यकता बढ़ाते ही हैं।

किन्तु बीसवीं सदी की शुरुआत में शिक्षित आम जनता में सामन्ती और औपनिवेशिक दासता के विरुद्ध कसमसाहट शोषित वर्गों—मजदूरों किसानों के आन्दोलन और राष्ट्रवादी उभारों ने राहत की आवश्यकता को और बढ़ा दिया। उसके पहले भी ईसाई मिशनरियों की बड़ी संख्या भारत आती रही थी किन्तु उनका उद्देश्य ईश्वर प्रदत्त इस साम्राज्य की जनता को ईसाई बनाना था। किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन के गति पकड़ते ही उनका उद्देश्य अब अपने प्रभाव में आई जनता को राष्ट्रीय आन्दोलन से विरत करना हो गया। कई अध्ययनों से यह जाहिर हो गया है कि किस प्रकार राकफेलर के नेतृत्व में अन्य पूंजीपतियों ने इन उद्देश्यों के लिए भारी धनराशि लगायी। इस मसीही और धर्मनिरपेक्ष दानशीलता के भारत पर निश्चय ही राजनीतिक और सामाजिक प्रभाव भी पड़े।

भारत में जन सहभागिता की शुरुआत महात्मा गांधी की ब्रिटेन विरोधी मुहिम से हुई थी। हालांकि गांधी की जन कार्रवाई सामन्ती और पूंजीवादी पणाली में सुधार पर निर्भर थी जो अपने आप में प्रतिक्रियावादी थे किन्तु उनकी ग्राम स्वराज की अवधारणा उनके विषयनिष्ठ जीवनदर्शन का ही हिस्सा थी। हिन्दुस्तानी जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक सभी पहलुओं पर अंग्रेजों का प्रभुत्व उन्हें स्वीकार्य नहीं था।

जिस समय भारत में सत्ता हस्तांतरण चल रहा था महात्मा गांधी ने खुद को उससे अलग कर लिया और यह भी कहा कि कांग्रेस भंग कर दी जाये। वे चाहते थे कि कांग्रेस को लोकसेवक संघ में बदल कर इसे स्वैच्छिक कार्यों में लगाया जाये। कुछ कट्टर गांधीवादियों ने इस दिशा में कार्य आरम्भ भी कर दिया। इस समय तक अमेरिका के नेतृत्व में साम्राज्यवादी ताकतें स्वयंसेवी कार्यक्रम को औपनिवेशिक अस्त्र बना चुकी थीं। अत: गांधीवादी जाने-अनजाने इसके मोहरे बने। जबकि यह धोखा तो भारतीय जनता के जनतांत्रिक संघर्ष को मार्गच्युत करने के लिए ही रचा गया था।

भारत में फोर्ड फाउण्डेशन : साम्राज्यवादियों की निगाह में समूचे पूर्व में भारत की स्थिति रणनीतिक महत्व की थी। अत: दूसरे विश्वयुद्ध के

बाद अमेरिकी नेतृत्व वाले साम्राज्यवाद में भी भारत पर खास गौर किया गया। उस समय भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में तेलंगाना विद्रोह उफान पर था। इस आन्दोलन में लगभग 3000 गांवों पर क्रान्तिकारियों का कब्जा हो गया था। इस घटना ने साम्राज्यवादियों का चैन उड़ा दिया। इस समय स्वैच्छिक संगठनों के अनुदानदाता और समन्वयक के तौर पर फोर्ड फाउण्डेशन आगे आया। फोर्ड फाउण्डेशन के अध्यक्ष पाल हाफमैन को भारत में अमरीकी राजदूत चेस्टर बावेल्स द्वारा लिखे गये पत्र से इस स्वयंसेवी गतिविधि के बारे में पता चलता है। इस पत्र के अनुसार ''सबसे संगीन खतरा है कि चीन में आर्थिक दशा सुधर जाएगी जबकि भारत में आर्थिक ठहराव बना रहेगा। अगर अगले चार-पांच वर्षों में ऐसा तुलनात्मक भेद पैदा हो जाता है तथा चीन ऐसे ही सहज ढंग से बिना कोई सीमा विवाद खड़ा किये बिना रहता है— तो भारत में साम्यवाद के उभार की प्रबल संभावनाएं हैं। ऐसी दशा में नेहरू की मृत्यु या अवकाशप्राप्त करने से उत्पन्न अराजकता से एक मजबूत साम्यवादी देश सामने आ सकता है। बावेल्स के अनुसार भारत में साम्यवाद से निबटने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक था कि पहली पंचवर्षीय योजना के लक्ष्य पूरे हों। उनके अनुसार पांच वर्षों के दौरान एक से दो अरब अमरीकी डालर खर्च कर यह लक्ष्य साधे जा सकते थे।

1948 में ही ट्रूमैन के चार सूत्रीय कार्यक्रम के तहत भारत में कृषि मिशन की स्थापना हो चुकी थी जिसके तहत अमेरिकी विशेषज्ञ अल्बर्ट मायर द्वारा प्रतिपादित ग्रामीण पुनर्निर्माण की परियोजना इटावा में पाइलट प्रोजेक्ट के तौर पर चलाई गई थी जो बाद में समेकित ग्राम्य विकास कार्यक्रम (आई.आर.डी.पी.) के रूप में पुनर्जीवित भी हुई।

अत: सबसे बड़े 'मानवतावादी' न्यास की हैसियत प्राप्त करने के बाद से ही फोर्ड फाउण्डेशन के अध्यक्ष पाल हाफमैन इस तथ्य पर जोर देने लगे थे कि भारत में साम्यवाद के उभार को रोकने के लिए न केवल केन्द्रीय सरकार को मजबूत किया जाना चाहिए वरन् गांव के स्तर पर जीवन स्तर सुधारते हुए पक्के साम्यवादियों पर अंकुश लगाया जाना चाहिए। उनको डर था कि यदि चीन की तरह भारत भी साम्यवादी प्रभाव में आ गया तो इसके दूरगामी नतीजे होंगे और समस्त पूंजीवादी साम्राज्यवादी खेमे को अपनी भौगोलिक सीमाओं में सिमटना पड़ सकता है।

अत: 1951 में तेलंगाना विद्रोहियों के बर्बर दमन के बाद अगस्त महीने में ही फोर्ड फाउण्डेशन का उच्चस्तरीय दल भारत आया जो नेहरू तथा अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों के साथ ही अमेरिकी राजनयिकों तथा सामान्य नागरिकों से भी मिला। इन सभी मुलाकातों के नतीजे के तौर पर एक औपचारिक संरक्षण से युक्त स्वयंसेवी कार्यक्रम की योजना बनी जिसमें स्थानीय और अन्तरराष्ट्रीय दोनों स्वयंसेवी परम्पराओं को शामिल किया गया। शुरुआत में इसके तहत 55 सामुदायिक कार्यक्रम थे जिसमें से प्रत्येक में 300 गांव और लगभग दो लाख की आबादी आच्छादित थी। फोर्ड ने इन कार्यक्रमों को 'सामुदायिक विकास कार्यक्रम'' कहा जो युद्ध पूर्व के राकफेलर फाउण्डेशन द्वारा लातिनी अमेरिका में किये कार्यों की अनुकृति मात्र थे। हालांकि यह कार्यक्रम समूचे दक्षिण एशिया में चलाये गये किन्तु स्थानीयता के अनुसार इसमें कुछ दिखावटी परिवर्तन भी किये गये थे। जैसे भारत में इन कार्यक्रमों को 1952 में गांधी जयन्ती के दिन प्रारम्भ किया गया। हालांकि इस कार्यक्रम के घोषित लक्ष्य—''अतिरिक्त आय का सृजन कर उससे सामुदायिक जरूरतों यानी स्कूल, स्वास्थ्य केन्द्र आदि का निर्माण'' तो पूरे नहीं हो पाये किन्तु इससे साम्राज्यवादियों के निहित स्वार्थ जरूर पूरे हो गये।

फोर्ड फाउण्डेशन के प्रतिनिधियों की पैठ अमरीकी प्रतिनिधियों से कहीं ज्यादा थी। 1959 से 71 के दौरान फोर्ड फाउण्डेशन के एक अर्थशास्त्री एनसेमिंगर को भारत सरकार के आर्थिक कार्यक्रम निर्माणाधीन दशा में ही विचारार्थ उपलब्ध करा दिये जाते थे। यही नहीं एनसेमिंगर अपनी अनौपचारिक टिप्पणियों द्वारा ही भारत की अर्थव्यवस्था को बिना किसी शोरगुल के फोर्ड के अनुकूल ढाल भी लेते थे। जबकि यही सारे तथ्य सुरक्षा के नाम पर भारतीय जनता से छुपाये जाते थे।

1960 तक फोर्ड और राकफेलर फाउण्डेशन ने भारत में कुल 50 करोड़ डालर सामुदायिक विकास में खर्च किये थे। इसके बाद तो फोर्ड फाउण्डेशन ने अपनी गतिविधियां स्वास्थ्य, शिक्षा, संस्कृति हर क्षेत्र में फैला दीं। फोर्ड फाउण्डेशन की छत्रछाया में हजारों संगठन उभर आये जिनके द्वारा भारत में 1971 में 104 मिलियन डालर का अनुदान आया।

स्थानीय प्रयास : तेलंगाना दमन के साथ ही नेहरू ने भूमि कानूनों में परिवर्तन किया था। किन्तु इसके साथ ही 'अहिंसा आधारित स्वयंसेवी' गतिविधियां भी विनोबा भावे के भूदान आन्दोलन से उत्पन्न हुईं। विनोबा का भूदान और फोर्ड फाउण्डेशन का कार्यक्रम एक साथ 1951 में शुरू हुए। दरअसल देश आजाद होने के साथ ही खेत मजदूरों की आकांक्षा और भूस्वामियों के लोभ में टकराव स्वाभाविक ही था। ऐसी परिस्थितियां क्रान्ति भड़का सकती थीं अत: इनका शमन करने के लिए भूदान आन्दोलन चलाया गया। यहां तक कि एक बार उथल-पुथल शान्त होने के साथ ही काफी जमीनें दान-दाताओं द्वारा फिर हथिया भी ली गईं।

यहां तक कि एक गांधीवादी कुमारप्पा ने विनोबा भावे को ''भारत का सबसे बड़ा चोर'' कहा था। भूदान के साथ ही 'श्रमदान' की अवधारणा को आगे बढ़ाया गया जो कुछ और नहीं बल्कि साम्राज्यवादियों द्वारा बेगारों के शोषण द्वारा पूंजी निर्माण की प्रक्रिया का सुधरा रूप था। इस कार्य में लोगों को प्रेरित करने के लिए 1952 में भारत सेवक समाज की स्थापना की गई।

इस प्रकार भारत में जारी स्थानीय तथा अन्तरराष्ट्रीय स्वयंसेवी संगठनों की धारा आपस में मिल रही थी। इसी समय पीएल 480 के तहत अमेरिकी उत्पाद अधिशेष का बड़ा हिस्सा कई अन्तरराष्ट्रीय स्वयंसेवी संगठनों द्वारा भारत में पटने लगा। विभिन्न संगठनों द्वारा उक्त सामग्री बांटते हुए अन्तरराष्ट्रीय संगठन ऐसी हैसियत में आ चुके थे कि भारत की नीतियों को प्रभावित कर सकें।

किन्तु 1957 आते-आते सामुदायिक विकास कार्यक्रम असफल हो गया। असफलता के कारणों का पता लगाने के लिए फोर्ड फाउण्डेशन के अनुरोध पर नेहरू सरकार ने बलवंत राय मेहता समिति का गठन किया। मेहता कमेटी द्वारा उद्घाटित मुख्य तथ्य था कि जनता की भागीदारी न होने की वजह से सामुदायिक विकास कार्यक्रम असफल रहे। अत: अब जनता की भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए सूक्ष्मतर स्तरों पर कार्यक्रम निर्माण वाले आई.आर.डी.पी. कार्यक्रम की शुरुआत की गई।

इसी दौरान भारत में स्वयंसेवी संगठनों की नई प्रजाति अस्तित्व में आई। इनमें सबसे महत्वपूर्ण गांधी शान्ति प्रतिष्ठान है। इसके अलावा शान्ति सेवा मण्डल, सर्व सेवा संघ जिसने वाराणसी में गांधी अध्ययन संस्थान की स्थापना की आदि अन्य महत्वपूर्ण संगठन थे। इस सम्बन्ध में गौरतलब तथ्य यह है कि अमेरिकन पीस कॉर और अन्य देशों के शान्ति संगठन लगभग एक ही साथ अस्तित्व में आये और सक्रिय हुए। ये सभी संस्थान 'पीस कॉर' के न केवल समकालीन थे बल्कि इनके दृष्टिकोण भी समान थे। अमेरिकन पीस कॉर का मानना था कि गांधी शान्ति प्रतिष्ठान और इसके अन्य आनुषंगिक संगठन अपनी गतिविधियों द्वारा पीस कॉर की योजनाओं को पूरा करेंगे। हम पीस कॉर की वास्तविक कार्य योजनाओं को पीछे जाहिर कर आए हैं।

परवर्ती घटनाक्रम यह स्पष्ट कर देते हैं कि साम्राज्यवादी संगठनों के मोहरे बन कर गांधीवादी संस्थान किस हद तक पतित हो सकते हैं। इसका उदाहरण जयप्रकाश नारायण सरीखे प्रख्यात गांधीवादी द्वारा स्थापित किया गया नगालैण्ड पीस मिशन है। इसकी स्थापना 1964 में की गई। किन्तु जैसा कि गांधी शान्ति प्रतिष्ठान द्वारा ही जाहिर किया गया कि इसके

नेताओं में एक, अमेरिकन बैपटिस्ट मिशन के माइकेल स्कॉट भी थे। माइकल स्कॉट और जयप्रकाश नारायण ने नगालैण्ड में नगालैण्ड शान्ति केन्द्र की स्थापना की। यहीं यह दृष्टव्य है कि अमेरिकन बैपटिस्ट मिशन नगालैण्ड में पिछली सदी के उत्तरार्द्ध से सक्रिय था। बाद में यह भी पता चला कि इन्हीं संगठनों के माध्यम से सी.आई.ए. ने अपना ''आपरेशन ब्रह्मपुत्र' क्रियान्वित किया।

संक्षेप में गांधीवादी संगठनों की परम्परा ने भारत में हर किस्म के स्वयंसेवी संगठनों को एक बुनियाद उपलब्ध करायी। कम से कम 70 के दशक तक यही चलन रहा। सामाजिक, आर्थिक संकट के गम्भीरतम क्षणों में यथास्थितिवादी सर्वोदयी मौजूदा व्यवस्था को जन आक्रोश से बचाने में अपनी भूमिका निभाने लगते हैं। यही वजह है कि जन आक्रोश के प्रत्येक उभार के साथ ही स्वयंसेवी संगठनों का व्यय बढ़ जाता है। जिस समय इंदिरा गांधी सरकार नौजवानों का कत्लेआम करा रही थी उसी समय विश्व बैंक अध्यक्ष मैकनामारा के सुर में सुर मिला कर 'गरीबी हटाओ' का शोर भी मचा रही थी। किन्तु उस समय भी सर्वोदयी कार्यकर्ताओं का यह मानना था कि नक्सलबाड़ी के क्रान्तिकारियों को ताकत के प्रयोग से समाप्त किया नहीं जा सकता है। इसके लिए क्रान्तिकारी वर्ग आधारित दृष्टिकोण से भटका कर इन युवकों को स्वयंसेवी दृष्टिकोण का कायल किया जाये। यही वजह है कि AVARD, छात्र युवा संघर्ष वाहिनी, BUILD, इंडियन सोशल इन्स्टीट्यूट, बंगलौर लेकर MARYADA, तथा राकफेलर फाउण्डेशन द्वारा वित्तपोषित विख्यात चिन्तक रजनी कोठारी के लोकायन तक सारे संगठन मात्र नक्सलबाड़ी विद्रोह से उत्पन्न शासकों के तनाव को दूर करने के लिए अस्तित्व में आये। अन्यथा नक्सलबाड़ी विद्रोह के दमन के बाद ये ठण्डे न पड़ गये होते। यही नहीं ये साम्राज्यवाद पोषित संस्थाएं कुछ छद्म सुधारवादी दुष्प्रचार द्वारा तमाम जनपक्षधर लोगों को भटकाने में भी सफल रहीं

भारत सरकार के सहयोगी कदम : इस समय हिन्दुस्तान में सक्रिय स्वयंसेवी संगठनों और उनमें आने वाले अकूत विदेशी धन का कोई भरोसेमन्द अन्दाजा CAPART के पास भी नहीं है। हालांकि इस मामले में FCRA के द्वारा सरकार अनुदान की मात्रा और उद्देश्य का अता पता रख सकती थी। इसी क्रम में आपातकाल के तीन वर्षों के सत्ता निर्वासन के बाद सत्तासीन हुई इन्दिरा गांधी द्वारा स्थापित कुदाल आयोग का उल्लेख जरूरी है। न्यायमूर्ति पी.डी. कुदाल की अध्यक्षता में इस आयोग की स्थापना विदेशी सहायता से चलने वाली संस्थाओं की पड़ताल के लिए थी। किन्तु इस आयोग का निहित उद्देश्य आपातकाल के दौरान जयप्रकाश नारायण का साथ देने वाली संस्थाओं यथा गांधी शान्ति प्रतिष्ठान, सर्वोदय आदि के पर कतरना था। कुदाल आयोग की संस्तुतियों के आधार पर ही PUDR तथा PUCL को विदेशी अनुदान की मनाही कर दी गई। किन्तु विदेशी संस्थाओं पर भारत में धन ले आने पर कोई रोक नहीं लगाई गई। कुदाल आयोग ने अपने जांच कार्य के दौरान चार संस्थाओं के अनुदान स्रोतों और गतिविधियों का अंकेक्षण किया। आयोग के निष्कर्षों के अनुसार गांधी स्मारक निधि, गांधी शान्ति प्रतिष्ठान, सर्वसेवा संघ तथा अवार्ड सभी ने बिना औपचारिकताएं पूर्ण किये कई विदेशी संगठनों से धन लिया। गांधी स्मारक निधि ने अमरीकी संस्था 'वर्ल्ड नेबर' और जर्मन संस्था EZE से बिना समुचित दस्तावेज के ही धन लिया था यही नहीं अनुदान के लिए ही परोक्ष रूप से सी.आई.ए. के हाथों में खेल रहे अवार्ड (Association of Voluntary Agencies for Rural Development) ने भारत के रणनीतिक ठिकानों के आठ नक्शे उपलब्ध कराये। यह एक अकेली घटना न होकर एक सामान्य परिघटना थी। दरअसल गांधीवादी संस्थान लम्बे समय से साम्राज्यवादियों के साम्यवाद रोधक तंत्र के औजार के तौर पर कार्य करते रहते थे। उनके इसी विदेश केन्द्रित गांधी शान्ति प्रतिष्ठान के ही एक शोधकर्ता अनुपम मिश्रा का विचार है कि ''भले ही हम पश्चिम को अपनी बातें समझा सके हों किन्तु अपने लोगों से संवाद तो नहीं कर पाये हैं।''

कुदाल आयोग भारतीय स्वयंसेवी संगठनों को सीधे सरकारी नियंत्रण में लाने का शुरुआती प्रयास मात्र था। यह विश्वबैंक और अन्य अन्तरराष्ट्रीय संगठनों के मन्तव्य के अनुकूल भी था। वे भी यही चाहते थे कि तीसरी दुनिया के राष्ट्र अपने जनकल्याण दायित्वों को स्वयंसेवी संगठनों पर डाल कर उन्हें औपचारिक रूप से स्वीकृत कर लें।

एक अन्तरराष्ट्रीय गोष्ठी में इस तथ्य पर बड़ा संतोष व्यक्त किया गया था कि भारत में गैरसरकारी संगठन सरकार द्वारा पंजीकृत होकर कार्य कर रहे हैं। कुदाल कमीशन द्वारा स्वयंसेवी संगठनों को पर्याप्त 'अनुशासित' कर लेने के बाद भारत सरकार ने ग्राम्य विकास मंत्रालय के एक अंग के रूप में 1 सितम्बर 1986 को CAPART (Center for Advancement of Peoples Action Rural Technology) की स्थापना की। इसके दायित्वों में मुख्यतया स्वयंसेवी संगठनों का अनुश्रवण है। इसके अलावा भारत सरकार की विभिन्न योजनाओं EAS, IRDP, DWCRA, TRYSEM आदि कार्यक्रम स्वयंसेवी संगठनों द्वारा लागू करवाना तथा गैर सरकारी क्षेत्रों में तकनीक हस्तांतरण तथा अन्य जनसहभागिता के लिए जनता को उत्प्रेरित करना आदि है।

आधे से ज्यादा गैरसरकारी सदस्यों से बनी एक पंजीकृत सहकारी समिति होने के बावजूद CAPART कि हैसियत एक अर्द्धसरकारी संस्थान की सी है। सभी व्यावहारिक कार्यों के लिए एक सरकारी विभाग मौजूद है।

सातवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान योजना आयोग के दस्तावेजों में भी स्वयंसेवी संगठनों का उल्लेख होने लगा। दरअसल विश्वबैंक द्वारा संचालित कई योजनाओं से उत्पन्न पर्यावरण क्षय से कई जगहों पर तनाव फूटने लगा था। अतः साम्राज्यवादियों और उनके स्थानीय गुर्गों ने स्वयंसेवी संगठनों पर विकास के उत्प्रेरक के साथ ही साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष को कमजोर करने की दोहरी भूमिका सौंप दी। इन संगठनों की बड़ी संख्या को आदिवासी बहुल क्षेत्रों में लगाया गया। इसी समय भारतीय शासक भी स्वयंसेवी संगठनों की बड़ाई में फिर से बोलने लग गये थे। 30 जून 1986 को तत्कालीन उपराष्ट्रपति आर. वेंकटरमन ने लखनऊ में कहा—''ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में लक्ष्य समूहों की भागीदारी बढ़ाए जाने की जरूरत है।''

लक्ष्य समूह की अवधारणा यह है कि किसी योजना से जिस समूह को फायदा हो उसका क्रियान्वयन वही करे। यह मुद्राकोष-विश्वबैंक की उसी लागत वसूली रणनीति का प्रसार है जिसे वे स्वास्थ्य, शिक्षा आदि क्षेत्रों में ढांचागत समायोजन के नाम पर लागू कर रहे हैं। इसी संदर्भ में साम्राज्यवादी स्रोतों द्वारा वित्त पोषित संस्थान आई.एस.ई.सी., बंगलौर में दिसम्बर 1993 में सम्पन्न एक सेमिनार में प्रस्तुत तथ्यों पर ध्यान दें। ये तथ्य भारत में गैर सरकारी संगठनों को उपलब्ध अवसरों के बारे में इंगित करते हैं। (देखें बाक्स)

यह आश्चर्यजनक तथ्य नहीं है कि तमाम गैर सरकारी संगठनों द्वारा बनायी गयी 'सूक्ष्म स्तरीय योजनाएं' ढांचागत समायोजन के वृहदस्तरीय प्रभावों के कितनी अनुकूल हैं। दरअसल इस पूरी प्रक्रिया में गैर सरकारी संगठनों की भूमिका इसलिए महत्वपूर्ण हो जाती है कि उन्हें अपने कार्यपालन में कोई बाधा नहीं आती। इनकी सरकार संसद यहां तक कि लालफीताशाही के प्रति भी कोई जवाबदेही नहीं सिवाय साम्राज्यवादी दानदाता के जो कि अपनी इच्छाओं को विश्वबैंक-कोष द्वारा इजहार करते ही रहते हैं।

राव सरकार के कार्यकाल में गैर सरकारी संगठनों का एक राष्ट्रीय परिसंघ भी प्रस्तावित था। हालांकि रजनी कोठारी के नेतृत्व में स्वयंसेवी संगठनों का एक धड़ा स्वायत्तता की बात करके इसका विरोध कर रहा है किन्तु व्यापक परिप्रेक्ष्य में यह प्रयास और विरोध कोई खास मायने नहीं

आई.एस.ई.सी., बंगलौर में दिसम्बर 1993 में सेमिनार में प्रस्तुत तथ्य

आशंका	अवसर	रणनीति
1. परम्परागत शिल्प के बाजार का क्षय	नए शिल्पों की अभिकल्पना और बाजार की तलाश	शिल्पकारों का प्रशिक्षण और बाजार का गठन
2. जनवितरण प्रणाली के सहयोग में ह्रास	स्थानीय संसाधनों को गतिशील कर उस पर आधारित जन वितरण प्रणाली का गठन	उत्पादन प्रक्रिया का बढ़ाकर स्थानीय उपभोग को बढ़ावा
3. जन स्वास्थ्य केन्द्रों का पंगु होना	देशज स्वास्थ्य सेवा का गठन तथा रोधक स्वास्थ्य सेवा का गठन	गंवई चिकित्सा प्रणाली की बहाली
4. सरकारी शिक्षा की सहायता में कमी	प्राथमिक और फौरी साक्षरता कार्यक्रम	कौशल विकास में सहयोगी शिक्षकों की तैयारी
5. सार्वजनिक कार्यों में रोजगार के घटते अवसर	भूमि विकास कार्यों में रोजगार देना	सामुदायिक प्रयासों द्वारा जलप्रबंध

रखते।

ठगों, धोखेबाजों का स्वर्ग : स्वयंसेवी संगठन

पूंजीवादी व्यवस्था के बढ़ते आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक संकट के इस दौर में लगभग समूचा भारतीय शासक वर्ग पतित होकर दलालों, टैक्सचोरों, तस्करों और जालसाजों का एक गिरोह सा बन गया है, जो अपनी राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय गिरोहबंदी द्वारा हजारो-हजार करोड़ रुपये डकार जा रहे हैं। बोफोर्स कांड, शेयर घोटाला, चीनी घोटाला चारा, यूरिया, कोलतार यहां तक कि प्रधानमंत्री भी घोटाले के आरोपों के घेरे में—इन सबकी व्याख्या की जरूरत नहीं है। किन्तु इन धांधलेबाजों द्वारा ट्रस्ट और न्यासों की स्थापना जरूर गौरतलब है। इसमें 'नेहरू' नामों से जुड़े न्यास आदि मुख्य हैं। जैसे जवाहरलाल नेहरू मेमोरियल फण्ड, कमला नेहरू हास्पिटल ट्रस्ट, इन्दिरा गांधी मेमोरियल ट्रस्ट, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, राजीव गांधी फाउण्डेशन को कई कर रियायतों की वजह से भारी दान मिला। इसी की वजह से इनमें से प्रत्येक धन प्रचुर संस्था है जो गैरसरकारी संगठनों के रूप में ही पंजीकृत है। इन न्यासों की गतिविधियां वही सब कुछ—शिक्षा, सेवा, संस्कृति, सुधार, बच्चे, औरतें, आदिवासी आदि तबकों की भलाई जैसे उदात्त लगने वाले मुद्दे रहे हैं। किन्तु ये संगठन तमाम बहुप्रचारित श्रेष्ठ उद्देश्यों के बावजूद कुलीनों की मांद का काम करते रहे हैं। इन्हीं में से एक संस्था राजीव गांधी फाउण्डेशन भी है। इस फाउण्डेशन की प्रमुख सोनिया गांधी हैं। इसका निदेशक मण्डल कृष्णमूर्ति जैसे ठगों से भरा पड़ा है। जबकि इस देश के लगभग प्रत्येक धांधलेबाज ने इसमें जी खोलकर दान दिया है। रामेश्वर ठाकुर द्वारा राज्यसभा में 1.12.92 को दिये गये उत्तर के अनुसार राजीव गांधी फाउण्डेशन के दानदाताओं में हर्षद मेहता, अश्विन मेहता, ललित सूरी, व्यापारिक संगठन ए.एन.ज़ेड ग्रिंडलेज़, रिलायंस, आई.टी.सी., किलिक निक्सन, जे.के., सिएट, अपीजे आदि मुख्य थे। इनके अलावा चीन के प्रधानमंत्री ली फंग भी एक थे। यह न्यास जिसके पास सैकड़ों करोड़ की कर मुक्त सम्पत्ति है उसके मानवताप्रेमी और धर्मार्थ कार्यों का एक उद्देश्य तमाम दागदार नौकरशाहों और राजनैतिकों को एक सुरक्षित स्वर्ग प्रदान करना था।

ऐसी ही एक और संस्था भारत फाउण्डेशन (Foundation for India) है। इसके प्रवर्तकों में एम.एस. स्वामीनाथन, वी. कोरियन, रतन टाटा, और सी. सुब्रमण्यम मुख्य है। इसमें से स्वामीनाथन और कूरियन दो साम्राज्यवादी परियोजनाओं क्रमशः हरित और श्वेत क्रान्ति के पुरोधा हैं जबकि सी. सुब्रमण्यम ने तत्कालीन कृषि मंत्री के तौर पर इन दोनों को ही राजनीतिक नेतृत्व प्रदान किया था।

हालांकि इस न्यास का घोषित उद्देश्य 'सूक्ष्म स्तरीय योजना' द्वारा विकास है। किन्तु इसका वास्तविक उद्देश्य साम्राज्यवादी देशों के 'एग्रीबिजनिस' हितों का पोषण है। इसका उद्देश्य किसी प्रकार भारत के ग्रामीण बाजार को समूचे विश्व से जोड़ना है। इस उद्देश्य से 'भारत फाउण्डेशन' ने 12 जिलों में बागवानी, मछली पालन, प्रसंस्करण, विपणन आदि में कृषिव्यापार गतिविधियां शुरू भी कर दी हैं। भारत फाउण्डेशन इस प्रक्रिया का श्रेष्ठ उदाहरण है कि कैसे 'टेक्नोक्रेट' धुरी को नियन्त्रित कर समूचे ग्रामीण जनसमुदाय को इच्छानुसार गतिशील किया जा सकता है।

स्वदेशी जामे में आर्थिक नवऔपनिवेशिक गुलामी

मौजूदा स्वयंसेवी गतिविधियां न तो धार्मिक सरोकार रखती हैं, न ही उनका किसी समुदाय के धार्मिक विश्वासों से कुछ लेना देना है। यहां किसी धार्मिक संगठन की चर्चा भी हुई है तो अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर पूंजी द्वारा धर्म के इस्तेमाल को जाहिर करने के राजनीतिक कार्य के तौर पर हुई है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ परिवार से जुड़े हुए हजारों संगठनों ने अपने को स्वयंसेवी संस्था के रूप में पंजीकृत करा रखा है। विदेशों से भारी सहायता प्राप्त कर वे भी वही ऐतिहासिक उद्देश्य पूरे कर रहे हैं जो कि उनके ईसाई या मुस्लिम सहवर्गी करते। संख्या और विदेशी सहायता के मामले में कथित हिन्दू स्वयंसेवी संगठन अन्य धर्म आधारित संगठनों को कहीं पीछे छोड़ देते हैं। इस परिघटना के विश्व में प्रसार को हिन्दू दैवी पुरुषों की भारी संख्या से पर्याप्त समर्थन मिला। इस परम्परा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हरे कृष्ण आन्दोलन है।

हिन्दुत्व के इन स्वयंभू धर्मध्वजियों की साम्राज्यवाद पर निर्भरता उनकी स्वैच्छिक नहीं है बल्कि यह उनकी मेहनतकश विरोधी और पश्चिमपरस्त विचारधारा में निहित है। इस सम्बन्ध में सत्तर के दशक की शुरुआत का गोलवलकर का अन्यत्र प्रकाशित पत्र उद्धृत करना उचित होगा। गोलवलकर लिखते हैं—''ईश्वर की अनुकम्पा से अमेरिका मुक्त दुनिया का नेता है। इस समय धर्म और अधर्म विश्वव्यापी युद्ध में रत हैं। इस युद्ध में अमेरिका धर्म की तरफ है।

गोलवलकर का अमेरिकी राष्ट्रपति जानसन के नाम यह पत्र भारत के मौजूदा प्रधानमंत्री अटल बिहारी बाजपेयी ले गये थे जो उस समय 1971 में अमेरिका यात्रा पर थे। इस पत्र में सरसंघचालक ने सबसे ताकतवर सैनिक प्रणाली की उस समय प्रशंसा की जब वह वियतनाम में नरसंहार कर रही थी। यह घटना ही संघ के धर्म का तात्पर्य साफ कर देती है।

स्वयंसेवी संगठनों के भेष में सक्रिय तमाम हिन्दू संगठनों की अमेरिका समर्थक भावना गोलवलकर के उक्त बयान की झलक मात्र है। इसी प्रकार आर्थिक नवऔपनिवेशिक कार्यनीतियों के अनुमोदन के साथ ही साथ स्वदेशी पुनर्जागरण तथा 'ओवरसीज फ्रेण्ड आफ बीजेपी' के गठन को साम्राज्यवादियों द्वारा स्वयंसेवी संगठनों के इस्तेमाल की रणनीति के सन्दर्भ में समझा जा सकता है।

गैरसरकारी संगठन और संशोधनवादियों की सांठगांठ

साम्राज्यवादी पूंजी की कुत्सित चालों का भण्डाफोड़ करने में तथाकथित

कम्युनिस्ट संगठन जो कि क्षरित होकर मात्र शासक दल रह गये हैं, भी पीछे नहीं रहते थे। सीपीआई (एम) के सैद्धान्तिक मुखपत्र 'मार्क्सिस्ट' में 1984 में उसके पोलित ब्यूरो सदस्य प्रकाश कारात ने लिखा—''साम्राज्यवादी खेमे में एक व्यापक और सुनियोजित रणनीति बनाई गई है जिसमें भारतीय समाज में गहराई तक पैठने और उसके भविष्य की विकास की दिशा को प्रभावित करने में स्वयंसेवी संगठनों का उपयोग किया जायेगा। साम्राज्यवादी शासक दायरे अपने शैक्षणिक संगठनों द्वारा एक ऐसा राजनैतिक और वैचारिक आधार उपलब्ध कराते हैं जिस पर कि भारत में ढेर सारे ऐसे संगठन उभर रहे हैं। इन समूहों को उदारतापूर्वक धन उपलब्ध करा कर साम्राज्यवादियों ने एक ऐसा रास्ता निकाल लिया है जिससे न केवल वे भारतीय समाज के मर्म स्थलों को भेद सकते हैं वरन वामपंथी आन्दोलन की सम्भावना को भी शमित करते हैं। अत: पार्टी को साम्राज्यवादी पैठ के इन अंगों तथा इनकी रणनीति और उपकरणों को समझना अत्यन्त जरूरी है।''

अपने उक्त लेख में ही प्रकाश करात स्वयंसेवी संगठनों के सिद्धान्तकार रजनी कोठारी और अमेरिकी एजेंसियों जैसे राकफेलर फाउण्डेशन की खुलकर खिंचाई करते हैं।

किन्तु 10 वर्ष बाद सीपीआई (एम) के महासचिव के साथ ही प्रकाश करात उसी रजनी कोठारी और अन्य एनजीओ सिद्धान्तकारों के साथ साझे मंच 'सिटीजन एसेम्बली' में 13-14 फरवरी 1994 को नमूदार हुए और 'वैकल्पिक आर्थिक नीति' की घोषणा की।

'सिटीजन असेम्बली' का गठन विदेशों से वित्तपोषित गैर सरकारी संगठनों की पेशकश पर हुआ था। बाद में इसके आधार को और भी व्यापक बनाने के लिए इसमें भाजपा के अलावा लगभग सभी शासक दलों को शामिल कर लिया गया था। PCAEP द्वारा प्रस्तुत वैकल्पिक बजट में राव सरकार के बजट में कुछ वित्तीय संशोधनों यथा कमजोर वर्गों के लिए रियायतें तथा अनुदान व काले धन की जब्ती आदि की बातें तो हैं किन्तु यह बुनियादी प्रश्नों पर मौन साध जाता है। PCAEP का वैकल्पिक बजट उत्पादन सम्बन्धों, भारतीय समाज की वर्ग विभाजित संरचना तथा मौजूदा वैश्विक आर्थिक नवऔपनिवेशिक प्रणाली से जुड़े मुद्दों पर रहस्यमय चुप्पी साध लेता है। स्वयंसेवी गैर सरकारी अर्थनीति, वैकल्पिक बजट, वैकल्पिक योजना आदि सभी विकल्पों के बारे में लोगों को सजग रहना चाहिए। ये कुछ नहीं वरन् साम्राज्यवाद के सुस्निग्ध शस्त्रों द्वारा जन सामान्य को मूल मुद्दों से भटकाने की दुरभि सन्धि मात्र है।

सीपीआई (एम) पोलित ब्यूरो के सदस्यों की पी.सी.ए.ई.पी. में भागीदारी कोई अस्थायी भटकाव नहीं है वरन यह संसदवादी राजनीति की बाध्यकारी आवश्यकता है। 1993 में जब राव सरकार अपना तीसरा बजट प्रस्तुत करने जा रही थी तभी वानी (Voluntary Action Network of India) में रजनी कोठारी, अरुण घोष और अन्य एनजीओ सिद्धान्तकारों द्वारा वैकल्पिक बजट प्रस्तुत किया गया। इस कथित वैकल्पिक बजट का समर्थन सीपीआई(एम) के तत्कालीन महासचिव ईएमएस नम्बूदरीपाद समेत समूचे पोलित ब्यूरो ने किया। इसकी तार्किक परिणति थी कि 1994 में सीपीआई(एम) के सदस्य पी.सी. ए.ई.पी. में भागीदारी करते हुए इसके मंचों पर भी नमूदार थे।

प्रकाश करात से यह पूछना बेमानी है कि क्या वह गैर सरकारी संगठनों के मुद्दे पर अपने 1984 के सिद्धान्तों पर कायम हैं?

सीपीआई(एम) ने गैर सरकारी संगठनों के सम्मुख न केवल वैचारिक आत्मसमर्पण कर दिया है वरन और भी पतित होकर उनके अनुसरणकर्ता बनकर साम्राज्यवादियों की नीतियों का क्रियान्वयन भी करने लगे हैं। अब तो सीपीआई (एम) द्वारा प्रवर्तित स्वैच्छिक संगठन भी अपने को स्वयंसेवी संगठन कहने लगे हैं।

इस प्रक्रिया का समीचीन उदाहरण केरल शास्त्र साहित्य परिषद (केएसएसपी) है। यह सीपीआईएम का आनुषंगिक संगठन जो केरल में साक्षरता प्रसार में लगा हुआ है, साम्राज्यवादी अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम द्वारा प्रायोजित हो रहा है। इसी प्रकार सीपीआईएम का युवा संगठन डीवाईएफआई 'काम के बदले अनाज' योजना को सक्रियतापूर्वक लागू कर रहा है। इस कार्यक्रम के पीछे विकासशील देशों में बेरोजगार युवकों की भारी संख्या है जिसको कि अल्पतम मजदूरी देकर बड़ी मात्रा में परियोजनाओं में निम्न उत्पादकता गतिविधियों में लगा कर भी समृद्धि का सृजन किया जा सकता है बशर्ते उन्हें जीने भर को अनाज मिलता रहे। बेरोजगारी की भीषण होती समस्या को हल्का करने में भी इससे मदद मिलती है।

दरअसल 'काम के बदले अनाज' या ऐसी ही अन्य साम्राज्यवादी शोषक योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए गैरसरकारी संगठन न केवल सर्वश्रेष्ठ उपकरण हैं वरन बाजार उपनिवेशों में छद्म स्वतंत्रता का अहसास भी भरते रहते हैं।

दरअसल 70-80 के दशकों के दौरान जब 'ग्रामीण विकास' के विश्व बैंक माडल का खाका तैयार हुआ तभी तमाम बाजार उपनिवेशों में 'काम के बदले अनाज' की योजना भारत के लिए भी स्वीकृत हुई। डीवाईएफआई तभी से इसके समर्थक के रूप में सक्रिय है। संशोधनवादी पतन की पराकाष्ठा तो यह है कि ये छद्म वामपंथी वर्ग विभाजित समाज में पूंजीपतियों द्वारा श्रमिकों के शोषण तथा समाजवादी समाज में राजनीतिक रूप से सचेतन जन समूहों को आर्थिक निर्माण की प्रक्रिया के लिए सक्रिय किये जाने में अन्तर को भी भूल चुके हैं।

हालात यहां तक पहुंच चुके हैं कि ये पतित संशोधनवादी अपनी झेंप मिटाने के लिए तमाम ऐसे मार्क्सवादी ग्रुपों पर जो संसदीय सुविधा के जाल में नहीं उलझे हैं, अनरवत कीचड़ उछालते रहते हैं। अपनी झोंक में ये इतने असन्तुलित हो जाते हैं कि कभी-कभी तो एक सुर से सभी मार्क्सवादी संगठनों को केवल मार्क्सवादी-लेनिनवादी होने के नाते विदेशी पूंजी से संचालित घोषित कर देते हैं। ■

(पृष्ठ 38 का शेष)

लेकिन यह स्थिति भी अब बदल चुकी है। कारण कि विगत कई वर्षों से पार्टी के और सरकार के सभी पदाधिकारियों के लिए यह आवश्यक बना दिया गया है कि वे अपना एक निश्चित समय शारीरिक श्रम करने में लगायें। अब काम की नियमित अवधियों में—जैसे वर्ष में महीने भर—फैक्टरी प्रबन्धक फैक्टरी शाप में काम करता है, जन-कम्यून का चेयरमैन खेतों में काम करता है, और फौजी जनरल साधारण सैनिकों की कतारों में काम करता है।

पेशेवर वर्गों के दूसरे तबकों के बीच शारीरिक श्रम स्वैच्छिक है, परन्तु स्वैच्छिक काम करने वालों की भी कोई कमी नहीं है। पीकिङ युनिवर्सिटी के प्रोफेसर और लेक्चरर पश्चिमी पहाड़ियों में एक गरीब ग्रामीण श्रमिक की भांति काम करने जाते हैं, कारण कि वहां की सारी लगभग वयस्क पुरुष आबादी को जापानियों ने मार डाला था। वहां वे काम करते हैं, किसानों के साथ रहते हैं, दिन में उकने साथ खेती के काम में भागीदारी करते हैं और शाम को उनकी कक्षाएं और व्याख्यान आयोजित करते हैं। मजदूरों के साथ इस सम्पर्क की बदौलत उनकी वर्ग-चेतना उन्नत हो गयी है।

यही बात छात्रों की भी है। वे हर साल एक या दो महीने, तीन 'एक साथ'—'एक साथ रहो, एक साथ खाओ, एक साथ काम करो'—के सिद्धान्त के अनुसार, फैक्टरियों में या खेतों में मजदूरों और किसानों के साथ काम करते हुए गुजारते हैं।

इस बीच, युनिवर्सिटी में मजदूर वर्ग के छात्रों की संख्या तेजी से बढ़ी है, और हाल ही में एक नये प्रकार के स्कूल के प्रयोग भी चालू किये गये हैं, जिनमें बच्चे उत्पादक श्रम से जोड़ कर अध्ययन करते हैं। इस ढंग से मानसिक श्रम करने वाले शारीरिक श्रम करने वाले बन रहे हैं, और शारीरिक श्रम करने वाले मानसिक श्रम करने वाले बन रहे हैं।

कलाओं पर प्रभाव

युनिवर्सिटी और स्कूलों से बाहर, शारीरिक श्रम में भागीदारी का यह आन्दोलन सारे पेशेवर लोगों के बीच फैलता जा रहा है। इसमें लेखक, चित्रकार, वास्तुकार, अभिनेता, संगीतज्ञ, नर्तक—सभी के सभी शामिल हैं। हालांकि यह अभी कुछ ही वर्ष पहले शुरू हुआ है, फिर भी इसका कला पर प्रभाव अभी से दिखायी पड़ने लगा है।

चीन में चित्रकारी, कविता और संगीत की परम्परा बहुत पुरानी है। चित्रकारी और ओपेरा दोनों में ही परम्परागत शैली को समसामयिक विषयवस्तु के लिए अपनाया जा रहा है। बेशक इस बात को भी समझा जा रहा है कि अन्तर्वस्तु में बदलाव लाना तब तक संभव नहीं है जब तक कि रूप में भी बदलाव न लाया जाये—यहां भी हमें विरोधों की एकता दिखायी देती है; लेकिन इसका उद्देश्य यह है कि अन्तर्वस्तु को विकसित करके उसे ऐसे ढंग से अन्तरविरोध का प्रधान पहलू बना दिया जाये कि जैविक रूप से एक ऐसी नयी एकता विकसित हो जो कलाकारों और जनता के बीच एक नयी एकता के अनुरूप हो।

बेशक इसमें तमाम समस्याएं भी हैं जिनको हल करना जरूरी है, और जब भी कोई नयी चित्र प्रदर्शनी लगती है, जब भी कोई नया ओपेरा प्रस्तुत होता है, इन समस्याओं पर बड़ी शिद्दत से विचार-विमर्श किया जाता है। और समाधान की दिशा में पहला कदम उठाए भी गये हैं। कलाकार अब समझ गया है कि जनता को प्रेरणा देने के लिए उसे स्वयं भी जनता से प्रेरणा लेनी होगी। और इसी प्रक्रिया के तहत, कलाकारों से नजदीकी सम्पर्कों की बदौलत, जनता का कलात्मक स्तर भी उठता जा रहा है।

देश के सभी भागों में लोक-प्रचलित गीतों, कलाओं और शिल्पों को फिर से जिन्दा किया जा रहा है—जिनमें से कुछ तो पचास वर्ष पहले ही लुप्त हो जाने के कगार पर जा पहुंचे थे; पश्चिमी संगीत और बैले को भी शामिल किया जा रहा है, जिनकी अपनी विशेषताएं तो हैं ही, साथ ही यह भी है कि उनमें ऐसे तत्व हैं जिन्हें राष्ट्रीय परम्पराओं को विकसित करने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। इस ढंग से मजदूरों और किसानों की कलात्मक प्रतिभाएं अपनी अभिव्यक्ति के नये आयाम ग्रहण कर रही हैं। अब कलाएं अधिकाधिक रूप से समूची जनता की सृजनात्मक गतिविधि बनती जा रही हैं।

इसका प्रत्यक्ष सबूत मुझे 1 अक्टूबर के विशाल जुलूस में देखने को मिला। मैं 1952 में इस अवसर पर मौजूद था। वह मुक्ति की तीसरी वर्षगांठ थी। दूसरी बार मैं इसकी पांचवी वर्षगांठ के अवसर पर उपस्थित हुआ। तब तक हालात में जबर्दस्त बदलाव आ चुके थे।

अब स्वर्गिक शांति का दरवाजा एक विशाल प्रांगण में खुलता है, जिसकी बायीं तरफ क्रान्ति का संग्रहालय और दायीं तरफ जन-कांग्रेस का सभागार है, और सामने एकाश्मी स्मारक है जो इस परिदृश्य के आखिरी छोर पर उन शहीदों की याद में बनाया गया है जिन्होंने मुक्ति-युद्ध में अपने प्राणों की आहुति दी थी। जुलूस ठीक दस बजे शुरू हुआ और ठीक बारह बजे खत्म हुआ—जनता के सभी तबकों और राष्ट्रीय जीवन के हरेक क्षेत्र से आये साढ़े सात लाख लोगों का झण्डे लहराते हुए, संगीत की लय-ताल के साथ गुजरना—यह सब एक ऐसा कल्पनाप्रवण दृश्य था कि कभी-कभी तो सांस ही थम जाती थी, और यह सब बेहद खूबसूरत था—एक अति प्राचीन और समृद्ध सभ्यता की ऐसी प्रखर अभिव्यक्ति जो मार्क्सवाद से पुनः ऊर्जस्वित होकर एकबारगी एक नये जीवन के रूप में फूट पड़ी थी।

उसी शाम वह प्रांगण आतिशबाजियों की झड़ी के बीच एक बार फिर दस लाख से भी ज्यादा लोगों से भर उठा, जो लगातार रात भर नाचते रहे, खुशियां मनाते रहे, और बीथोवन की कोरल सिम्फनी की इन्सानी भाइचारे की पैगामभरी स्वरलहरी के उत्कर्ष का साक्षात जीवन्त रूप बनते रहे।

दर्शकों में, राष्ट्रीय नेताओं और दुनिया के सभी भागों से आये विदेशी दर्शकों के साथ, माओ त्से-तुङ भी थे।

मुझे उन्हीं के शब्दों में उपसंहार करने दें :

''यह प्रक्रिया दुनिया को बदलने का यह व्यवहार, जो वैज्ञानिक ज्ञान के अनुसार निर्धारित है, अब इस दुनिया में और चीन में अपनी एक ऐतिहासिक मुकाम पर, यानी मानव इतिहास के एक ऐसे बड़े मुकाम पर आ पहुंचा है जो इस दुनिया से और चीन से अंधकार को पूरी तरह से मिटा देने और दुनिया को एक ऐसे प्रकाश-लोक में तब्दील कर देने का मुकाम है जो पहले कभी नहीं रहा।''

निजी स्वार्थ से लड़ो

चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति के इस खास चरण में पूरे देश की जनता का आह्वान किया जा रहा है कि वह अपने निजी स्वार्थों से लड़े और संशोधनवाद को उखाड़ फेंके। इन दोनों धारणाओं के बीच क्या सम्बन्ध है? इनका एक समाजवादी समाज की रचना के सन्दर्भ में क्या अभिप्राय है?

ब्रिटेन जैसे एक बुर्जुआ समाज में—या ऐसे किसी भी देश में—मानव-व्यवहार की प्रमुख प्रेरणा निजी स्वार्थ ही है। ऐसे समाज में हरेक आदमी को बाकी के साथ—यहां तक कि अपने कामगार साथियों और पड़ोसियों के साथ भी—प्रतियोगिता करने में अपने निजी स्वार्थ हेतु लड़ना पड़ता है। और इस प्रतियोगिता को स्वाभाविक और प्रगति में सहायक भी माना जाता है। इसका सिद्धान्त यह है कि जब समाज के सभी व्यक्तियों में से हर कोई अपने-अपने निजी स्वार्थ और लाभ के पीछे लगा रहता है तो सबकी कार्यवाहियां मिलकर अपने आप ही कार्यवाहियों का एक ऐसा विराट योगफल बन जाती हैं जो समूचे समाज के लिए लाभदायक होता है।

जैसा कि एडम स्मिथ द *वेल्थ आफ नेशन्स* में बताते हैं, ''हम कसाई, शराब-भट्टी चलाने वाले और नानबाई की कृपा से अपने डिनर की उम्मीद नहीं करते, बल्कि उनकी अपनी स्वार्थ-सिद्धि के चलते उम्मीद करते हैं।

हम उनकी ओर उनकी मानवता के नाते नहीं बल्कि उनके निजी स्वार्थ-प्रेम के नाते मुखातिब होते हैं, और कभी भी अपनी जरूरतों के नाते नहीं, बल्कि उनके लाभों के नाते उनकी चर्चा करते हैं।''

चूंकि पूंजीवादी समाज का मुख्य उत्तोलक उसका निजी स्वार्थ ही है, इसलिए इसका मतलब यह हुआ कि इसे एक समाजवादी समाज द्वारा विस्थापित करने के लिए बुर्जुआ उपयोगितावादी आचार-शास्त्र वाली स्वार्थ पूजा से कुछ भिन्न प्रेरणा की दरकार होगी। क्या यह मान लेना तर्कसंगत होगा कि पूंजीवादी समाज का चरित्र-निर्धारण करने वाले उत्प्रेरण और प्रोत्साहन समाजवाद को जन्म दे सकते हैं?

परन्तु, ब्रिटेन जैसे देश के जनवादी समाजवादी, फैबियन और लेबर पार्टी के वर्तमान सिद्धान्तकार हरदम यही कहते आ रहे हैं कि ऐसा होना तर्कसंगत है। उनकी पूंजीवादी समाज की आलोचना, उसे संचालित करने वाली प्रेरणाओं को नकारने पर नहीं बल्कि प्रतियोगिता में समान अवसर के अभाव पर आधारित होती है। उनका तरीका स्वयं इस प्रतियोगिता पर ही सवाल उठाने के बजाय, हरदम इस सुधारात्मक कोशिश का ही होता है कि सबके लिए खुले रूप से अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल शर्तों का युक्ति-विधान किया जाये।

लेकिन पूंजीवादी समाज की मार्क्सवादी आलोचना इससे गहरे जाती है। सामाजिक प्रेरणा और उसके नतीजों के सामान्य मुद्दे पर मार्क्स ने दो बातें स्पष्ट कही हैं : 1. पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत जिन निजी स्वार्थगत कार्रवाइयों को एक कल्याणकारी सामाजिक-व्यवस्था लाने का हेतु माना जाता है, वे दरहकीकत व्यवस्थित शोषण को ही जन्म देती हैं। इस शोषण के शिकार स्वयं पूंजीवादी देश के मजदूर तो होते ही हैं, इससे भी अधिक शोषण के शिकार औपनिवेशिक क्षेत्रों के मजदूर और किसान होते हैं, क्योंकि उन पर विजय के साथ-साथ पूंजीवाद भी अनिवार्यत: अपना विस्तार करता जाता है; 2. यह शोषण बुर्जुआ वर्ग की प्रभुत्वशाली अवस्थिति पर आधारित है, जो उत्पादन के साधनों पर अपने नियंत्रण के जरिए हमेशा ही अपनी निजी शर्तें थोपने की स्थिति में रहता है—और वह भी सिर्फ अपनी आर्थिक सत्ता के जरिए ही नहीं, बल्कि उस समूचे राज्य-उपकरण के इस्तेमाल के जरिए भी, जिस पर इसी का नियंत्रण है। अत: यह उम्मीद करना एकदम ख्याली पुलाव पकाना है कि शोषण, वर्ग-सम्बन्धों में एक बुनियादी बदलाव लाये बगैर, यों ही खत्म हो सकता है, जब कि इस तरह का बदलाव ही सामाजिक प्रेरणा की एक सर्वथा भिन्न अवधारणा का आधार और आवश्यकता पैदा कर सकता है।

लेकिन तथाकथित मार्क्सवादियों तक में भी ऐसे लोग रहे हैं जो पूंजीवाद से समाजवाद में ठीक वैसे ही विशुद्ध यांत्रिक संक्रमण का विश्वास रखते रहे हैं जैसे पूंजीवाद के समर्थक निजी स्वार्थों के सार्वजनिक हित में विशुद्ध यांत्रिक संक्रमण का विश्वास रखते रहे हैं।

शुरुआती दौर के संशोधनवादी काउत्स्की ने मार्क्स की यह कहकर आलोचना की कि उन्होंने **दास कैपिटल** में नैतिक गर्मजोशी दिखाई थी, जिसके विरोध में उसकी दलील यह थी कि नीतिशास्त्रीय सोच-विचार का वैज्ञानिक समाजवाद में कोई स्थान नहीं है; कि पूंजीवादी समाज के आर्थिक अन्तरविरोध तो स्वयमेव ही एक ऐसा संकट ला देंगे कि उसका समाधान समाजवाद में ही हो सकेगा। तब तो इस कहने का मतलब यह था कि शोषण के शिकार लोगों को महज चुपचाप बैठे रहने और यह इन्तजार भर करते रहने की जरूरत थी कि कब ऐसा होगा।

क्रान्तिकारी मानवतावाद

लेनिन ने इस प्रकार की चिन्तन-धारा के पूर्णत: गैर-मार्क्सवादी चरित्र को बेनकाब किया और स्पष्ट किया कि क्रान्तिकारी सामाजिक बदलाव को तिलांजलि दे देना वस्तुत: बुर्जुआ वर्ग के हितों की ही सेवा करना होगा। इसके विपरीत, क्रान्तिकारी सिद्धान्त के मार्गदर्शन में और क्रान्तिकारी नैतिकता से अनुप्राणित हो कर चलने वाला क्रान्तिकारी आन्दोलन ही समाज को इस रूप में रूपान्तरित करने में समर्थ हो सकता है कि शोषण का खात्मा हो सके। और यह क्रान्तिकारी नैतिकता सर्वहारा नैतिकता ही हो सकती है (जैसा कि चीन में मौजूद है) क्योंकि केवल मजदूर वर्ग ही ऐसी क्रान्ति कर सकता है।

लेकिन आज भी, स्वयं लेनिन के ही देश में, वर्तमान सोवियत नेतृत्व उसी पुरानी संशोधनवादी गलती की ओर बहक गया है जिसका कारण उसका यह मान लेना ही है कि समाजवादी, अर्थात सर्वहारा नैतिकता के बगैर भी एक समाजवादी समाज बनाया जा सकता है। इसी के चलते वहां का नेतृत्व गैर-बुर्जुआ सामाजिक उपलब्धियां हासिल करने के लिए बुर्जुआ प्रोत्साहन देने की कोशिश कर रहा है, और यह मानकर चल रहा है कि अर्थव्यवस्था की दुरुस्ती तो अपनेआप ही अच्छा समाज पैदा कर सकती है। इसीलिए चीनी नेतृत्व, लेनिन का अनुसरण करते हुए, भौतिक लाभों के जरिए लोगों को घूस देने की इस नीति को 'अर्थवाद' कहता है। चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति में आलोचना के मुख्य निशानों में से एक निशाना सामाजिक प्रेरणा के लिए की जा रही यह कोशिश ही है।

सोवियत संघ में सामाजिक विकास के इन हाल के अनुभवों ने सिर्फ इतना भर ही प्रदर्शित किया है कि उत्पादन के साधनों पर काबिज निजी स्वामियों का स्वत्वहरण करके समाज के आर्थिक आधार को बदल देने से समाजवाद की सिर्फ बुनियादी संभावना भर पैदा होती है। लेकिन बुर्जुआ विचारों की आदतों, बुर्जुआ प्रेरणा, और समूचे बुर्जुआ दृष्टिकोण से विचारधारात्मक स्तर पर अभी भी लड़ने और उन्हें शिकस्त देने की जरूरत होती है ताकि समाजवादी मनुष्य का प्रादुर्भाव हो सके। अपने निजी स्वार्थ से ही नहीं बल्कि और को प्राथमिकता देने, और अपने निजी भौतिक लाभ के लिए नहीं बल्कि समाज के हित में काम करने के समाजवादी संवेग से प्रेरित समाजवादी मनुष्य के बगैर, समाजवादी व्यवस्था सुदृढ़ नहीं हो सकती।

चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति इसी बात को लेकर चल रही है। यह बुर्जुआ सोच और कार्रवाई के पुराने स्वार्थपूर्ण रूपों को बेपर्द करने और खत्म करने तथा उनकी जगह पर सोच और कार्रवाई के सर्वहारा, यानी गैर-निजी रूपों को स्थापित करने के काम में लगी हुई है। यह कोई युटोपियाई, भाववादी या नीतिशास्त्रीय आन्दोलन नहीं है, कारण कि सोच और कार्रवाई के इन नये तौर तरीकों का समाजवादी आर्थिक आधार तो पहले ही तैयार हो चुका है।

सांस्कृतिक क्रान्ति इस प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ उक्ति का समाजवादी प्रत्युत्तर है कि 'आप मानव-स्वभाव को नहीं बदल सकते'। चीन में, माओ त्से-तुङ विचारधारा के मार्गदर्शन में, और साथ ही पूरे देश की तसवीर बदल रहे प्रचण्ड भौतिक परिवर्तनों के चलते, स्वयं मानव-स्वभाव भी बदलता जा रहा है। बेशक ऐसा बदलाव रातोरात नहीं हो सकता। एक निजी स्वार्थ पर आधारित और दूसरी जनता की सेवा पर आधारित, इन दो वर्ग-विचारधाराओं के बीच संघर्ष 'लम्बे समय तक और पेंचदार ढंग से चलता रहेगा तथा समय-समय पर बहुत तीखा भी होता रहेगा।'

यही माओ के महान अवदानों में से एक है जो दृढ़तापूर्वक किसी भी ऐसी कोशिश को खारिज करता है जो मार्क्सवाद को एक ऐसे यांत्रिक सूत्र में तब्दील करना चाहती है जिसमें मानवीय मूल्यों और आकांक्षाओं की कोई गुंजाइश न हो। अन्तरविरोध के बारे में जैसी कृतियों में आर्थिक मूलाधार और विचारधारात्मक अधिरचना की द्वंद्वात्मक अन्त:क्रिया की बात बताते हुए उन्होंने स्पष्ट दिखा दिया है कि एक ऐसा मुकाम आता ही है जब अधिरचना, जिसमें नीतिशास्त्र और संस्कृति शामिल हैं, समाजवादी आर्थिक मूलाधार के और विकास में बाधा बन जाती है। इसीलिए एक सांस्कृतिक क्रान्ति के जरिए इस बाधा को पार करना अनिवार्य तौर पर समाज का एक प्रमुख सरोकार बन जाता है। उदाहरण के लिए, यदि एक कम्यून में, कोई किसान, पुराने विचारों से चिपके रहकर, सिर्फ यही सोचता रहे कि अपने निजी खेत को कैसे अधिक

उपजाऊ बना ले और कैसे एक और सुअर रख ले, तो वह पूरे समुदाय को और अन्ततोगत्वा अपने आपको भी अवरुद्ध ही करता रहेगा।

माओ पूंजीवाद के समर्थकों और मार्क्सवाद के संशोधनकर्ताओं के विरुद्ध, जिस बात की जोरदार ढंग से हिमायत करते हैं वह मानवतावाद की भूमिका ही है जो सामाजिक विकास में अदा की जानी है—लेकिन यह उदार मानवतावाद नहीं है जो यह मानकर चलता है कि हरेक सवाल के दो पक्ष होते हैं, बल्कि यह *क्रान्तिकारी* मानवतवावाद है जो उत्पीड़ितों के पक्ष में खड़ा होकर, हमारे समय की महान ऐतिहासिक घटनाओं का स्वरूप निर्धारित कर रहा है। जहां कुछ लोग इस भ्रम में हैं कि गरीब देशों के आर्थिक विकास के लिए बाहर से भौतिक सहायता जरूरी है, वहीं माओ हमें बताते हैं कि देश की सम्पदा तो उसकी जनता होती है जो, एक बार साम्राज्यवादी प्रभुत्व के चंगुल से मुक्ति पा लेने के बाद, स्वयं अपनी गरीबी का अन्त कर सकती है। जहां कुछ लोग इस भयादोहन के भी शिकार हो सकते हैं—यह जानकर—कि आज दुनिया में परमाणु बमों की विनाशक शक्ति एक प्रमुख शक्ति बन चुकी है, वहीं माओ यह बताते हैं (और वियतनामी जनता इसे साबित कर रही है) कि मनुष्य हथियारों से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण हैं और कि सबसे अधिक हथियारबन्द हमलावरों के खिलाफ जनता द्वारा छेड़े गये युद्धों में नैतिकता ही निर्णायक कारक बनती है।

आज चीन में, समाजवाद के निर्माण की प्रक्रिया में, एक चरण के रूप में, हम जो कुछ देख रहे हैं वह समाजवादी मनुष्य के विकास का चरण है जो निजी स्वार्थ से नहीं, बल्कि औरों के हित से प्रेरित है, चाहे वे उसी देश के वासी हों या पूरी दुनिया के लाखों-करोड़ों लोग हों, जिन्हें शोषण और उत्पीड़न से मुक्त होना है। यही सच्चा अर्थ है माओ के इन शब्दों का : निजी स्वार्थ से लड़ो और संशोधनवाद को उखाड़ फेंको।

अनुवाद : **विश्वनाथ मिश्र**

कविता

ब ह स

बहस
हर चीज को लेकर हो सकती है
दूर-दूर तक सब कहीं जा सकती है
बड़ी-से-बड़ी चीज से लेकर छोटी-से-छोटी चीज तक
ला सकती है खींच कर किसी को
उठा कर आकाश में पहुंचा सकती है
उतार कर पाताल में ले जाकर गाड़ सकती है
उतार सकती है किसी के कपड़े
उछाल सकती है टोपी किसी की
कीचड़ ही कीचड़ के छींटे किसी के भी ऊपर

बहस
देश में, विदेश में, अन्तरिक्ष में, उड़नतश्तरियों तक
किसी और ग्रह पर मानव के अस्तित्व तक जा सकती है
बहस
अणु-बम, मिसाइल बनाने को लेकर उछल सकती है
ग़रीबी, कुपोषण, निरक्षरता, पिछड़ेपन को लेकर
यौन-शिक्षा को, अंग-प्रदर्शन को
अविवाहित मातृत्व, विवाहेतर सम्बन्धों के प्रश्न को लेकर हो सकती है

बहस
आबादी के विस्फोट को लेकर
राजनीति और अपराध के गठजोड़ को
माफिया गिरोह को लेकर
बहस काले धन के अर्थशास्त्र पर हाय-हाय मचाती
लोकतंत्र से राष्ट्रपति-प्रणाली तक जा सकती है
बन सकती है—बोफोर्स कम्पनी की तोप
छूटती हुई तन सकती किसी के खिलाफ
और जब चाहे डूब सकती पनडुब्बी की तरह
आप चाहें तो बिना आपत्ति के
छेड़ सकते हैं—ऐसी कोई बहस
कि धड़ाधड़ गिरें गुंबज
कि हिल उठे धरती, फटने लगे आकाश
कि खून के लिए प्यासा हो उठे खून
कत्लगाह की खच-खच मच उठे
कि धू-धू कर उठें लपटें
देश की धरती श्मशान की धरती में बदलते हुए
ऐसा भी कर सकते हैं
कि विश्व-बैंक, आई.एम.एफ.,
बहुराष्ट्रीय के पंजे को ले कर
आसमान को सिर पर उठा ले बहस

सबसे अच्छी, लम्बे समय तक चल सकती है
आतंकवाद के खतरों पर बहस
माथे पर बल, होठों पर संकल्प लिये
छाती ठोंक-ठोंक कर पैंतरे दिखाती
राष्ट्रीय भावना को गुदगुदाती हुई बहस

जाति को, नस्ल को, रंग को, भाषा को
हर चीज को लेकर हो सकती है बहस
दूर-दूर तक सब कहीं जा सकती है, संसद के पीछे
हरगिज नहीं जा सकती—
दक्ष प्रजापतियों के कक्ष तक :
फिक्की और एसोचेम तक
नहीं जा सकती बहस
यह सारा प्रहसन—यह सारी त्रासदी
उसी की डोर से हो रही :
जो हिल रहे हैं, चल रहे हैं, उछल रहे हैं
दौड़ रहे हैं, उड़ रहे हैं, गिर रहे हैं
आ रहे हैं, जा रहे हैं —
राष्ट्राध्यक्ष उसी से नौकरशाह, न्यायमूर्ति
सेनाध्यक्ष उसी से ही उसी की नाप से अखबार भी तो
खबर के पर कतर रहे हैं
— इस बात को हरगिज़-हरगिज़ छू भी नहीं सकती बहस

लाठियां उसी के लिए तो पड़ रही हैं फट रही है अश्रु-गैस
गरज-गरज कर, जुलूसों पर, सभाओं पर
गोलियां उसी के लिए तो दग रही हैं
सारे हाहाकार उसी के लिए
उसी के लिए तो
इस असीम भूख पर
चूं भी नहीं कर सकती बहस!

● **सुधांशु कुमार मालवीय**

आपकी बहुविध आवश्यकताओं का समाधान
अब एक ही स्थान पर

सिग्मा एनिमेशंस प्रा. लि.

इंजीनियरिंग प्रोजेक्ट • मल्टीमीडिया प्रेज़ेंटेशन
इंटरनेट • एडवर्टाइज़िंग • प्री-प्रेस आर्टवर्क
पब्लिशिंग • कारपोरेट ट्रेनिंग

जैसे विविध क्षेत्रों में परामर्श और सेवा के लिए सम्पर्क करें।

एच.आई.जी. 78, सेक्टर-ई, अलीगंज, लखनऊ, फोन : 325651, ई-मेल - **sigma@w1.vsnl.net.in**

RAJ EYE HOSPITAL

WISH YOU GOOD HEALTH

✆ Hosp. & Resi (551) 322348
331148

Dr. Anil Kumar Srivastava
डा. अनिल कुमार श्रीवास्तव
एम.एस. (नेत्र)
विशेषज्ञ : इण्ट्रा-ऑकुलर लेंस इम्प्लाण्टेशन
रजि. नं. 30710 (यू.पी.)

RAJ EYE HOSPITAL
राज नेत्र चिकित्सालय

नसीराबाद, गोरखपुर
झंकार सिनेमा से 50 कदम पश्चिम

समय दोपहर 11 बजे से 2 बजे तक
(By appointment)
बन्द शुक्रवार व शनिवार

सुविधाएं

◆ कम्प्यूटराइज्ड नेत्र परीक्षण व रिकार्ड्स कीपिंग ◆ स्कविट ग्लूकोमा मैनेजमेण्ट
◆ फेको सर्जरी व फोल्डेबल (साफ्टलेंस) ◆ लेसर सर्जरी ◆ इण्ट्रा ऑकुलर लेंस इम्प्लाण्टेशन
◆ मायोपिया सर्जरी (RK) ◆ कॉण्टेक्ट लेंस फिटिंग, आदि

दायित्वबोध

हिन्दी में अपने ढंग की अकेली पत्रिका

जिसका हर अंक संग्रहणीय है

पिछले अंकों में प्रकाशित कुछ बेहद महत्वपूर्ण सामग्री

वर्ष 3 अंक 1-2
नवम्बर'95- फरवरी'96

साम्राज्यवाद आज भी कागजी बाघ है (भूमंडलीकृत पूंजीवाद के चरित्र और उसके अन्तर्निहित संकट का विस्तृत विश्लेषण) ● *लेनिन का ऐतिहासिक लेख :* सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थनीति और राजनीति ● *माओ त्से-तुङ का लेख :* **जनवादी केन्द्रीयता का सवाल ● शिखर पर रुदन : आत्मविश्लेषण और आत्म आलोचना से आत्म-भर्त्सना तक पश्चिम की विचारयात्रा ● आइजेंस्ताइन और 'पूंजी' पर फिल्म बनाने की योजना ● माओ** और **सुरजीत पातर** की कविताएं

वर्ष 3 अंक 3-4-5
मार्च-अगस्त 1996

रेमण्ड लोट्टा का महत्वपूर्ण लेख : **माओवादी नियोजन का सिद्धान्त और व्यवहार : एक स्वप्नदर्शी और व्यावहारिक समाजवाद के पक्ष में ● भाषा, इतिहास और वर्ग संघर्ष ● आज के दौर में नारीवादी लेखन : कुछ अहम सवाल, कुछ बुनियादी समस्याएं ●** *हावर्ड फास्ट के विश्वविख्यात उपन्यास* **'दि अमेरिकन'** के अंश **● साम्राज्यवाद की अपरिवर्तनीय प्रकृति**

वर्ष 3 अंक 6
सितम्बर-अक्टूबर 1998

मार्क्स और पर्यावरण ● क्रान्ति का विज्ञान ● विज्ञान, कला और अधिरचना—*एमिल बर्न्स* ● ताचाई की कहानी ● कम्प्यूटर एवं पूंजीवाद : प्रौद्योगिकी का त्रासद दुरुपयोग ● 'जनवाद' का विभ्रम और सर्वहारा अधिनायकत्व

वर्ष 4 अंक 1-2
नवम्बर'96-फरवरी'97

समाजवाद के सिद्धान्त और प्रयोग, समस्याओं और चुनौतियों पर *विशेष सामग्री*

माओ के अमर अवदान और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की युगान्तरकारी शिक्षाएं ● स्तालिन : एक मूल्यांकन ● स्तालिन के समय में सोवियत समाजवाद ● रूसी क्रान्ति का मूलभूत अभिप्राय—*रोजा लक्ज़ेमबर्ग* ● सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति क्या, क्यों और किस प्रकार ● सोलहसूत्रीय सर्कुलर ● सांस्कृतिक क्रान्ति के सैद्धान्तिक आधार के बारे में—*जार्ज थामसन* ● कला में विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु और यथार्थवाद पर मार्क्स-एंगेल्स ● पाब्लो नेरुदा और माओ त्से-तुङ की कविताएं

वर्ष 4 अंक 3-4
मार्च-जून 1997

मजदूर आन्दोलन पर कुछ सवाल ● पेरिस कम्यून की महान शिक्षाएं ● सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय अमर रहे ● मुक्त बाजार की नारकीय गुलामी भोगती स्त्रियां ● सूचना क्रान्ति का सच ● भाषा की साम्प्रदायिकता और आतंकवाद

वर्ष 4 अंक 5-6
जुलाई-अक्टूबर 1997

एक ऐतिहासिक विश्वासघात और उसके बाद की अंधकारमय अर्द्धशताब्दी ● *रेमण्ड लोट्टा का लेख :* **माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य ●** *चाङ चुन-चियाओ का ऐतिहासिक लेख:* **बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में ●** *सेर्गेई आइजेंस्ताइन का विचारोत्तेजक लेख :* **कला का मनोविज्ञान ● मार्क्सवाद के विरोध में "नव" दक्षिणपंथी लोकरंजकतावाद के नये-नये मिथक**

वर्ष 5 अंक 1-2
नवम्बर '97-फरवरी '98

ब्रेष्ट की अट्ठाइस कविताएं व ब्रेष्ट पर मोहन थपलियाल का लेख ● बेहतर है, विकल्प की बात करें ● गैर सरकारी स्वयंसेवी संगठनों और दाता एजेंसियों का असली चरित्र ● मदर टेरेसा और उनके उत्तराधिकारियों का "मिशन" : सेवा का सच ● हॉब्सबॉम की शताब्दी समीक्षा ● महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज ● माओ त्से-तुङ की कविताएं

वर्ष 5 अंक 3-4
मार्च-जून 1998

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांगेस में प्रस्तुत रिपोर्ट ● 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' की 150वीं वर्षगांठ पर विशेष लेख ● ग्राम्शी का लेख 'बुद्धिजीवी' ● भगतसिंह की जेल नोटबुक पर दो लेख ● पूंजीवाद की पूंजीवादी समालोचना के निहितार्थ ● मदर टेरेसा : मिथक और यथार्थ ● शशि प्रकाश की पच्चीस कविताएं

पत्रिका के पुराने अंकों के लिए लिखें :

प्रसार व्यवस्थापक
दायित्वबोध
3/274, विश्वास खण्ड,
गोमतीनगर,
लखनऊ-226010

प्रत्येक अंक का मूल्य : पन्द्रह रुपए

नया वर्ष
नयी उम्मीदों,
नयी तैयारियों,
नयी शुरुआतों के नाम,
पराजय की घड़ी में भी
विजय के स्वप्नों के नाम
लगातार लड़ते रहने की
ज़िद के नाम
संकल्पों के नाम
जीवन, संघर्ष और सृजन के
नाम

निराशा, पस्तहिम्मती, अनिश्चय और अविवेक के कुहासेभरे इस माहौल में अपने अपनों को आशा, उत्साह और जीवन को बेहतर बनाने के प्रण से भरे पैग़ाम भेजिए

प्रगतिशील, जनपक्षधर पत्र-पत्रिकाओं और प्रकाशनों, जनता के वैकल्पिक मीडिया को सहयोग करने के लिए *प्रांजल* के *सुन्दर, सुरुचिपूर्ण* और *सोद्देश्य* नववर्ष कार्ड खरीदिए

ब्रेष्ट, लोर्का, नाज़िम हिकमत, मयाकोव्स्की, निराला, फैज़, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, अली सरदार जाफरी, सर्वेश्वर, शशि प्रकाश, जोस दि दियागो, वेणुगोपाल, शंकर गुहा नियोगी आदि की कविताओं और कलात्मक चित्रांकनों से सज्जित स्क्रीन प्रिंटिंग तथा आफसेट से छपे बहुरंगी आकर्षक कार्ड

सम्पर्क करें :

● प्रांजल स्क्रीन प्रिंटर्स एंड डिज़ाइनर्स, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226010 ✆ 393896
● जनचेतना स्टाल, काफी हाउस के पास, हजरतगंज, लखनऊ ● जनचेतना, जाफरा बाजार, गोरखपुर ● संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, गोरखपुर-273001
● सत्यम वर्मा, यूनीवार्ता, 9, रफी मार्ग, नई दिल्ली ✆ 3719417

कार्डों के मूल्य 4, 5, 6, 8 व 10 रुपए तक हैं

अक्टूबर क्रान्ति की 81वीं वर्षगांठ पर

राहुल फाउण्डेशन की नई प्रस्तुति

अक्टूबर क्रान्ति और लेनिन

सोवियत समाजवादी क्रान्ति की तैयारी से लेकर
बाद के दौर तक वहां उपस्थित रहकर
युगान्तरकारी घटनाओं के साक्षी रहे अमरीकी पत्रकार
एल्बर्ट रीस विलियम्स की दो दुर्लभ कृतियां —
'रूसी क्रान्ति के दौरान'
तथा 'लेनिन : व्यक्तित्व और कार्य'
एक ही जिल्द में हिन्दी पाठकों के लिए विशेष
रूप से; साथ ही रीस विलियम्स का परिचय

एल्बर्ट रीस विलियम्स की कृतियां क्रान्तिकारी दौर की घटनाओं में उनके असली नायक—आम जनसमुदाय के कारनामों और सोच को सामने लाती हैं तथा लेनिन के मानवीय, जीवन्त और प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का प्रामाणिक प्रभावी चित्र प्रस्तुत करती है, जिनके साथ उन्हें लम्बे समय तक रहने का अवसर मिला था।

मूल्य : 75 रु. (पेपरबैक) 150 रु. (सजिल्द)

राहुल फाउण्डेशन की अन्य पुस्तकें

दायित्वबोध पुस्तिका श्रृंखला

अनश्वर हैं सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएं	— *दीपायन बोस*	रु. 8.00
समाजवाद की समस्याएं, पूंजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति	— *शशि प्रकाश*	रु. 12.00
क्यों माओवाद	— *शशि प्रकाश*	रु. 10.00

बिगुल पुस्तिका श्रृंखला

कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढांचा	— *लेनिन*	रु. 5.00
मकड़ा और मक्खी	— *विल्हेल्म लिब्कनेख्त*	रु. 2.00
ट्रेड यूनियन काम के जनवादी तरीके	— *सर्जी रोस्तोवस्की*	रु. 2.00

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त

खण्ड-एक

(दि शंघाई टेक्स्टबुक ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी)

मूल्य : 60 रुपये (पेपरबैक) 125 रुपये (सजिल्द)

दूसरा भाग शीघ्र प्रकाश्य

परिकल्पना प्रकाशन की बेहतरीन किताबें

दुर्ग द्वार पर दस्तक
• *कात्यायनी*
स्त्री के त्रासद वर्तमान और मुक्ति स्वप्नों से भावनात्मक सरोकार रखने वाले लोगों और संघर्ष के कार्यक्रम पर व्यावहारिक ढंग से सोचने वाले लोगों के लिए एक जरूरी किताब
मूल्य : 50 रु. (पेपरबैक) 120 रु. (सजिल्द)
(दूसरा संशोधित संस्करण)

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट : इकहत्तर कविताएं और तीस छोटी कहानियां
(ब्रेष्ट के दुर्लभ चित्रों व कैरिकेचर्स से सज्जित)
मूल जर्मन से अनुवाद : *मोहन थपलियाल*
मूल्य : 60 रु. (पेपरबैक) 125 रु. (सजिल्द)
(दूसरा संशोधित संस्करण)

लहू है कि तब भी गाता है
• *पाश*
(पाश के सभी संग्रहों से चयनित प्रतिनिधि कविताओं का संकलन)
सं. *चमनलाल एवं कात्यायनी*
मूल्य : 75 रु. (पेपरबैक) 150 रु. (सजिल्द)

विचारों की सान पर
भगतसिंह और उनके साथियों के चुने हुए दस्तावेज़, पत्र और वक्तव्य
सं. *सत्यम वर्मा*
मूल्य : 20 रु.

क्रान्ति का विज्ञान
• *लेनी वुल्फ*
मूल्य : 10 रुपये
(दूसरा संशोधित संस्करण)

आगामी प्रकाशन

शहीदेआज़म की जेल नोटबुक
मूल्य : 100 रु. (पेपरबैक) 225 रु. (सजिल्द)

अब इंसाफ होने वाला है
नाइंसाफी के खिलाफ उर्दू की यादगार कहानियों का प्रतिनिधि संकलन
सं. *शकील सिद्दीकी*

परिकल्पना की दो नई प्रस्तुतियां

माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य
रेमण्ड लोट्टा के दो महत्वपूर्ण लम्बे लेखों का संकलन
सं. *विश्वनाथ मिश्र*
पृष्ठ 104
मूल्य : 25 रु. (पेपरबैक) 50 रु. (सजिल्द)

समर तो शेष है...
इप्टा के दौर से आज तक के प्रतिनिधि क्रान्तिकारी समूहगान
पृष्ठ 144
मूल्य : 35 रु. (पेपरबैक) 75 रु. (सजिल्द)

राहुल फाउण्डेशन एवं परिकल्पना प्रकाशन की पुस्तकों के मुख्य वितरक :
जनचेतना, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010
✆ (0522) 393896
(व्यक्तिगत प्रतियों के लिए रु. 12 रजिस्ट्री शुल्क जोड़कर ड्राफ्ट या एम.ओ. भेजें)